CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ও·३ V2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परम आदरणीय स्वामी विमलानन्द
जी के चरणों मे सादर समर्पित
उदय नारायण तिवा
१५. १. ८३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिनव भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग

उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट्०
अवकाश-प्राप्त प्रोफ़ेसर
[हिन्दी तथा भाषाविज्ञान]

किताब महल, इलाहाबाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रथम संस्करण : १९८२-१९८३

वितरक :

१. किताब महल (हो० डि०) प्राइवेट लिमिटेड,
५६-ए, जीरोरोड, इलाहाबाद—३

२. किताब महल, डिस्ट्रीब्यूटर्स,
२८, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली—2

३. किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ, पटना

४. किताब महल,
मनोज बिल्डिंग, सेण्ट्रल बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर

मूल्य : सोलह रुपये

प्रकाशक : किताब महल, 15, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद
मुद्रक : अनुपम प्रेस, ६ चक, इलाहाबाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समर्पण

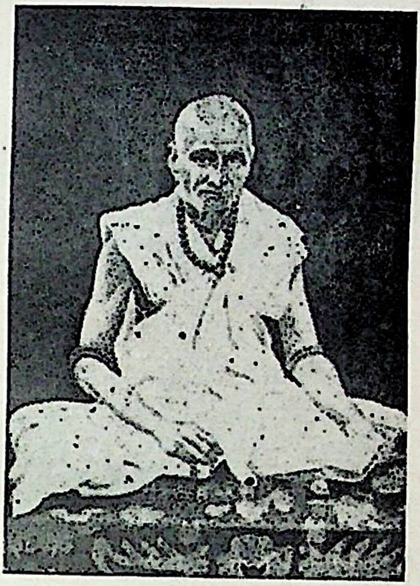

मेरे परिवार को अक्षय जीवन-स्रोत से
सिञ्चित करने वाले,
परम पूजनीय,
पुराण, व्याकरण एवं तन्त्रशास्त्र के विद्वान्
परम शैव,
स्वर्गीय पण्डित शिवपूजन तिवारी (बाबू जी) की पवित्र स्मृति में श्रद्धासहित
समर्पित—

यस्य प्रसाद लवसौरभसन्निकर्षाद्
दीप्तं यशो मम कुलस्य बुधेन्द्रगोष्ठ्याम् ।
वाग्वस्तु पुस्तकमिदं शिवपूजनस्य
स्मृत्यै नमोऽस्तु किल तस्य समर्पयेऽहम् ॥

उदयनारायण तिवारी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समर्पण

मेरे परिवार को अक्षय जीवन-स्रोत से
सिक्त करने वाले,
परम पूजनीय,
पुराण, व्याकरण एवं तन्त्रशास्त्र के विद्वान्
परम शैव,
स्वर्गीय पण्डित शिवपूजन तिवारी (बाबू जी) की पवित्र स्मृति में श्रद्धासहित समर्पित—

यस्य प्रसाद लवसौरभसन्निकर्षाद्
दीप्तं यशो मम कुलस्य बुधेन्द्रगोष्ठ्याम् ।
वाग्वस्तु पुस्तकमिदं शिवपूजनस्य
स्मृत्यै नमोऽस्तु किल तस्य समर्पयेऽहम् ॥

उदयनारायण तिवारी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru-Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दो शब्द

मैं भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन से गत बावन वर्षों से जुड़ा हुआ हूँ। इस अवधि में भाषाविज्ञान के प्रचार-प्रसार एवं अध्ययन-अध्यापन में जो मोड़ आये हैं, उन्हें मैं भूमिका के रूप में, यहाँ दे रहा हूँ।

बात सन् १९३१-३३ की है। उस समय मैं, गुरुवर डॉ० बाबूराम सक्सेना के निर्देशन में अपनी मातृभाषा भोजपुरी का, अध्ययन कर रहा था। चूंकि भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का सूत्रपात, स्वन-विज्ञान (=ध्वनिविज्ञान) से हुआ था, अतः इस विषय की अंग्रेजी की कई पुस्तकें मुझे पढ़नी पड़ीं। इनमें अंग्रेजी स्वनों के सम्बन्ध में विचार किया गया था और इनके अनेक उदाहरण दिये गये थे। इनके सहारे, मैंने शनैः-शनैः भोजपुरी स्वनों से परिचय प्राप्त किया। इसके बाद मैंने अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की स्वन (=ध्वनि) लिपि का अभ्यास किया तथा भोजपुरी के विश्लेषण-कार्य को आगे बढ़ाया।

ऊपर के व्यावहारिक कार्य के साथ-साथ, भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, मैंने अंग्रेजी की अनेक पुस्तकों का अध्ययन एवं मनन किया, किन्तु न तो मेरी जिज्ञासा शान्त हुई और न मुझे सन्तोष हुआ। मुझे यह तो ज्ञात हो गया था कि भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र-विन्दु स्वनविज्ञान (ध्वनिविज्ञान) है, किन्तु ध्वनि एवं अर्थपरिवर्तन के जो कारण इन पुस्तकों में दिये गये थे, उनका आधार मनोवैज्ञानिक एवं आत्म-नैष्ठिक था। भाषा के उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त का जब मैंने अवलोकन किया तो वह नितान्त भ्रामक लगा। इसके जनक, मैक्समूलर ने सम्भावना एवं कल्पना के आधार पर इसे सैद्धान्तिक रूप दिया था। उन्हें स्वयं इस सिद्धान्त में विश्वास न था।

इसीप्रकार भाषा के रूपात्मक वर्गीकरण का आधार हेगेल का त्रिक् सिद्धान्त—थीसिस, एण्टीथीसिस तथा सिन्थेसिस था। इसका कोई अपना भाषिक आधार न था।

सन् १९३२-३४ में मेरे पास भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री एकत्र हो गई थी। मैंने इसे डॉ० सक्सेना को दिखाया तो उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—अच्छा तो है, इसके आधार पर हिन्दी में एक पुस्तक लिख डालो। किन्तु मैं पुस्तक लिखने का साहस न बटोर सका, क्योंकि जिस विषय को मैं स्वयं भली-भाँति समझ न पाया था, उस पर पुस्तक लिखना मुझे उचित न जँचा। मनुष्य को सबसे अधिक अपने प्रति सच्चा होना चाहिए।

सन् १९४० ई० में अपने भाषाविज्ञान के ज्ञान को परिष्कृत करने के लिये मैं कलकत्ते चला गया तथा वहाँ भाषाविज्ञान विभाग में एम० ए० का नियमित छात्र बन गया। वहाँ के दो प्राध्यापक—डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी एवं डॉ० सुकुमार सेन—मेरे पथ-प्रदर्शक बने।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कलकत्ते में भाषा के अध्ययन-अध्यापन की सुन्दर व्यवस्था थी। यहाँ भार के साथ-साथ, ग्रीक, अवेस्ता, पुरानी फारसी, वैदिक संस्कृत, पालि-प्राकृत का अध्य सुचारुरूप से सम्पन्न होता था। वहाँ के एक प्राध्यापक, जो संस्कृत व्याकरण के पंडित थे, प्रायः कहा करते थे—जिसने मात्र संस्कृत व्याकरण पढ़ा, उसे वास्तवि उपलब्ध नहीं हुआ; संस्कृत व्याकरण का रसानन्द तो तब प्राप्त होता है जब व्याकरण के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय।

ग्रीक के अध्यापन में डॉ० चटर्जी अप्रतिम थे। वे होमर-कृत 'इलियड' के रिक्त विविध ग्रीक बोलियों (डाइलेक्ट्स) एवं शिलालेखी ग्रीक के भी शीर्षस्थ थे। उन्होंने ग्रीक भाषा एवं व्याकरण का अध्ययन प्रो० मनमोहन घोष (श्री अ घोष के ज्येष्ठ भ्राता) के तत्त्वावधान में किया था। डॉ० चटर्जी बहुभाषाविद् अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, पु फारसी, वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिब्रू तथा अरबी के भी पंडि उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से इन भाषाओं का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया था।

डॉ० चटर्जी अहंकार-शून्य व्यक्ति थे तथा अपने योरोपीय गुरुजनों—ग्रि टॉम्स. डेनियल जोन्स, ज्यूलब्लाश, अन्तोनेमेइये—की प्रशंसा करते समय आत्म-वि हो जाते थे। किसी अधिनिबन्ध (थीसिस) की आलोचना करने के बजाय वे वाएँ पर उसका पूरा संशोधन कर देते थे।

डॉ० चटर्जी दिवंगत हो गये, किन्तु भगवत्कृपा से उनके योग्य शिष्य कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान के भूतपूर्व खैरा प्रोफेसर, डॉ० सुकुमार आज भी हम लोगों के बीच वर्तमान हैं। डॉ० सेन भारोपीय के अतिरिक्त वैदिक संस्कृ अवेस्ता, पुरानी फारसी, पालि, प्राकृत (जिसमें शिलालेखों की प्राकृत भी सम्मि है), सिद्धों की भाषा, ब्रजबुली एवं प्राचीन बंगला के ज्ञान के साकार विग्रह हैं। गुरु गम्भीर व्यक्ति हैं। अधिनिबन्ध का परीक्षण करते समय आप छोटी-मोटी त्रुटियों ओर भी ध्यान आकर्षित करने से नहीं चूकते। डॉ० सेन रुग्ण तथा वृद्ध होते हुए भी बँगला भाषा के अनुसन्धान में पूर्ववत् संलग्न हैं। विश्वविद्यालय के वातावर परिवर्तन हो जाने के कारण, आज कलकत्ते में डॉ० सेन से कोई प्रेरणा ग्रहण करने नहीं है।

सन् १९४२-४३ ई० में, मैं कलकत्ते से प्रयाग आ गया और सन् १९४४ ई० मेरी नियुक्ति इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में, हिन्दी विभाग में, हो गई। यहाँ हिन्दी वि के अध्यक्ष स्वर्गीय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी के माध्यम से भाषाविज्ञान के अध्याप भार मुझे सौंपा। यद्यपि काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में, कुछ दिनों पूर्व, भाषाविज्ञा अध्ययन का कार्य डॉ० श्यामसुन्दर दास ने आरम्भ किया था, किन्तु इसे उत्कर्ष पहुँचाने का कार्य डॉ० बाबूराम सक्सेना एवं डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने किया। इन दोनों वि ने उत्तरी भारत के हिन्दी-क्षेत्र में भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन को विशेष गति

डॉ० वर्मा बहुत गुरु गम्भीर व्यक्ति थे। वह बातें कम तथा कार्य अधिक थे। भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन को सम्पुष्ट करने के लिये, आपने इस विज्ञान भीष्मपितामह डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के शिष्य डॉ० हरदेव बाहरी की नियुक्ति इलाहा यूनिवर्सिटी में की। इनके निर्देशन में, कई मौलिक शोध-प्रबन्ध, हिन्दी-वि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में, प्रस्तुत किये गये। सम्प्रति डॉ० बाहरी हिन्दी एवं उसकी के बोलियों के कोश-प्रणयन में तत्परता से संलग्न हैं।

सन् १९४८-५३ तक मेरे भाषाविज्ञान के अध्यापन का एक मात्र आधार, तारापुरवाला की कृति थी। इसके पूर्व कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'टकर' की भाषा-विज्ञान की पुस्तक, छात्र पढ़ा करते थे। उसका हिन्दी अनुवाद डॉ० श्यामसुन्दर दास तथा पं० पद्मनारायणाचार्य ने इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित कराया था; किन्तु सन् १९४० ई० में मैं जब अपने अध्ययन के सिलसिले में कलकत्ते पहुँचा तो यह पुस्तक पुरानी मानी जाने लगी थी। प्रयाग में अध्यापन करते समय, मैंने ब्लूमफील्ड, सापिर तथा स्त्रुतवाँ की कृतियों का अवलोकन एवं मनन किया। इनमें वर्णनात्मक भाषाविज्ञान एवं स्वनिम (ध्वनिग्राम = फोनीम) का उल्लेख तो मिला, किन्तु न तो इन्हें मैं ग्रहण कर पाया और न इनके सम्बन्ध में मेरी धारणा ही स्पष्ट हो सकी।

द्वितीय विश्व महायुद्ध के बाद यूरप तथा अमेरिका में अभिनव भाषाविज्ञान की चर्चा आरम्भ हो गई थी। इस अभिनव भाषाविज्ञान के उदय के मूल में, फर्डिनेण्ड डी० सस्युर के फ्रेंच में लिखित, भाषा तथा भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में मौलिक विचार थे। इन विचारों से सर्वप्रथम प्राहा-विचारधारा (स्कूल) के भाषाविज्ञानी प्रभावित हुए जिनमें दो रूसी विद्वानों—प्रिंस त्रुवेस्काय एवं रोमन याकोब्सन—के नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् १९५३-५४ के पूर्व भारत में न तो अभिनव भाषाविज्ञान की चर्चा थी और न इसके वैज्ञानिक पक्ष पर ही बल दिया जाता था।

भाषा एवं भाषाविज्ञान के अध्ययन की इस त्रुटि की ओर, इसके विद्वान् डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे का ध्यान गया। वास्तव में आधुनिक युग में भाषाविज्ञान को प्रगति देने में, जिन विद्वानों ने योगदान दिया है, उनमें डॉ० कत्रे का स्थान सर्वोच्च है। सन् १९५३ ई० के मई मास में, उन्होंने भारत के विविध राज्यों के कुछ चुने हुए भाषाविज्ञानियों एवं शिक्षा-विशारदों की सभा, पुणे के डेकेन कालेज में बुलायी। इसका सभापतित्व लन्दन विश्वविद्यालय के प्राच्य एवं अफ्रीकी विभाग के अध्यक्ष एवं संचालक, डॉ० राल्फ लिली टर्नर ने किया था और इसके व्यय का भार अमेरिका के रॉकफेलर फाउण्डेशन ने वहन किया था। हिन्दी-क्षेत्र से डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद एवं डॉ० हरदेव बाहरी के साथ मुझे भी इस सभा में सम्मिलित होने का अवसर मिला था।

इस सभा में, भाषाविज्ञान के अध्ययन को प्रगति देने के लिए कई प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे जिनमें से एक यह भी था कि भारतीय विश्वविद्यालयों के युवक प्राध्यापकों एवं छात्र-छात्राओं को भाषाविज्ञान की अधुनातन प्रणालियों से परिचित कराया जाय। डॉ० कत्रे के उद्योग से रॉकफेलर फाउण्डेशन ने इस कार्य के लिए भारत की लिंग्विस्टिक सोसाइटी को पुष्कल धनराशि भी प्रदान किया था। भाषाविज्ञान के विद्वान् एवं प्रेमी, रॉकफेलर की इस उदारता के लिए सदैव कृतज्ञ एवं ऋणी रहेंगे। इस धनराशि से सन् १९५४ से सन् १९५९ तक पुणे के डेकेन कालेज तथा भारत के अन्य स्थानों में भाषाविज्ञान के ग्रीष्म एवं शरत् कालीन अध्ययन-अध्यापन सत्र चलते रहे। इन सत्रों में प्रशिक्षण का भार यूरोप, अमेरिका तथा भारत के कतिपय चुने हुए भाषाविदों पर था। अमेरिका से जो भाषाविज्ञानी यहाँ अध्यापन के लिए आये थे, उनमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ० फेयर बैंक्स, डॉ० ग्लीसन, डॉ० ह्वेनिग्स वाल्ड, डॉ० एमेन्यू, डॉ० गुम्पर्ज, डॉ० फर्ग्युसन, डॉ० विलियम ब्राइट, डॉ० डीमक, लन्दन के डॉ० टर्नर, बर्टन पेज तथा हालैण्ड की कुमारी डॉ० जोर्गेन्सन के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हीं सत्रों में सर्वप्रथम वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ था। इन सत्रों ने भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन का एक उच्च स्तर स्थापित किया तथा ऐसे वातावरण का निर्माण किया जिससे प्रेरणा प्राप्त करके विश्वविद्यालयों के बड़े-बूढ़े प्राध्यापक भी अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की कक्षाओं में उपस्थित होते थे। व्याख्यान की समाप्ति के पश्चात् आलोचना-प्रत्यालोचना भी कम नहीं होती थी।

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान भारत के लिये नया था। उसकी प्रणाली भी नवीन थी, अतएव आरम्भ में उसके प्रति शंकालु होना कोई अप्रत्याशित बात न थी। इसी वातावरण में सन् १९५६ के मई मास में, मुझे डेकेन कालेज में "हिन्दी भाषा के उद्गम और विकास" पर व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित किया गया। मैंने अवसर से लाभ उठाकर स्वयं डॉ० फेयर बैंक्स एवं डॉ० फर्ग्युसन की कक्षाओं में वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान का अध्ययन आरम्भ किया। कतिपय व्याख्यानों के श्रवण एवं मनन के पश्चात् मैंने अनुभव किया कि वर्णात्मक भाषाविज्ञान की प्रणाली में प्रकारान्तर से, वही तत्त्व वर्तमान हैं जो पाणिनि के माहेश्वर सूत्र के वर्णिम में विद्यमान हैं। वास्तव में स्वनिम (=ध्वनिग्राम) पाणिनि के वर्णिम ही हैं।

सन् १९५९-६० में, मुझे एक वर्ष के लिए भारत के ज्येष्ठ अनुसन्धित्सु (सीनियर रिसर्चर) के रूप में, अमेरिका में अध्ययन करने का सुअवसर मिला। इस प्रवास में, लगभग छह महीने, अमेरिका के पेन्सिलवैनिया विश्वविद्यालय में डॉ० जैलिगहैरिस एवं डॉ० ह्वेनिग्सवाल्ड का सत्संग प्राप्त हुआ और शेष समय, बर्कले स्थित, केलिफोर्निया में, डॉ० मेरीहास, डॉ० एमेन्यु, डॉ० गुम्पर्ज एवं डॉ० शिप्ले के साथ व्यतीत हुआ। इसी यात्रा में मुझे वाशिंगटन एवं न्यूयार्क में, अमेरिका की लिंग्विस्टिक सोसाइटी तथा साउथ एशिया की सभाओं में भी भाग लेने का अवसर मिला जहाँ प्राहा विचारधारा के विद्वान् रोमन याकोब्सन तथा अमेरिका के अन्य चोटी के भाषाविज्ञानियों के निबन्ध-पाठ एवं भाषाविज्ञान-विषयक वाद-विवाद सुनने का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। इस वर्ष अमेरिका में, भाषाविज्ञान का ग्रीष्मकालीन सत्र मिशिगन में हुआ था जहाँ फ्रांस के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डॉ० मार्तिने के व्याख्यानों में भी मैं उपस्थित रहा। इन सभी विद्वानों एवं सहयोगियों का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अमेरिका से भारत लौटने पर, मैं अपने पुराने स्थान, प्रयाग विश्वविद्यालय में आ गया। यहाँ मैं स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान पढ़ाने लगा। कक्षा में भाषण का माध्यम हिन्दी थी। अतएव मैं अपने भाषणों को धीरे-धीरे हिन्दी में रूपान्तरित करने लगा। इसी समय मेरे पी-एच० डी० के शोधछात्र डॉ० महावीरसरन जैन की यह राय हुई कि इन भाषणों को हिन्दी में प्रकाशित करा दिया जाय। इसी के परिणामस्वरूप सन् १९६३ ई० में, मैंने 'भाषाशास्त्र की रूपरेखा' का प्रणयन किया। इस पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ हैं, किन्तु अभी तक समयाभाव से, मैं उसका संशोधन नहीं कर पाया। फिर भी वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए एक पुस्तक प्रकाशित हो गयी जिसके लिए मैं डॉ० जैन का आभारी हूँ।

सन् १९६१ ई० में, मैं जबलपुर विश्वविद्यालय में, हिन्दी विभाग का आचार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एवं अध्यक्ष होकर चला गया। वहाँ भी निरन्तर भाषा एवं भाषाविज्ञान के चिन्तन का कार्य चलता रहा और अभिनव भाषाविज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री एकत्र हो गयी। इसे क्रम देने तथा सुधारने में, लगभग आठ-नौ वर्ष लग गये। उसी के परिणाम-स्वरूप इस 'अभिनव भाषाविज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग' का प्रणयन हुआ। कई वर्षों के बाद यह पुस्तक प्रकाशित हुई। हिन्दी में आज अनेक ऐसे युवक भाषाविज्ञानी हैं जो इस विषय पर पुस्तक लिखने में मुझसे अधिक सक्षम हैं। आशा है, इसकी त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी में नवीन पुस्तकें प्रकाशित होंगी।

अब यहाँ, दो शब्द, मुझे हिन्दी-क्षेत्र में भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन की प्रगति के सम्बन्ध में भी कहना है। हिन्दी-क्षेत्र में सबसे पहले भाषाविज्ञान के अध्ययन-के लिए के० एम० मुंशी विद्यापीठ की स्थापना आगरा में हुई। इसके प्रथम निदेशक स्वर्गीय डॉ० विश्वनाथ प्रसाद नियुक्त हुए थे। किन्तु संस्था की स्थापना के एक वर्ष बाद ही, वे दिल्ली में, पारिभाषिक शब्द-निर्माण आयोग के निदेशक होकर चले गये। इसके बाद इस विद्यापीठ की प्रगति कुछ रुक गयी। कुछ वर्षों तक यह हिन्दी पाठालोचन का केन्द्र बना तो उसके बाद यह लोक-साहित्य के अध्ययन का केन्द्र बन गया। किसी न किसी रूप में, यह परिचालित तो था, किन्तु जिस मूल उद्देश्य के लिए इसकी स्थापना हुई थी, वह उपलब्ध न हो सका। इधर कतिपय वर्षों से इसके निदेशक डॉ० विद्यानिवास मिश्र हैं। उनके तथा उनके सहायक डॉ० रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल के कुशल निर्देशन में यह विद्यापीठ भाषाविज्ञान का अच्छा कार्य कर रहा है। यहाँ भाषा-विषयक कई योजनाएँ भी चल रही हैं, जैसे—ब्रजभाषा-कोश का प्रणयन तथा 'प्रयोग-वार्षिकी' का प्रकाशन। इन सभी योजनाओं के परिणामस्वरूप भाषाविज्ञान के अध्ययन का वहाँ एक शुभ्र वातावरण निर्मित हो गया है। विद्यापीठ के अतिरिक्त आगरे में ही केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का मुख्य कार्यालय है। यहाँ पर डॉ० बालगोविन्द मिश्र एवं डॉ० अमरबहादुर सिंह तथा उनके अन्य सहयोगी भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन तथा हिन्दीतर भाषा-भाषियों के लिये शिक्षण-सामग्री तैयार करने में संलग्न हैं।

उधर दिल्ली विश्वविद्यालय में भी भाषाविज्ञान का सफल अध्ययन डॉ० रवीन्द्र श्रीवास्तव के तत्वावधान में चल रहा है। उत्तरप्रदेश में लखनऊ में भी भाषाविज्ञान के स्नातकोत्तर स्तर पर अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध है। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में भी भाषाविज्ञान का अध्यापन-कार्य, केवल स्नातकोत्तर स्तर तक है। इस विभाग को विकसित और विशाल बनाने की आवश्यकता है ताकि यह हिन्दी-क्षेत्र की आवश्यकता के अनुरूप कार्य कर सके। यह केन्द्र-शासित विश्वविद्यालय है, अतः इसे भाषाविज्ञान का एक प्रमुख केन्द्र होना चाहिए।

मध्यप्रदेश में, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में, डॉ० रमेशचन्द्र मेहरोत्रा की देखरेख में भाषाविज्ञान के लिए एक सुन्दर केन्द्र स्थापित हो गया है। यहाँ पर स्थानीय छत्तीसगढ़ी भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त आदिवासियों की भाषा का भी अध्ययन सम्पन्न हो रहा है। मध्यप्रदेश के, जबलपुर विश्वविद्यालय में, डॉ० महावीर सरन जैन के निर्देशन में कई छात्रों ने भाषाविज्ञान में, पी-एच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। इसी प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय में भी स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में भाषाविज्ञान के अध्यापन का प्रावधान है। उधर भोपाल में डॉ० हीरालाल शुक्ल भाषाविज्ञान के केन्द्र-निर्माण में संलग्न हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हरयाणा-स्थित कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में, आज से कई वर्ष पूर्व, डॉ० जगदेव सिंह ने भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के लिए एक स्नातक-केन्द्र की स्थापना की थी। डॉ० सिंह के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् सम्प्रति डॉ० देवीशंकर द्विवेदी इसके आचार्य एवं अध्यक्ष हैं। आपके कुशल निर्देशन में, इस क्षेत्र में, भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन का कार्य समुचित रूप से चल रहा है। प्राय: प्रत्येक वर्ष, यहाँ भाषाविज्ञान के उच्च अध्ययन के लिए सत्र का परिचालन होता है।

हिन्दी-क्षेत्र की विशालता को देखते हुए, यहाँ के इलाहाबाद, गोरखपुर, अवध, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड विश्यविद्यालयों में भी भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के प्रावधान की आवश्यकता है। अमेरिका के प्राय: सभी मुख्य विश्वविद्यालयों में नृविज्ञान एवं भाषाविज्ञान के विभाग हैं।

हिन्दी-क्षेत्र में चार ऐसे विद्वान् हैं जो भाषाविज्ञान के साथ-साथ साहित्य में भी अत्यन्त निपुण हैं। उनमें एक डॉ० विद्यानिवास मिश्र का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इस क्षेत्र के दूसरे विद्वान डॉ० नामवर सिंह हैं जो सम्प्रति जवाहरलाल नेहरू विश्व-विद्यालय में कार्यरत हैं। डॉ० नामवर सिंह की प्रथम नियुक्ति भाषाविज्ञान के अध्यापन के लिए काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई थी। उन्होंने पुणे के विविध सत्रों में उपस्थित रहकर भाषाविज्ञान का गहन ज्ञान प्राप्त किया था। इधर आप साहित्य के अध्ययन में संलग्न हैं। तीसरे विद्वान पटना के प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा हैं। आप भी भाषाविज्ञान एवं साहित्य में समान रूप से दक्ष हैं। सम्पूर्ण बिहार में, आप एक मात्र, इस प्रकार के विद्वान् हैं। इसीप्रकार के चौथे विद्वान् डॉ० भोलानाथ तिवारी हैं जिनके कार्यों का मूल्य एवं महत्व है।

अब द्वितीय खण्ड के विद्वान् लेखकों के सम्बन्ध में भी किंचित् निवेदन करना है। इन लेखकों में ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ, तीन श्रेणियों, के अनुसंधित्सु हैं। यह विभाजन मैंने वय के अनुसार किया है। इनमें से, इन लेखकों में, सबसे वृद्ध डॉ० जगदेव सिंह हैं जो रोहतक के दयानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति पद से अवकाश ग्रहणकर, वहीं निवास करते हैं। पुणे में जिस समय मैं सन् १९५६ ई०में "हिन्दी के उद्गम और विकास" पर व्याख्यान देने गया था, उस समय आप वहाँ अभिनव भाषाविज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त थे। बाद में सन् १९५९ ई० में इनसे अमेरिका के फिलाडेलफिया विश्वविद्यालय में भेंट हुई। आप, वहाँ, सपत्नीक रहते थे, अत: उनके साथ रहने में मुझे विशेष सुख-सुविधा मिली। ये द्वितीय खण्ड के सबसे ज्येष्ठ लेखक हैं। मध्यम विद्वानों में क्रमश: डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, डॉ० रवीन्द्र श्रीवास्तव, डॉ० महावीरसरन जैन एवं डॉ० रामलखन गुप्त का स्थान है। डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया का मेरा सम्बन्ध-सम्पर्क सन् १९५६ ई० में पुणे के ग्रीष्म-सत्र में हुआ था। सम्प्रति आप लालबहादुर शास्त्री प्रशास-निक एकेडमी, मसूरी में, भारतीय भाषाओं के प्रोफेसर हैं। डॉ० भाटिया ने भाषा-विज्ञान-विषयक कई पुस्तकों का प्रणयन किया है। डॉ० रवीन्द्र श्रीवास्तव आधु-निक भाषाविज्ञान के श्रेष्ठ अध्यापकों में से एक हैं। आप सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्या-लय के भाषाविज्ञान में आचार्य एवं अध्यक्ष हैं। डॉ० महावीरसरन जैन ने मेरे निर्दे-शन में, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से, हिन्दी में एम० ए० और पी-एच० डी० किया था। फिर आपने जबलपुर विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। अभिनव भाषाविज्ञान के अध्येताओं में आपका उच्च स्थान है। डॉ० रामलखन गुप्त, सम्प्रति तुलसी-स्नातक-विद्यालय, अनूपपुर के प्राचार्य हैं। उन्होंने डॉ० महावीरसरन जैन के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निदशन में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। डॉ० सुरेशकुमार वर्मा सम्प्रति मध्यप्रदेश के राजकीय स्नातक एवं स्नातकोत्तर कालेज में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। इनके पी-एच० डी० और डी० लिट्० के अधिनिबन्ध मेरे ही तत्त्वधान में सम्पन्न हुए थे। डी० लिट्० में डॉ० वर्मा के अध्ययन का विषय हिन्दी-अर्थान्तर था।

कनिष्ठ विद्वानों के अन्तर्गत डॉ० रामप्रकाश सक्सेना, डॉ० रामायण प्रसाद गर्ग एवं डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल आते हैं। इनसे डॉ० रामायण प्रसाद गर्ग एवं डॉ० त्रिभुवन नाथ शुक्ल दोनों ने डॉ० महावीरसरन जैन के निर्देशन में पी-एच० डी० की उपाधि-प्राप्त की हैं। डॉ० रामप्रसाद सक्सेना एकथ उदीयमान भाषावैज्ञानिक हैं। डॉ० राम-प्रसाद सक्सेना पचमढ़ी के भाषाविज्ञान के ग्रीष्म-सत्र में मेरे शिष्य थे। सम्प्रति आप नागपुर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के अध्यापन में संलग्न हैं।

द्वितीय खण्ड के सभी लेखकों के प्रति, मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इन विद्वान् लेखकों के लेखों से, द्वितीय खण्ड का महत्त्व बढ़ गया है। ये सभी मेरे भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन में, धर्म-दायाद हैं। इन सभी विद्वानों ने कृपापूर्वक अपने लेखों को द्वितीय खण्ड में प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की हैं।

अब एक शब्द हमें अभिनव भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में और निवेदन करना है। इसमें न तो मेरा कोई मौलिक चिन्तन है और न विशेष देन ही। भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष में भारत में न तो कोई विशेष चिन्तन हुआ है और न इस क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान ही। नवीन पद्धति से विविध भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन अवश्य सम्पन्न हुआ है। अभिनव भाषाविज्ञान में, मैंने जो कुछ भी सामग्री दी है, वह अंग्रेजी में लिखित भाषाविज्ञान की विविध पुस्तकों में प्राप्त हुई है। तत्सम, अर्द्ध-तत्सम एवं तद्भव विषयक लेख, केवल आधुनिक काल में, इस सम्बन्ध में, फैले हुए भ्रम के निवारण के लिए दिया गया है। डॉ० ग्रियर्सन एवं डॉ० चटर्जी दोनों अर्द्धतत्सम रूपों को स्वीकार करते हैं। यह भारतीय भाषाओं की विशेषता है। इस द्वितीय भाग में दो और निबन्ध हैं जिनका सम्बन्ध आधुनिक भाषाविज्ञान से नहीं है। ये हैं 'अर्थविज्ञान तथा अर्थतत्त्व' और 'कोशविज्ञान'। इन दोनों लेखों के इस पुस्तक में सम्मिलित करने का लोभ मैं संवरण न कर सका, क्योंकि इन दोनों की हमारे देश में अत्यधिक प्रतिष्ठा है।

मैं कई वर्षों के बाद, अभिनव भाषाविज्ञान को प्रेस में भेजने का साहस कर सका। निश्चितरूप से इसमें अनेक त्रुटियाँ होंगी। विद्वान् अध्येताओं से मेरी प्रार्थना है कि इन त्रुटियों के प्रति मेरा ध्यान आकृष्ट करें जिसमे मैं अगले संस्करण में इन्हें ठीक कर सकूँ।

अन्त में मैं अपने दो गुरुजनों, कलकत्ते के डॉ० सुकुमार सेन तथा प्रयाग के डॉ० बाबूराम सक्सेना एवं तीसरे अपने अभिभावक एवं अत्यन्त सन्निकट के व्यक्ति वयोवृद्ध हिन्दी-साहित्य-सेवी पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी (भैया साहब) को शिरसा प्रणाम करता हूँ। मैं सदैव इन तीनों की कृपा का आकांक्षी रहता हूँ तथा ये तीनों मेरी प्रेरणा के स्रोत हैं। मैं किताब महल के संचालकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों, विशेषरूप से श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, साहित्य-सलाहकार के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने तत्परता से इसका प्रकाशन किया है।

अलोपीबाग, प्रयाग; उदयनारायण तिवारी
अधिकमास, आश्विन, शुक्ल पक्ष, १४, संवत् २०३९
गांधी-जयन्ती, २ अक्तूबर, शनिवार, सन् १९८२ ई०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

१. भाषाविज्ञान १–११

भाषाविज्ञान के नामकरण की समस्या, परिभाषा तथा वैज्ञानिकता; विज्ञान के रूप में भाषाविज्ञान का स्थान; भाषाविज्ञान का वर्तमान स्वरूप; भाषाविज्ञान और उसका अन्य विषयों से संबन्ध; भाषाविज्ञान के अध्ययन के उपविभाग।

२. भाषाविज्ञान के अध्ययन का आधार १२–२५

भाषा; भाषा की परिभाषा; भाषा की व्यवस्थाएँ।

३. स्वनविज्ञान २६–६०

प्राचीन भारत में स्वनविज्ञान; आधुनिक युग में स्वनविज्ञान का महत्व; स्वनविज्ञान की परिभाषा; स्वनविज्ञानी का कार्य; भाषाविज्ञान तथा स्वनविज्ञान दो पृथक् विज्ञान हैं; वागिन्द्रियों द्वारा उत्पन्न स्वन; स्वनविज्ञान की सीमा; स्वनविज्ञान की शाखाएँ; वागिन्द्रिय; स्वन-उत्पादन में जिह्वा का स्थान; अक्षर; स्वनों का वर्गीकरण; खण्ड-स्वन; स्वर-स्वनों का वर्गीकरण; मानस्वर; गौण मानस्वर; व्यंजन स्वरों का वर्गीकरण; स्वन-गुण; दीर्घता; द्वित्व व्यंजन; दीर्घता तथा द्वित्व में अन्तर; बलाघात; सुर; अनुतान।

४. स्वनिमविज्ञान ६१–६९

स्वनिमविज्ञान; स्वनिम की आवश्यकता; स्वनिम की खोज तथा उपलब्धि का इतिहास; स्वनिम की परिभाषा; स्वनिम-निर्धारण के के सिद्धान्त; स्वनात्मक समानता का सिद्धान्त, पद्धति की एकरूपता का सिद्धान्त; मितव्ययिता का सिद्धान्त; स्वनिम के भेद; स्वनिम-विषयक अधुनातन विचार; स्वनिमों तथा उपस्वनों का अंकन।

५. रूपिमविज्ञान ७०–८०

रूपिम बनाम शब्द; रूपिम का सामान्य परिचय; रूपिमों का निर्धारण; सूत्र १; सूत्र २; सूत्र ३; सूत्र ४; सूत्र ५; सूत्र ६; रूपिम और शब्द; शब्द-कोटियाँ; व्याकरणिक कोटियाँ; रूपिमों तथा उपरूपों का अंकन; वाक्य-विज्ञान।

द्वितीय खण्ड

६. हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन ८१–९६

७. हिन्दी में रूपग्रामिक विश्लेषण की कुछ समस्याएँ ९७–१०६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८. भाषा-भूगोल १०७–१२५

बोली मानचित्रावली (डायलेक्ट एटलस) के निर्माण की पद्धति; मानचित्र के प्रकार; समभाषांश सीमारेखा; समभाषांश रेखा-समूह; भाषा-भूगोल का संक्षित विकास तथा इतिहास।

९. भाषिक आदान १२६–१३०

सम्मानगत प्रेरणा; आवश्यकताजन्य प्रेरणा; सांस्कृतिक आदान; आगत भाषिक रूपों के प्रकार; आगत अर्थपरिवृत्ति, आगत मिश्र शब्द; औच्चारणिक आदान।

१०. अंतस् तथा बहिस्तलीय संरचना का आधार १३१–१४२

११. संसार की भाषाओं का वर्गीकरण १४३–१४५

१२. तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव १४६–१४७

१३. बहुभाषिकता और हिन्दी-भाषा-समाज १४८–१५३

१४. लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण का संक्षिप्त इतिहास १५१–१५८

लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण के सम्बन्ध में कोपेनहेगेन सम्मेलन के विचार; देवनागरी में नवीन प्रतीकों का समावेश।

१५. लिप्यंतरण—सिद्धान्त तथा प्रयोग १५९-१६७

अनुवाद और लिप्यंतरण; प्रतिलेखन तथा लिप्यंतरण; लिप्यंतरण की आवश्यकता; संपूर्ण लिप्यंतरण; संम्पूर्ण लिप्यंतरण के लिए सिद्धान्त; रोमन लिपि तथा उसमें लिप्यंतरण; देवनागरी व उसमें भारतीय भाषाओं का लिप्यंतरण।

१६. अर्थविज्ञान १६८–१८६

अर्थतत्त्व-सम्बन्धी विचारणा; अर्थ का अर्थ; अर्थ-सम्प्रेषण; वस्तु-तत्त्व; प्रतीक; निर्देश; वक्ता और श्रोता की मानसिक प्रक्रिया; अर्थ-परिवर्तन के कारण; अर्थ की दिशाएँ।

१७ अर्थतत्त्व और कोशविज्ञान १८७-२१०

अर्थतत्त्व और कोशविज्ञान; शब्दार्थ-सम्बन्ध; पर्याय; पर्याय-विवेचन की प्रक्रिया; बहुअर्थकता; कोशविज्ञान; भूमिका; कोश की अध्ययन-पद्धतियाँ; कोश-प्रकार; कोशविज्ञान और अर्थतत्त्व; कोश-विज्ञान और व्याकरण; कोश—परम्परागत और आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि में।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रथम खण्ड

१. भाषाविज्ञान
२. भाषाविज्ञान के अध्ययन का आधार
३. स्वनविज्ञान
४. स्वनिकाविज्ञान
५. रूपिमविज्ञान
६. वाक्यविज्ञान

१

भाषाविज्ञान

१.१. भषाविज्ञान के नामकरण की समस्या

१.१.०. भाषाविज्ञान का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। सापेक्षिक दृष्टि से यह एक अभिनव विज्ञान है। सन् १८५६ ई० में प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान के विषय में कई भाषण दिये थे। बाद में इसमें किंचित् संशोधन करके आपने इन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। अपने प्रथम भाषण में ही मैक्स-मूलर ने इस विज्ञान के नामकरण की समस्या पर विचार किया है। अंग्रेजी में इस विज्ञान के कई नाम—वाङ्मीमांसा (=फिलालोजी), तुलनात्मक वाङ्मीमांसा (=कम्पैरेटिव फिलालोजी), व्युत्पत्तिविज्ञान (=साइन्टिफिक एटिमालोजी), स्वन-प्रक्रिया (=फोनालोजी), वाक्विज्ञान (=भाषाविज्ञान=ग्लासालोजी) तथा भाषा-विज्ञान (=सायन्स ऑव लैंग्वेज) प्रचलित हैं। मैक्समूलर के अनुसार इसका एक नाम वाणीविज्ञान (=लोगालोजी) भी हो सकता है, किन्तु ग्रीक भाषा के पंडितों के लिए यह कर्णकटु होगा। फ्रांस में लोग उसे 'लांगिस्तिक' (अंग्रेजी, लिग्विस्टिक्स) तथा जर्मनी में 'स्प्राख विशेनशैफ्ट' नाम से अभिहित करते हैं। मैक्समूलर को फ्रेंच नाम 'लांगिस्तिक' पसन्द नहीं है और उन्होंने इसे असंस्कृत अथवा बर्बर कहा है। अन्ततो-गत्वा आपने 'भाषाविज्ञान' (=सायन्स ऑव लैंग्वेज) नाम को ही पसन्द किया है और इसी पर अपनी मुहर लगायी है।

१.१.१. आज वस्तुस्थिति यह है कि इस विज्ञान के दो नाम ही सर्वाधिक प्रचलित हैं। ये हैं—फिलालोजी तथा लिग्विस्टिक्स। 'सायन्स ऑव लैंग्वेज' नाम अब धीरे-धीरे अप्रचलित हो चला है। ये दो बहुप्रचलित नाम भी ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस एवं अमेरिका में किंचित् भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। ब्रिटेन में आज भी 'फिलालोजी' का 'कम्पैरेटिव फिलालोजी' (तुलनात्मक वाङ्मीमांसा) के अर्थ में प्रयोग होता है तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक वाङ्मीमांसा (हिस्टारिकल फिलालोजी) का समावेश जाता है।

फ्रांस और जर्मनी में 'फिलालोजी' शब्द फिलालोजिए (Philologie) रू व्यवहृत होता है। जर्मनी में यह ग्रीक, लैटिन एवं इनके आधार पर प्राचीन संस्कृति अध्ययन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसे ब्रिटेन में 'कम्पैरेटिव फिलालोजी' (तुलना वाङ्मीमांसा) कहा जाता है, उसे जर्मनी में Vergleichende Sprachwisse schaf के नाम से अभिहित किया जाता है।

१.१.२. हिन्दी में सम्प्रति 'फिलालोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' के लिए एकमा शब्द 'भाषाविज्ञान' ही प्रचलित है। किन्तु सन् १९३९–१९४४ के द्वितीय विश्वयुद्ध पश्चात् भाषा के अध्ययन-क्षेत्र में जो प्रगति हुई है, उसके परिणामस्वरूप 'फिलालो तथा 'लिंग्विस्टिक्स' अध्ययन के दो अलग-अलग विषय बन गये हैं तथा ये दोनों भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। आज प्राचीन भाषाओं एवं संस्कृति के अध्ययन के लि 'फिलालोजी' तथा प्रचलित भाषा के विश्लेषण के लिए 'लिंग्विस्टिक्स' शब्दों का प्रयो हो रहा है। इस पुस्तक में 'फिलालोजी' के लिए 'वाङ्मीमांसा' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' लिए 'भाषाविज्ञान' शब्दों का प्रयोग किया गया है, क्योंकि भाषाविदों ने इन्हीं शब्द को मान्यता दी है।

१.१.३. द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व ज्ञान-विज्ञान एवं भाषा के अध्ययन का के यूरोप था, किन्तु इसके बाद इसमें परिवर्तन हुआ। अमेरिका तथा रूस ने जन एवं ध दोनों से हिटलर को पराजित करने में मित्र राष्ट्रों की सहायता की थी। अतएव रा नीति के साथ-साथ ये दोनों राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान एवं भाषा के अध्ययन में भी अग्र स्थान ग्रहण करने लगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, सर्वप्रथम, अमेरिका में भाषा अध्ययन-अध्यापन में अभूतपूर्व उन्नति हुई। यूरोप की आर्थिक विपन्नता ने भी इ अमेरिका की कम सहायता न की, क्योंकि धीरे-धीरे यहाँ के विद्वान् अमेरिका चले ग आज प्राहा स्कूल के संस्थापक प्रसिद्ध रूसी भाषाविद् रोमन याकोब्सन तो एक प्र से सदा के लिए अमेरिका में जा बसे हैं तथा फ्रांस के प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् मार्तिने वर्ष में छह महीने अमेरिका में ही रहते हैं। अमेरिका में भाषाविज्ञान के अध्ययन प्रगति का एक कारण वहाँ के आदिवासियों की भाषा एवं बोली का वैज्ञानिक अध्य भी है। चूंकि इससे वर्णनात्मक अध्ययन-पद्धति को विशेष बल मिला है, अतएव भा एवं बोली के अध्ययन के लिए आज यह पद्धति सर्वमान्य हो रही है।

१.१.४. भाषा तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन की परम्परा, यद्यपि अमेरिका अपेक्षा रूस में पुरानी है, तथापि अभिनव भाषाविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में वह रूस किंचित् बाद में आया। इसका मुख्य कारण यह था कि द्वितीय महासमर का विध्वंस प्रभाव रूस पर काफी मात्रा में पड़ा था और कई वर्ष तो उसे देश के पुनर्निर्माण में ल गए। सन् १९५८-६० से रूस तथा उसके सहयोगी अन्य साम्यवादी देश अभिनव भा विज्ञान के अध्ययन में प्रवृत्त हुए और कुछ वर्षों में ही ये इस क्षेत्र में भी अग्रणी हो ग आज ये देश भाषा तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन में अमेरिका से किसी प्रकार पी नहीं हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक बात यहाँ और उल्लेखनीय है। भौतिक समृद्धि तथा वैज्ञानिक उन्नति के कारण आज का मानव अतीत की अपेक्षा वर्तमान के सम्बन्ध में अधिक जागरूक है। सम्प्रति मनुष्य ने प्रकृति पर जो विजय प्राप्त की है, उसके कारण विश्व के विभिन्न भूभाग एक-दूसरे के अति निकट आ गए हैं। इसके साथ ही विदेशी भाषाओं को अल्प समय में सीखने की समस्या भी आज के मानव के सामने आयी है। सच बात तो यह है कि आज भाषा की समस्या केवल मुट्ठी भर राजनीतिज्ञों की समस्या न रहकर समग्र राष्ट्र की समस्या बन गई है।. आज भाषाविज्ञानियों से इस बात की आशा की जाती है कि वे अपने सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ भाषा-विषयक समस्याओं के सुलझाने में भी राष्ट्र एवं विश्व की सहायता करें। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि आज भाषातत्त्वविद्, वाङ्मयमीमांसा (=फिलालोजी) की अपेक्षा भाषाविज्ञान (=लिंग्विस्टिक्स) के अध्ययन में ही विशेष रूप से प्रवृत्त हैं। आज विश्व के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान का अध्ययन तीव्र गति से चल रहा है तथा इस विषय की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों का भी वहाँ प्रणयन हो रहा है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ब्रिटेन में 'फिलालोजी' एवं 'कम्पैरेटिव फिलालोजी' का प्रयोग आज भी प्रचलित है। इधर कतिपय भाषाविद् इस विज्ञान के लिए 'कम्पैरेटिव फिलालोजी' नाम अनुपयुक्त मानने लगे हैं। उनके अनुसार, यह नाम विविध भाषाओं के केवल समान तत्त्वों की तुलना पर ही विशेष बल देता है जो युक्तियुक्त नहीं है। वास्तव में वैज्ञानिक अध्ययन के लिए असमानता अथवा विभिन्नता भी, समानता की भाँति ही, महत्त्वपूर्ण है। इन सभी वाद-विवादों का परिणाम यह हुआ है कि अब इस विज्ञान का फ्रेंच नाम 'लिंग्विस्टिक्स' (=भाषाविज्ञान) ही सर्वत्र प्रचलित हो रहा है।

१.२.१. परिभाषा तथा वैज्ञानिकता

भाषाविज्ञान वह विज्ञान है जो मानव भाषा एवं बोलियों का उनकी आन्तरिक संरचना के आधार पर अध्ययन करता है तथा इसके परिणामस्वरूप भाषा-विषयक कतिपय ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तों का अनुसंधान करता है जो विश्व की सभी भाषाओं एवं बोलियों में समान रूप से लागू होते हैं। इसकी वैज्ञानिकता का आधार इसके अध्ययन की वस्तुनिष्ठता है। इसके इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अभी हाल तक जो लोग भाषा के अध्ययन में संलग्न थे, उनका दृष्टिकोण, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आत्मनिष्ठ था। यही कारण है कि ये लोग भाषाविज्ञान को विज्ञान एवं कला, दोनों मानते थे। किन्तु आज यह स्थिति नहीं है। आज भाषाविज्ञान को प्रमुख रूप से विज्ञान ही माना जाता है। इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जाता है।

१.२.२. विज्ञान के रुप में भाषाविज्ञान का स्थान

विज्ञान के रूप में भाषाविज्ञान के स्थान एवं स्वरूप के सम्बन्ध में लोगों में पर्याप्त भ्रम है। कुछ विद्वान् तो इसे किसी भी तरह विज्ञान की पंक्ति में स्थान देने के लिए तैयार ही नहीं हैं, किन्तु अन्य विद्वान् बहुत साहस करके इसे अर्द्धविज्ञान (स्युडो-सायन्स) कहने को तत्पर हैं। इस दूसरी कोटि के विद्वानों के अनुसार भाषाविज्ञान के सिद्धान्त उसी प्रकार से अकाट्य नहीं हैं जिस प्रकार गणित अथवा भौतिकविज्ञान के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। इस सम्बन्ध में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करने की आवश्यकता है कि जह तक सिद्धान्तों की अकाट्यता का प्रश्न है, इस विषय में हम केवल सापेक्षिक दृष्टि से ही विचार कर सकते हैं। सच बात तो यह है कि इस परिवर्तनशील विश्व में किसी भी विज्ञान के सिद्धान्त पूर्ण रूप से अकाट्य एवं स्थिर नहीं हैं। आज से कुछ वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, प्रकाश के सम्बन्ध में, न्यूटन के विचार मान्य थे, किन्तु नवीन आविष्कारों के प्रकाश में अब उन विचारों का कोई स्थान नहीं है; किन्तु इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि न्यूटन के युग का भौतिकविज्ञान, विज्ञान नहीं था। वास्तविक बात तो यह है कि ज्ञान अनन्त एवं असीम है तथा जब अभिनव आविष्कार के परिणाम-स्वरूप नूतन ज्ञान की उपलब्धि होती है तो पुरातन विचारों एवं सिद्धान्तों में संशोधन कर लिया जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि भाषाविज्ञान को विज्ञान मानना कहाँ तक समीचीन है। आज के भाषाविज्ञानी इसकी दो रूपों में व्याख्या करते हैं। इसकी एक व्याख्या तो यह है कि सामान्य रूप से भाषा तथा विशेष रूप से भाषाओं का अध्ययन सम्प्रति इतना अधिक व्यवस्थित हो चुका है कि इसके आधार पर सिद्धान्त निर्मित हो चुके हैं। इसकी दूसरी व्याख्या के लिए हमें आज के भाषातत्त्वविदों की प्रवृत्ति का अध्ययन करना पड़ेगा। आज वास्तविक स्थिति यह है कि बीसवीं शताब्दी के भाषाविज्ञानी इसे विज्ञान ही मानते हैं।

जो लोग भाषाविज्ञान को वास्तविक अर्थ में विज्ञान मानते हैं, उनका यह भी कथन है कि यह कथ्य एवं लिखित भाषा के निश्चित तथ्यों पर आधारित है तथा यह ऐसी विश्लेषण-प्रक्रिया का अनुगमन करता है जिसे स्थिर सिद्धान्तों के संदर्भ में प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में भाषाविज्ञानी भाषा-विषयक विविध प्रकार के तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें निश्चित एवं स्थिर नियमों में बाँधता है। भाषा-सामग्री की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया एवं तत्सम्बन्धी नियमों के निर्धारण में, भाषाविज्ञानी विज्ञान के निम्नलिखित तीन विशिष्ट नियमों का अनुसरण करता है—

(१) व्यापकता (वह सभी संगत एवं सम्बद्ध तथ्यों पर व्यापक एवं पूर्ण दृष्टि से विचार करता है।)

(२) स्थिरता (उसके द्वारा व्यक्त विचारों में पूर्ण रूप से स्थिरता होती है और उनमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं होता।)

(३) संक्षिप्तता (उसके द्वारा निर्मित नियम संक्षिप्त एवं सूत्र रूप में होते हैं।)

१.२.३. ऊपर के तथ्यों के प्रकाश में जब हम भाषाविज्ञान के सम्बन्धमें विचार करते हैं तो विज्ञानों में, इसके स्थान के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होती। यह स्पष्ट रूप से 'प्रयोगसिद्धविज्ञान' है, क्योंकि इसके तथ्य इन्द्रियानुभूत हैं। हम उच्चरित ध्वनियों को कान से सुनते हैं तथा मुखविवर के भीतर के उच्चारणोपयोगी स्थानों एवं उच्चारण में सहायक जिह्वा, दन्त आदि को प्रत्यक्ष एवं यंत्रों की सहायता से देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनि-यंत्रों की सहायता से हम उच्चरित ध्वनियों का सूक्ष्म एवं विज्ञानसम्मत विश्लेषण भी कर सकते हैं। प्रयोगसिद्ध विज्ञानों में भी भाषाविज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को सामाजिक विज्ञानों के अन्तर्गत ही रखना समीचीन है, क्योंकि इसके अध्ययन-विषयक तथ्यों का सम्बन्ध, प्रत्यक्ष रूप से, स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक एवं अपने सहयोगियों के संलाप-सम्बन्धी आचरण से है। इस तथ्य को हम यह कहकर अन्यथा नहीं कर सकते कि कभी-कभी भावातिरेक की स्थिति में मनुष्य अपने-आप से, पशुओं (खग-मृग) से अथवा निर्जीव वस्तुओं से भी संलाप करने लगता है। इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक् रह कर वह एकाकी रह नहीं सकता। जहाँ तक पारस्परिक संलाप का संबंध है, सामाजिक दृष्टि से इसके लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति आवश्यक हैं।

१.२.४. कतिपय विद्वानों के अनुसार भाषाविज्ञान को इसलिए विज्ञान की पंक्ति से बाहर रखना चाहिए कि इसकी आधारभूत भाषा को ग्रहण करते समय मानव अपनी अन्तर्दृष्टि अथवा अन्तःप्रेरणा से सहायता प्राप्त करता है। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति उसे उस समय होती है जब भाषा-सर्वेक्षण के समय, सूचक अपनी अन्तर्दृष्टि अथवा सहज-बोध के आधार पर भाषा के किसी उच्चारण अथवा रूप के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तथा उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा के उच्चारण, उसके वाक्यों के निर्माण एवं अर्थबोध की क्रिया में मानव की अन्तर्दृष्टि सहज रूप में सहायक होती है। किन्तु इस कारण ही हम भाषाविज्ञान को विज्ञान की परिधि के बाहर नहीं रख सकते। विज्ञान की चाहे जिस शाखा को हम लें, उसमें जो भी उन्नति हुई है, उसका एकमात्र कारण शोधकर्त्ता की अन्तःप्रेरणा होती है। इस सम्बन्ध में वास्तविक बात यह है कि वैज्ञानिक अनुसंधान में अन्तःप्रेरणा का योग आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु विश्लेषण की पद्धति एवं इष्ट की प्राप्ति अन्तःप्रेरणा के आधार पर नहीं होनी चाहिए। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर जब हम भाषाविज्ञानी की विश्लेषण-पद्धति एवं प्रक्रिया पर विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि शोध के समय भाषाविज्ञानी जो कुछ अपनी अन्तःप्रेरणा से प्राप्त करता है, वह उसकी व्यक्तिगत अनुभूति नहीं होती, अपितु उसके मार्ग का अनुसरण करने वाले अन्य शोधकर्त्ताओं की भी ठीक वही अनुभूति होती है। यह सत्य है कि अन्तःप्रेरणा व्यक्तिगत वस्तु है और विज्ञान की पद्धति सार्वजनिक एवं प्रयोगसिद्ध होती है, किन्तु भाषाविज्ञान के क्षेत्र में शोध-प्रयोग करने वालों की पद्धति भी प्रयोगसिद्ध होती है तथा उनकी अनुभूति भी व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होती है। इन सभी तथ्यों पर गहराई से विचार करने के उपरान्त भाषाविज्ञान को विज्ञान मानना ही समीचीन है।

१.२.५. आजकल विज्ञान एवं मानवशास्त्र (ह्यूमैनिटीज) दो प्रकार के सर्वथा भिन्न अध्ययन बन गए हैं, अतएव कुछ लोग स्वाभाविक रूप से यह तर्क कर सकते हैं कि चूँकि भाषाविज्ञान विज्ञान है, अतएव साहित्य से इसका विरोध आवश्यक है। जहाँ तक वास्तविक व्यवहार का प्रश्न है, यूरोप में भाषाविज्ञान एवं साहित्य के अनुगामियों में विरोध हुआ भी है। इसका कारण यह भी है कि यूरोप में पुनर्जागरण के उपरान्त साहित्य को भाषाविज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहन मिला था और उसकी परम्परा यूरोप में आज भी वही है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है, इस विषय में इसकी परम्परा यूरोप से सर्वथा भिन्न है; यहाँ ईसा के कई सौ वर्षों पूर्व, वैज्ञानिक रूप में, संस्कृत व्याकरण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उस समय से लेकर आज तक साहित्य एवं व्याकरण में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं हुआ। यहाँ साहित्य का प्रत्येक अध्येता साहित्य के अध्ययन के पूर्व व्याकरण का भी सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त करता है। यूरोप में भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आज साहित्य एवं भाषाविज्ञान के विद्वान् इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि वास्तव में इन दोनों में अन्तर्विरोध की अपेक्षा नैकट्य ही अधिक है और एक प्रकार से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। इस सम्बन्ध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि भाषाविज्ञान, विज्ञान एवं मानवशास्त्र दोनों के बीच का सेतु है। विज्ञान और भाषाविज्ञान में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि एक ओर जहाँ विज्ञान को अपनी परिभाषाओं को ठीक और स्थिर रूप देने के लिए भाषा की आवश्यकता पड़ती है, वहीं दूसरी ओर भाषाविज्ञान भाषा का प्रयोग तो करता ही है, इसके अतिरिक्त भाषा ही उसके अध्ययन का विषय है। इस प्रकार जैसा कि डेनमार्क के प्रसिद्ध भाषातत्त्वज्ञ हेमसेव ने कहा—"भाषा विज्ञान का स्थान विज्ञान एवं मानवशास्त्र के मध्य में है।"

१.३ भाषाविज्ञान का वर्तमान स्वरूप

१.३.०. चूँकि उन्नीसवीं शताब्दी के भाषाविज्ञानी तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन में अत्यधिक व्यस्त थे, अतएव वे भाषा के अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार करने से वंचित रह गए। उन्होंने न तो भाषा की आधारभूत संरचना के अध्ययन का प्रयत्न किया और न वे यही जान सके कि व्यवहार में भाषा किस रूप में कार्यरत रहती है।

१.३.१. भाषा की अपनी व्यवस्थाएँ हैं और इसका अध्ययन अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस तथ्य को सम्भवतः ये भाषाविज्ञानी जान न सके। इन्होंने भाषा के सम्बन्ध में जो भी विचार व्यक्त किये हैं, उनमें संरचनात्मक दृष्टिकोण का समावेश नहीं है। इन्होंने भाषा के व्याकरणिक एवं रूपगत ढाँचे का जो अध्ययन किया है, उसका मुख्य उद्देश्य भाषा के विकास-विषयक सिद्धान्तों को सूत्र में आबद्ध करना था।

१.३.२. पुरातन भाषाविज्ञानियों ने भाषा-संबंधी सामान्य सिद्धान्तों का जो भी निरूपण किया है, उनका आधार कुछ तो मनोवैज्ञानिक और कुछ समाजगत है। भाषा के रूपों की उन्होंने जो भी व्याख्या की है, वह ऐतिहासिक है तथा प्रयोगों की व्याख्या सामान्यतः मनोवैज्ञानिक है। इस द्वन्द्व का यह परिणाम हुआ है कि भाषा-विषयक तत्त्वों पर जो गम्भीर चिन्तन होना चाहिए था, उसका इनकी कृतियों में अभाव है। एक बात और भी है। पुरातन भाषाविज्ञानी शब्दों के निर्वचन (व्युत्पत्ति) में अत्यधिक रस लेते थे, क्योंकि यह अध्ययन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का आधार था। इस अध्ययन से उन्हें सामाजिक तथ्यों, सांस्कृतिक सम्पर्कों एवं भाषा के विकास का ज्ञान प्राप्त होता था।

उस युग में विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क-संबंध के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था तथा अन्य भाषाओं से आगत शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। भाषा-संबंधी परिवर्तनों की व्याख्या विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर की जाती थी और ये सिद्धान्त भी अधिकांशतः अनुमान पर आधारित थे। उस युग में भाषा की संरचना को स्वयंसिद्ध मान लिया जाता था और उसका अध्ययन तथा उसकी व्याख्या अनावश्यक मानी जाती थी। यही कारण है कि उस युग में भाषाविज्ञान वास्तविक विज्ञान के रूप में प्रगति-पथ पर अग्रसर न हो सका। विज्ञान की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सिद्धान्त स्पष्ट एवं तथ्यों पर आधारित हों।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१.३.३. अभिनव भाषाविज्ञान ने भाषा को एक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है तथा इसी के आधार पर उसने सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण किया है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर भाषाविज्ञानी भाषा का विश्लेषण करता है तथा अन्य सगोत्री विज्ञानों के साथ भाषाविज्ञान के संबंध का निर्धारण करता है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन से ही हम अभिनव भाषाविज्ञान के स्वरूप, उसके विस्तार एवं उसके उद्देश्यों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

१.४ भाषाविज्ञान और उसका अन्य विषयों से सम्बन्ध

भाषाविज्ञान का स्वरूप क्या है तथा भाषा-विषयक अन्य अध्ययनों से इसका क्या संबंध है, इस तथ्य का ज्ञान भी आवश्यक है।

१.४.०. **भाषाविज्ञान तथा बहुभाषाज्ञान**—कभी-कभी भाषाविज्ञान का संबंध बहुभाषाज्ञान से जोड़ा जाता है और यह मान लिया जाता है कि भाषाविज्ञानी वह है जो अनेक भाषाओं को धारावाहिक रूप में बोलने में सक्षम है। यह मान्यता नितान्त भ्रामक है। यह बात सही है कि अनेक भाषाओं का ज्ञान अपने-आप में महत्त्व-पूर्ण है, किन्तु इस ज्ञान का कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नहीं है। विभिन्न देशों में भ्रमण करने वाले नाविक एवं व्यापारी तथा तीर्थों के पुरोहित कई भाषाएँ बोल लेते हैं, किन्तु उन्हें भाषाविज्ञानी नहीं कहा जा सकता। भाषाविज्ञानी तथा बहुभाषाज्ञानी में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भाषाविज्ञानी को भाषा के सैद्धान्तिक पक्ष—भाषा की प्रकृति एवं संरचना—का विश्लेषणात्मक वस्तुनिष्ठ ज्ञान होता है, वहाँ बहुभाषाज्ञानी को इसका किंचित् ज्ञान नहीं होता। भाषाविज्ञानी को चाहे अनेक भाषाओं का ज्ञान हो और चाहे उसे एकमात्र अपनी मातृभाषा का ज्ञान हो, उसके लिए भाषा-विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान परमावश्यक है।

१.४.१. **भाषाविज्ञान तथा भाषण-कला**—बहुभाषाज्ञान की भाँति ही भाषा-विज्ञान न तो भाषण-कला है और न वाक्पटुता ही। प्राचीन काल में ग्रीस में भाषण-कला का अत्यधिक महत्त्व था। किसी युग में इंगलैंड में तथा आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व भारत में भी भाषण-कला का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। चूँकि भाषण-कला का माध्यम भाषा ही है जो भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र-विन्दु है, अतएव बहुत लोगों की यह धारणा बन गई कि भाषण-कला तथा भाषाविज्ञान, दोनों एक ही हैं। यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है।

१.४.२. **भाषाविज्ञान, साहित्यिक आलोचना तथा शैलीविज्ञान**—साहित्यिक आलोचना या साहित्य का मूल्यांकन तथा शैलीविज्ञान भी भाषाविज्ञान नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि भाषाविज्ञान के ज्ञान से साहित्य के रक्षात्मक बोध एवं शैली के विश्लेषणात्मक ज्ञान में सहायता मिलती है।

१.४.३. **भाषाविज्ञान तथा भाषा-शिक्षण**—आज वैज्ञानिक उन्नति के कारण समय एवं दूरी का प्रश्न बहुत कुछ हल हो चुका है और मनुष्य अल्प समय में ही विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा कर सकता है। इसके लिए मातृभाषा के अतिरिक्त उसे किसी-न-किसी विदेशी भाषा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। भाषा-विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष के ज्ञान से उसे इस कार्य में अत्यधिक सहायता मिलती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषाविज्ञान एवं वाङ्मीमांसा में अति निकट का संबंध है, किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अन्तर भी है। इस विषय में भाषाविज्ञान के नामकरण की समस्या के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

इसी प्रकार भाषा का विकास एवं शब्द-व्युत्पत्ति-विषयक ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन, यद्यपि भाषाविज्ञान का ही एक अंग है, तथापि यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कुछ लोग इसे मान बैठे हैं। भाषा के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन की एक विशेषता यह है कि इसके द्वारा पुरातन संस्कृति तथा प्राचीन जातियों के प्रव्रजन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है, किन्तु इससे भाषाविज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

१.४.४. भाषाविज्ञान तथा व्याकरण—भाषाविज्ञान तथा परम्परा से तर्कशास्त्र एवं मनोविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित व्याकरण में भी बहुत अन्तर है। सच बात तो यह है कि इन दोनों को एक समझ लेने से भाषाविज्ञान की प्रगति में बाधा ही उपस्थित हुई है।

वास्तव में भाषाविज्ञान एवं व्याकरण, दोनों, भाषा की प्रकृति एवं उसके प्रकार्य की व्याख्या करते हैं, किन्तु इस साम्य के अतिरिक्त दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। बात यह है कि परम्परा पर आधारित व्याकरण में परिनिष्ठित एवं बोलचाल की भाषा के अन्तर पर ध्यान ही नहीं दिया जाता और जहाँ ध्यान दिया भी जाता है, वहाँ परम्परा पर आधारित व्याकरण परिनिष्ठित भाषा को आधार मानकर ही भाषा के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत भाषावैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बोलचाल की भाषा मुख्य तथा परिनिष्ठित भाषा गौण होती है। इस अन्तर के परिणामस्वरूप कतिपय अन्य अन्तर भी प्रादुर्भूत होते हैं जो विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परम्परा पर आधारित व्याकरण शिष्ट प्रयोगों के आधार पर कतिपय ऐसे नियमों का निर्माण करता है जिसके द्वारा शुद्ध-अशुद्ध का निर्णय किया जाता है। इसके विपरीत भाषाविज्ञान किसी भाषा का वर्णनात्मक अध्यन प्रस्तुत करता है तथा प्रयोगों की बहुलता और न्यूनता के विषय में विचार व्यक्त करता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक भाषाविज्ञान का सम्बन्ध है, उसके सामने शुद्ध (साधु) तथा अशुद्ध (असाधु) भाषा का प्रश्न ही नहीं आता। हाँ, उसके समक्ष भाषा की शैली की भिन्नता का प्रश्न अवश्य रहता है।

किसी भाषा की संरचना के सम्बन्ध में विचार करते समय परम्परा पर आधारित व्याकरण के समक्ष कोई पूर्वनिर्धारित आदर्श या ढाँचा रहता है। यह ढाँचा प्रायः संस्कृत, ग्रीक एवं लैटिन जैसी प्राचीन भाषाओं का होता है और इन्हीं के आधार पर परम्परा पर आधारित व्याकरण किसी भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। किन्तु भाषाविज्ञानी का यह दृढ़ विश्वास है कि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के शरीर की संरचना या गठन में विशिष्टता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की भी अपनी संरचना होती है और इस संरचना के अनुसन्धान के बाद ही किसी भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। भाषाविज्ञानी के अनुसार, किसी भाषा की संरचना का अनुसन्धान भी एक निर्धारित समय का ही होना चाहिए और यह उस भाषा के पूर्व के इतिहास एवं रूप से निरपेक्ष होना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परम्परा पर आधारित व्याकरण के नियमों की सम्पुष्टि के लिए तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास तथा अन्य शास्त्रों से सहायता ली जाती है, किन्तु भाषाविज्ञानी केवल भाषा के प्रचलित प्रयोगों के आधार पर ही अपने नियमों का निर्माण करता है। इस प्रकार यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि परम्परा पर आधारित व्याकरण एवं भाषाविज्ञान, दोनों, दो छोरों पर स्थित हैं।

१.४.५. भाषाविज्ञान तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान—यहाँ भाषाविज्ञान अथवा अभिनव भाषाविज्ञान तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अन्तर को भी स्पष्टतया हृदयंगम करने की आवश्यकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। इस अध्ययन का आधार भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन था। इसका मुख्य उद्देश्य एक ओर जहाँ भाषा के प्राचीन रूप का ज्ञान प्राप्त करना था, वहाँ दूसरी ओर इसका एक उद्देश्य प्राचीन इतिहास तथा मानव के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना भी था। इस अध्ययन के द्वारा प्राचीन साहित्य का अध्ययन भी भलीभाँति सम्पन्न हुआ था। एक रूप में यह अध्ययन, भाषा के द्वारा, प्राचीन इतिहास एवं रीति-नीति का अध्ययन था।

इसके विपरीत आज भाषाविज्ञान का मुख्य उद्देश्य भाषा की संरचना की खोज कर भाषा-सम्बन्धी सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का निर्धारण करना है तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की तरह इसका उद्देश्य मनुष्य के विषय में किसी अन्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं है।

१.५. भाषाविज्ञान के अध्ययन के उपविभाग

१.५०. जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा का सामान्य अध्ययन किया जाता है। वर्तमान युग में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को कतिपय विभागों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है। इनमें मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं—

१. समकालिक या एककालिक
२. वर्णनात्मक
३. संरचनात्मक
४. ऐतिहासिक
५. तुलनात्मक

मोटे तौर पर उपर्युक्त सभी विभागों का समाहार 'समकालिक' तथा 'ऐतिहासिक' भाषाविज्ञान में हो जाता है, तथापि इन सभी की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

१.५.१. समकालिक, वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान—सिद्धान्ततः समकालिक या एककालिक, वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान के अध्ययन की विषय-वस्तु एवं प्रक्रिया में अन्तर नहीं है। किन्तु आज भाषाविज्ञान निरन्तर विस्तार पा रहा है जिससे भाषाविज्ञान के इन विभागों में भी यत्किंचित् अन्तर परिलक्षित होने लगा है। इसे आगे स्पष्ट किया जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१.५.२. वर्णनात्मक भाषाविज्ञान किसी समाज के वैयक्तिक तथा वर्गगत अन्तरों को छोड़कर उसकी भाषा की संरचना का वर्णन करता है, जबकि संमकालिक भाषाविज्ञान वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की विषय-वस्तु तथा अध्ययन-प्रक्रिया से संबंध रखता है। साथ ही अध्ययन की जा रही भाषा से सम्बद्ध समाज के वैयक्तिक तथा वर्गगत अन्तरों का भी विश्लेषण करता है। संमकालिक भाषाविज्ञान के अंग के रूप में 'भाषा-भौगोलिक' अध्ययन इन्हीं भाषिक अन्तरों का स्पष्ट संकेत देता है।

१.५.३. वर्णनात्मक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ एक ओर किसी भाषा या बोली की संरचना का वर्णन होता है, वहाँ दूसरी ओर संरचनात्मक भाषाविज्ञान में किसी भाषा या बोली के समकालिक या ऐतिहासिक रूप के वर्णन में उसकी संरचना का सूत्रवत् तथा सुसम्बद्ध स्वरूप निर्धारित किया जाता है। वस्तुतः सम्प्रति संरचनात्मक भाषाविज्ञान भाषा के अध्ययन का गणितीय स्वरूप प्राप्त कर रहा है। आज अमरीकी भाषाविज्ञानी किसी भाषा की संरचना को इस रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा कर रहे हैं कि उसका अनुवाद विश्व की किसी भी भाषा में किया जा सके।

१.५.४. यहाँ पुनः स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भाषाविज्ञान के उपर्युक्त तीनों अध्ययन-विभाग अन्योन्याश्रित तथा सुसम्बद्ध हैं। भाषा-अध्ययन की इन पद्धतियों का उद्भव और विकास भारत, ग्रीस एवं रोम में प्राचीन काल में हुआ था। थैक्स, डिस्कोलस तथा इरोडियन आदि ग्रीक वैयाकरणों ने ग्रीक भाषा का विवरणात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया था।

१.५.५. भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भारत ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व एक अद्भुत एवं चिरस्मरणीय दिशा की ओर मोड़ दिया। यह अध्ययन ग्रीक भाषाशास्त्रियों से सर्वथा मौलिक एवं भिन्न था। महर्षि पाणिनि ने भाषा का अध्ययन पूर्णतया वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत करके विश्व के भाषा-अध्ययन में अपना नाम अमर कर दिया। आधुनिक युग में आज भी पाणिनि के समकक्ष का कोई भी विवरणात्मक भाषा-अध्ययन नहीं रखा जा सकता। उन्हीं की पद्धति का अनुसरण आज अमरीका के भाषा-शास्त्री कर रहे हैं।

आधुनिक युग में वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान की अध्ययन-पद्धति का विकास वस्तुतः २०वीं शताब्दी के मध्य से हुआ है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में 'भाषा' की आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण इकाई 'स्वनिम' को मान्यता मिली। अमरीका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ब्लूमफील्ड की पुस्तक 'लैंग्वेज' (१९३२) के प्रकाशन से वर्णनात्मक भाषाविज्ञान अपनी यथार्थ विकास-दिशा की ओर उन्मुख हुआ जिसकी परिणति 'हैरिस' के विख्यात ग्रंथ 'मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स' में वर्णित संरचनात्मक भाषाविज्ञान में हुई।

१.५.६. **ऐतिहासिक या कालक्रमिक भाषाविज्ञान**—किसी भाषा की विभिन्न अवस्थाओं का जब हम कालक्रमानुसार अध्ययन करते हैं तो अध्ययन का यह स्वरूप ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत आता है। संसार में एकमात्र सत्य परिवर्तन है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो कि सर्वदा एकरूप रहे। भाषा के विषय में भी यही कहा जा सकता है। कालक्रमानुसार एक स्थान की भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन भाषा में निरन्तर होता रहता है, किन्तु भाषा में यह सतत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होने वाला परिवर्तन एक लम्बे समय के बाद ही जाना जा सकता है। भाषा के इस परिवर्तन को 'भाषा-विकास' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस विकासावस्था का वर्णन प्रस्तुत करना ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का विषय है।

१.५.७. तुलनात्मक भाषाविज्ञान—भाषाविज्ञान के अध्ययन के इस विभाग के अन्तर्गत दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इसी आधार पर भाषा-अध्ययन के इस विज्ञान को तुलनात्मक भाषाविज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। यह अध्ययन समकालिक एवं ऐतिहासिक भाषा-सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इस अध्ययन के आधार पर ही भाषाओं के बीच वंशानुगत अथवा पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसकी सहायता से ही ऐतिहासिक विकास की अनेक धूमिल एवं अस्पष्ट कड़ियों को स्पष्ट किया जा सकता है। बिना इसकी सहायता के ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करना संभव ही नहीं है।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२

भाषाविज्ञान के अध्ययन का आधार

२.१. भाषा

२.१.०. भाषा के सम्बन्ध में विस्तृत एवं संकीर्ण, दो दृष्टियों से, विचार किया जा सकता है। विस्तृत दृष्टि से भाषा जीवित प्राणी के संवेदनात्मक, भावात्मक एवं ऐच्छिक (=प्रावृत्तिक) अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए कायिक एवं वाचिक, दोनों प्रकार की इन्द्रियों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। कायिक संचालन द्वारा 'अंगविक्षेप भाषा' तथा 'वाक्' द्वारा 'वाग्भाषा' आविर्भूत होती है। अंगविक्षेप भाषा के अन्तर्गत ही विविध प्रकार के निम्न श्रेणी के पशुओं की अभिव्यक्ति की परिगणना की जा सकती है। किन्तु संकीर्ण दृष्टि से भाषा "यादृच्छिक वाक्-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" इस परिभाषा के अनुसार भाषा मानव-कंठ से उद्गीर्ण सार्थक ध्वनियों तक ही सीमित है और आज विश्व में कोई ऐसा मानव-समुदाय नहीं है जिसकी अपनी भाषा नहीं है।

२.१.१. भाषा की आधारभूत विशिष्टता उसकी प्रतीकात्मक संरचना है। मानव द्वारा प्रयुक्त भाषा की यह विशेषता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यही उसे पशुओं से पृथक् करती है। भाषा की यह प्रतीकात्मकता मनुष्य के अन्य कार्यकलापों की अपेक्षा इसलिए विशिष्ट है कि जहाँ मानव के विविध कार्यों में समवाय सम्बन्ध होता है, वहाँ भाषा की प्रतीकात्मकता में इसका सर्वथा अभाव होता है। भाषा की प्रतीकात्मकता में आवश्यक रूप से दो तत्त्व वर्तमान रहते हैं। इसके प्रतीक का तो एक रूप होता है, किन्तु उसके द्वारा द्योतित वस्तु का अन्य अर्थ एवं रूप। इस प्रकार भाषा के रूप एवं अर्थ में घनिष्ठ साहचर्य होता है। यह उसी प्रकार के कूट अर्थ की भाँति होता है जिस प्रकार कि सड़क की लाल एवं हरी बिजली की बत्ती अथवा रेल की लाल और हरी झंडी का होता है। इनमें लाल का अर्थ तो यह है कि आगे न बढ़ो, अपितु रुक जाओ, किन्तु हरे से यह तात्पर्य होता है कि रास्ता बिल्कुल खाली है, आगे बढ़े चलो।

२.१.२. जिस सामग्री से ये भाषिक प्रतीक उत्पन्न होते हैं, वे स्वन (=ध्वनि) होते हैं जो वागिन्द्रियों—स्वरयंत्र, मुख-विवर, जिह्वा, ओष्ठ एवं नासिका-रन्ध्र—से उत्पन्न होते हैं। साधारणतया भाषा, अन्य प्रकार की संचार-व्यवस्थाओं—अंगविक्षेप भाषा तथा मोर्सकोड (तार देने की टिक्-टिक्—ध्वनि-व्यवस्था) से इस बात में भिन्न है कि इसके स्वनों (=ध्वनियों) को कतिपय आधारभूत लघुतम इकाइयों में विश्लेषित किया जा सकता है और ये इकाइयाँ इतनी लचीली होती हैं कि इनके सफल सम्मिश्रण से, किसी भाषा में, अनेक ऐसी इकाइयों का निर्माण किया जा सकता है जिन्हें रूपिम (=मार्फीम=शब्द) नाम से अभिहित किया जाता है।

२.१.३. जब हम पक्षियों के कलरव तथा पशुओं के चिंघाड़-चीत्कार की तुलना मानव-भाषा से करते हैं तो इन दोनों में यह अन्तर स्पष्टतया ज्ञात होता है कि मानव-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषा सर्वथा यादृच्छिक है। वास्तव में मनुष्य जिन शब्दों को उच्चरित करता है, उनमें तथा उनके द्वारा द्योतित वस्तुओं में कोई समवाय सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, 'गाय' शब्द को लिया जा सकता है। इस शब्द में 'ग्+आ+य्+अ ध्वनि-प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, किन्तु इसके द्वारा द्योतित दूध देने वाली चार पैरों के पशु का इन ध्वनि-प्रतीकों से कोई सम्बन्ध होता तो विश्व की सभी भाषाओं में किसी वस्तु-विशेष का नाम एक ही होता। वास्तव में भाषा की यादृच्छिकता के कारण ऐसा नहीं हो पाता।

२.१.४. ऊपर के तथ्यों के अतिरिक्त भाषा में एक और विशेषता उपलब्ध होती है—वह यह है कि प्रत्येक भाषा में उच्चरित प्रतीकों की एक सुव्यवस्था होती है जो उसे वास्तविक रूप प्रदान करती है। यह व्यवस्था ही भाषाविज्ञान को सामाजिक विज्ञानों में वास्तविक विज्ञान के रूप में प्रतिस्थापित करती है। इस सुव्यवस्था का ही एक परिणाम है कि कोई भाषा, किसी मानव-समुदाय द्वारा, अभिव्यक्ति के लिए, सुदीर्घ काल तक प्रयुक्त होती है। यह सच है कि भाषा में सदैव परिवर्तन होता रहता है, किन्तु मनुष्य की परिवर्तित आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यह परमावश्यक है।

२.१.५. भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य भाषा की उत्पत्ति के विषय में है। भाषाविज्ञान के आरम्भिक युग में, भाषाविज्ञानी, भाषा की उत्पत्ति-विषयक प्रश्नों में बहुत रस लेते थे। मैक्समूलर ने अपने भाषाविज्ञान-विषयक भाषण में भाषा की उत्पत्ति के विषय में कई सिद्धान्तों का उल्लेख एवं खण्डन-मण्डन किया है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि आज भाषाविज्ञानी भाषा की समस्या को अव्याकृत प्रश्न मानता है और पेरिस की लिंग्विस्टिक सोसाइटी ने अठाहरवीं शती के अन्तिम चरण में यह नियम बना दिया था कि उसकी बैठकों में भाषा की उत्पत्ति के विषय में कोई निबन्ध नहीं पढ़ा जा सकेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि आज भाषा-विषयक इतने ज्वलन्त प्रश्न मनुष्य के सामने हैं कि उन्हें दृष्टि-पथ से ओझल रखकर भाषा के उत्पत्ति-विषयक प्रश्नों में उलझना न तो वांछनीय है और न श्रेयस्कर ही।

२.१.६. इधर पशु-पक्षियों की विचार-संवहन-प्रक्रिया एवं भाषा द्वारा मनुष्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति के तुलनात्मक अध्ययन से जो कतिपय नवीन तथ्य सामने आये हैं, उनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। जहाँ तक पशु-पक्षियों तथा अन्य क्षुद्र जीवों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, इनमें समानता की अपेक्षा अधिक विषमता ही दृष्टिगोचर होती है। यदि हम वन्दरों के इशारों, चींटियों के क्रियाकलापों, मधुमक्खियों के नृत्य, पक्षियों एवं मछलियों की काम-क्रीड़ा एवं मालिक को देखकर कुत्ते के पूँछ हिलाने की क्रिया का अध्ययन करें तो इनमें किसी प्रकार की समानता न उपलब्ध होगी।

किन्तु इन सम्पूर्ण क्रियाकलापों में जो एक विशिष्टता उपलब्ध होती है, वह है एक प्रकार की दृढ़ता एवं लचीलेपन का अभाव। मनुष्य के विचार-संवहन में भी ठीक यही बात दृष्टिगोचर होती है।

२.१.७. प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हॉकेट ने मनुष्य की भाषा की विशेषता का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि मानव-सभ्यता को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने में भाषा का कितना अधिक हाथ है। हॉकेट के अनुसार, एक ओर जहाँ पशु-पक्षियों एवं मनुष्य की अभिव्यक्ति-क्रिया में समानता है, वहाँ दूसरी ओर किंचित् विषमता भी है। उदाहरणार्थ, पशु-पक्षी विपत्ति के आगमन की सूचना अपने वर्ग के जीवों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहुत पहले देने में असमर्थ हैं, किन्तु मनुष्य बहुत पहले अपने समुदाय के लोगों को भ अथवा वाणी द्वारा सूचना देकर प्रतिरक्षा की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी कार्य के लि मानव-भाषा सचमुच बहुत सशक्त माध्यम है। किन्तु एक बात में पशु-पक्षियों मनुष्य के विचार-संवहन में समानता भी है। बात यह है कि विपत्ति के आगमन कभी-कभी, पशु-पक्षी चीत्कार द्वारा अपने समुदाय के जीवों को सूचना देते हैं। इ परिणाम यह होता है कि उस समुदाय के अनेक जीव एकत्र होकर उस विपत्ति सामना करते हैं। ठीक यही बात मनुष्य की विचार-संवहन-प्रक्रिया में भी उपल होती है। विपत्ति के आगमन की सूचना मनुष्य भी अपने बन्धु-बान्धव को आ आर्त्तनाद द्वारा करता है जिससे वे एकजुट होकर उसका मुकाबला करने के लि उपस्थित हो जाते हैं।

२.१.८. मानव-भाषा की दो अन्य विशेषताएँ भी कुछ अंशों में पशुओं एवं अ जीवों की अभिव्यक्ति-शैली के समान हैं। इसमें से एक विशेषता है विस्थापन-विषय विस्थापन से तात्पर्य यह है कि वास्तविक घटना तो किसी सुदूर देश में किसी स विशेष पर घटित हो रही है, किन्तु भाषा में इसकी अभिव्यक्ति में देश एवं काल से सम्बन्ध नहीं है; दूसरे शब्दों में यह देश-काल-निरपेक्ष है। भाषा की एक दूसरी विशे यह है कि इसे सुदीर्घ काल तक इसके पूर्ववृत्तों एवं इसकी फलश्रुति से पृथक् रखा सकता है। इस प्रकार हम भाषा के प्रयोग में अपने देश-काल से मुक्त एवं निरपेक्ष सकते हैं। हम भाषा के माध्यम से उन कार्यकलापों के विषय में विचार कर सक जो हमसे बहुत दूर स्थान में अतीत काल में घटित हो चुके हैं अथवा भविष्य में घ होने वाले हैं। मधुस्रोत की प्राप्ति के बाद, अपने वर्ग की अन्य मक्खियों को सू करने के लिए मधुमक्खी का नृत्य भी कुछ इसी प्रकार का होता है, किन्तु इसमें एक यह है कि यह कुछ समय तक ही चल सकता है और यह काल-निरपेक्ष नहीं हो सक भाषा की एक अन्य विशेषता है—उसकी उत्पादन (= नये शब्दों के निर्माण) की क्षमता। भाषा की यह क्षमता इतनी शक्तिशाली है कि मनुष्य अभिनव परिस्थि नूतन शब्दों का उत्पादन (= निर्माण) कर सकता है। कुछ हद तक, नई परि का सामना करने के लिए पशु-पक्षी भी नवीन ढंग से चीत्कार एवं अंगविक्षेप कर हैं, किन्तु इसकी सीमा भी अति संकीर्ण है।

२.१.९. भाषा की यादृच्छिकता का सम्बन्ध उसकी दोहरी विशेषताओं से है उसके प्रतीक का एक रूप तथा उसके द्वारा वस्तु का अन्य रूप एवं अर्थ होता विचार-संवहन एवं शब्दों के उत्पादन में यह विशेषता अत्यधिक सहायक होती है। कारण मनुष्य केवल कतिपय ध्वनि-इकाइयों द्वारा अनेक अभिनव शब्दों के उत्पा समर्थ होता है। पशु-पक्षियों में इस विशेषता का अभाव होता है। यही कारण तोता-मैना मनुष्य द्वारा उच्चरित कतिपय शब्दों एवं वाक्यों का एक सीमा अनुकरण तो कर सकते हैं, किन्तु नवीन शब्दों के उत्पादन की क्षमता उनमें नह पशु-पक्षियों को चाहे जिस वातावरण में रखा जाय, वे एक प्रकार के ही अंगविक्षे चीत्कार करेंगे, किन्तु इसके विपरीत मानव-शिशु को हम जिस भाषा के वाताव रखेंगे, वह वही भाषा सीख लेगा। भाषा की एक यह भी विशिष्टता है कि वह या विचारों का संवहन मात्र ही नहीं करती, अपितु वह विचार-शक्ति को भी करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२.१.१०. विश्व की ज्ञात भाषाओं की रूपरेखा एवं उनकी बनावट का जब हम अध्ययन करते हैं तो उनमें आश्चर्यजनक विभिन्नता उपलब्ध होती है। इतने पर भी इन भाषाओं में हमें कतिपय ऐसी समान प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वत्र मनुष्य के मानसिक तत्त्वों में समानता है। वास्तव में ये तत्त्व ही भाषा के सार्वभौम लक्षणों एवं प्रवृत्तियों का निर्माण करते हैं।

२.१.११. विश्व की सभी भाषाएँ स्वनात्मक (=ध्वन्यात्मक) होती हैं। ये स्वन वागेन्द्रियजनित होते हैं। यद्यपि हम भाषा को इस रूप में परिभाषित करते हैं कि जिन तत्त्वों से इसका निर्माण हुआ है, उनका उल्लेख नहीं करते, तथापि यह बात उल्लेखनीय है कि विश्व की सभी भाषाओं का आधार स्वन ही होता है। इसके अनेक लाभ ट। भाषा के इन स्वनों का उच्चारण हम कई प्रकार—मन्द, शिथिल एवं त्वरित गति—से कर सकते हैं। इन विभिन्न प्रकार के स्वनों के उच्चारण में किसी विशेष प्रकार के प्रयास की आवश्यकता नहीं होती और विना प्रशिक्षण के भी ये सरलतया उच्चरित किये जा सकते हैं। ये बहिर्गत वायु का उपयोग करते हैं और मनुष्य की श्वास-प्रश्वास क्रिया के ही परिणाम होते हैं। मनुष्य के कर्ण की यह विशेषता है कि क्षण मात्र में सुनकर ही इन स्वनों को अँधेरे में भी सुना एवं प्रसारित किया जा सकता है। इन सुविधाओं के कारण ही स्वनिक (=ध्वन्यात्मक) भाषाएँ ही विश्व की सर्वाधिक विकसित भाषाएँ हैं और आज यही विचार-संचारण का माध्यम हैं।

२.१.१२. विश्व की समस्त मानव-जातियों की वागिन्द्रियाँ समान होती हैं और उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य अपनी मातृभाषा के स्वनों के उच्चारण में स्वरतंत्री, जिह्वा, ओष्ठ, कोमल एवं कठोर तालु का प्रयोग करता है। ये इन्द्रियाँ इतने जटिल ढंग से कार्य करती हैं कि नियत क्षणों में ही ये विविध प्रकार की सार्थक इकाइयों का उत्पादन कर देती हैं और मनुष्य नितान्त सहज भाव से इनका अर्थ हृदयङ्गम कर लेता है। मनुष्य की वागिन्द्रियाँ इतनी सशक्त एवं लचीली होती हैं कि इनके द्वारा अपरिमित स्वनों का उत्पादन किया जा सकता है।

२.१.१३. इस स्वनात्मक (=ध्वन्यात्मक) प्रणाली के अतिरिक्त प्रत्येक भाषा में एक कार्यकारी प्रणाली भी उपलब्ध है जिसे स्वनिमिक (ध्वनिग्रामिक) नाम से अभिहित किया जाता है। भाषा का प्रत्येक स्वन एक-दूसरे से भिन्न होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी स्वन-विशेष का दो-तीन बार उच्चारण करे तो उसमें निश्चित रूप से किंचित् परिवर्तन आ जायेगा। संवाद-संचार के लिए भाषा की एक ऐसी कार्यकारी प्रणाली अथवा व्यवस्था की आवश्यकता है कि उसके परस्पर भिन्न स्वनों को कतिपय सीमित इकाइयों में बाँधा जाय। ये इकाइयाँ ऐसी होनी चाहिए जिन्हें सरलता से उत्पन्न किया जा सके तथा जो शीघ्र पहचान में आ जायँ। यह कार्य भाषा में इस प्रकार सम्पादित होता है कि प्रत्येक भाषा के बोलने वालों के उच्चरित स्वनों को कतिपय बड़ी इकाइयों में बाँधा जाता है। ये इकाइयाँ लघुतम व्यवच्छेदक अर्थ वाले युग्मों के आधार पर छाँटी जाती हैं। यह उस भाषा के तात्त्विक अथवा मुख्य स्वन होते हैं। अन्य स्वनों से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए इन्हें स्वनिम कहा जाता है। चूँकि प्रत्येक भाषा की स्वन-व्यवस्था एक-दूसरे से भिन्न होती है, अतएव उसकी स्वनिमिक व्यवस्था भी अपनी होती है। कतिपय भाषाओं में मात्रा की दीर्घता की विशेषता होती है तो अन्य भाषाओं में सुर की प्रधानता उपलब्ध होती है। कुछ भाषाओं में नासिक्य ध्वनि की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है तो अन्य में इसका सर्वथा अभाव होता है। इसी प्र अफ्रीका की भाषाओं में क्लिक स्वन की प्रधानता होती है तो यूरोप की कई भाषाओं घोषत्व एवं प्राण ध्वनि (हकार) का प्रभाव होता है। यहाँ एक बात यह उल्लेख है कि किसी भी भाषा का बोलनेवाला किसी अन्य भाषा के स्वनों एवं स्वनिमों अभ्यास के द्वारा, पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। यदि हम अपने देश का ही उदा लें तो यह विदित होगा कि दक्षिण का तमिल भाषाभाषी पंडित उत्तर भाषा के सं के स्वनों एवं स्वनिमों का मानक उच्चारण कर लेता है। इसी प्रकार उत्तर के भाषाभाषी लोग भी अपनी सगोत्री बंगाली, मराठी एवं उड़िया आदि तथा दक्षिण तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़ का उच्चारण भलीभाँति कर लेते हैं। हमारे के उत्तर तथा दक्षिण के अनेक विद्वानों ने अँग्रेजी भाषा के स्वनों पर इतना अधिकार कर लिया है कि वे लन्दन के मानक उच्चारण से अंग्रेजी बोलने में पूर्ण सक्षम हैं।

२.१.१४. किसी भाषा के स्वनिमों (=फोनीमों=ध्वनिग्रामों) से ही उस भ के रूपिमों (=मार्फीमों=मोटे ढंग से पदों) का निर्माण होता है। स्वनिम एवं रू में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ स्वनिम लघुतम अर्थहीन इकाई है, वहाँ रूपिम लघु अर्थवान इकाई होती है। किसी भी भाषा में स्वनिमों की संख्या अल्प ही होती है, कि प्रत्येक भाषा की प्रकृति के अनुकूल दो या इससे अधिक स्वनिमों के सम्मिश्रण से उ लाखों रूपिमों का निर्माण हो जाता है। प्रत्येक भाषा के रूपिम-निर्माण की स्व व्यवस्था होती है और किन्हीं दो भाषाओं में इस व्यवस्था में पूर्ण समानता नहीं होती यही कारण है कि जब हम एक भाषा के वाक्यों को किसी दूसरी भाषा में अनु करते हैं तो हमें पर्याप्त मात्रा में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

२.१.१५. किसी भाषा का व्याकरण दो महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन क है। इसमें प्रथम कार्य यह है कि भाषा में विविध अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए जो होते हैं, उनमें यह सम्बन्ध स्थापित करता है तथा इस सम्बन्ध-स्थापन के द्वारा भाषा को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करता है। सम्बन्ध-स्थापना के लिए व्याक कृत्रिम नियमों का निर्माण करता है। ये नियम प्रत्येक भाषा में अलग-अलग होते हिन्दी में विशेषण एवं विशेष्य के सम्बन्ध में कुछ शैथिल्य है। हिन्दी में हम ' घोड़ा' तथा 'काली घोड़ी' तो कहते हैं, किन्तु लाल रंग के साथ यह नियम नहीं है। हाल 'सुन्दर' विशेषण का है और हिन्दी में हम 'सुन्दर बालक' तथा 'सुन्दर बालि कहते हैं। किन्तु संस्कृत में विशेषण का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है और वहाँ नियम में व्यत्यय नहीं है। यही बात फ्रेंच भाषा में भी दृष्टिगोचर होती है।

२.१.१६. भाषा के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक भा यह पहले से निश्चित होता है किन अनुभवों को अभिव्यक्त किया जाय तथा किन्हें दिया जाय। अभिव्यक्ति की इस प्रणाली का प्रभाव किसी भाषा के बोलने वाले सोचने तथा विचारने की प्रक्रिया पर भी पड़ता है। कतिपय भाषाओं, जैसे—अंग्रेजी एवं जर्मन में, संज्ञा को निश्चित रूप प्रदान करने के लिए उपपद (आर्टिकिल प्रयोग आवश्यक है। किन्तु हिन्दी, बँगला एवं मराठी में इसका सर्वथा अभाव है। सभी भाषाओं में लिङ्ग एवं वचन की व्याकरणिक कोटियाँ उपलब्ध हैं, किन् आधारभूत तत्त्वों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक कतिपय भाषा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

था मराठी—में तीन लिङ्ग हैं, किन्तु हिन्दी एवं फ्रेंच में दो तथा अंग्रेजी में चार लिङ्ग प्रायः अनेक भाषाओं में बहुवचन, प्रत्यय द्वारा द्योतित किया जाता है, किन्तु कुछ भी भाषाएँ भी हैं जिनमें बहुवचनज्ञापक पदों को संयुक्त कर यह कार्य सम्पन्न होता भाषा में इन विषमताओं को देखकर यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में कतिपय ही व्याकरणिक कोटियाँ भी हैं जो सार्वभौम हैं ? इसका उत्तर यही है कि ऐसी केवल व्याकरणिक कोटियाँ—संज्ञा एवं क्रिया हैं। विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों में जो भिन्नता मिलती है, उसका मुख्य कारण उस भाषा की व्याकरणिक प्रक्रिया है। कई षाओं में उपसर्गों एवं अन्य प्रत्ययों के संयोग द्वारा शब्दों में अर्थभेद उत्पन्न हो जाता । अन्य भाषाओं में परसर्गों एवं मध्य-प्रत्ययों द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। भ्यन्तरिक स्वरों एवं व्यंजनों के परिवर्तन से भी नूतन अर्थ प्रादुर्भूत होता है और ती-कभी तो शब्दों के क्रम-परिवर्तन मात्र से ही व्याकरणिक सम्बन्ध प्रकट होता है। ी प्रक्रिया के अन्तर्गत शब्दों की आदिवृद्धि एवं क्रियापदों में अभ्यास अथवा द्वित्व-रण (reduplication) का समावेश होता है। चाहे जो भी भाषा हो, विचारों की भिव्यक्ति के लिए उसे किसी न किसी प्रकार की व्याकरणिक व्यवस्था की आव-कता है। यहाँ एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि कालक्रम के प्रभाव से प्रायः सभी पाओं पर उसकी पड़ोसी भाषा का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि सभी भाषाओं व्याकरण में हमें कुछ-न-कुछ अनियमितता उपलब्ध होती है।

२.१.१७. एक ओर जहाँ भाषा की सामान्य प्रकृति का ज्ञान प्रत्येक शिक्षित क्ति के लिए आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर भाषा-शिक्षण के लिए कतिपय महत्त्वपूर्ण नोवैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान भी आवश्यक है। भाषा के इस पक्ष के सम्बन्ध में एक ल्लेखनीय बात यह है कि इसकी प्रतीकात्मक व्यवस्था पर्याप्त मात्रा में लचीली होती तथा यह अपनी संस्कृति का अनुगमन करती हुई नवीन परिस्थितियों का मुकाबला रने के लिए पूर्णतया सक्षम होती है। चूँकि भाषा के प्रतीकों के अर्थ की कोई निश्चित मा नहीं होती, अतएव उसके बोलने वालों को इन प्रतीकों के अर्थ को किंचित् घटाने-ढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती। उदाहरणार्थ, यूरोप की विविध भाषाओं में कुत्ते की भिन्न जातियों के लिए अनेक शब्द हैं, किन्तु हिन्दी में कुत्ते के पूर्व केवल 'विलायती' ब्द को संयुक्त कर इन सभी जातियों का बोध करा दिया जाता है।

२.१.१८. प्रत्येक भाषा में अनुभूत भावों को अपने ढंग से अभिव्यक्त किया ाता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न भाषाओं में पर्याप्त मात्रा में वैविध्य मिलता है। ोजपुरी में मूर्ख के लिए 'बुड़बक' (मैथिली बुड़बक), 'चपाट', 'घोड़न', 'थूथुर', चोल' एवं 'बकलोल' शब्द मिलते हैं। इन शब्दों के अर्थ में भी यत्किंचित् अन्तर है, न्तु हिन्दी में केवल एक 'मूर्ख' शब्द से ही इनका अर्थबोध होता है। इससे यह तात्पर्य हीं है कि भोजपुरी की संरचना-व्यवस्था में कोई विशिष्टता है तथा हिन्दी में कोई टि है। इस विषय में स्थिति यह है कि प्रत्येक भाषा अपनी आवश्यकतानुसार शब्दों ा निर्माण करती है। एक अन्य उदाहरण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। हिन्दी में ाना' एवं 'पीना' दो पृथक् क्रियापद हैं। यहाँ जल, दूध, शरबत एवं सिगरेट के ाथ 'पीना' एवं रोटी तथा भात के साथ 'खाना' क्रिया का प्रयोग होता है, किन्तु गला में इन सभी संज्ञापदों के साथ एकमात्र 'खाना' क्रिया ही प्रयुक्त होती है।

२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२.१.१९. भाषा की अन्य महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक विशिष्टता यह है कि किसी के बोलने वालों के अनुभवों से इसका अत्यन्त निकट का साहचर्य होता है। भाषा के आचरण एवं कार्यकलापों में इस जटिल ढंग से प्रविष्ट कर जाती है कि इनसे पृथक्करण सम्भव नहीं। आधुनिक सभ्यता तथा उच्चतम संस्कृति में भी इस सा का स्पष्टतया अनुभव होता है। बाल्यावस्था से ही अनुभवों के साथ-साथ भा अर्जन आरम्भ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप भाषा एवं वस्तुओं में अति का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा कभी-कभी वस्तुओं के नाम को स्थान-नाम द्योतित किया जाने लगता है। उत्तरी भारत में, विशेष रूप से प्रयाग में, इटावा खुर्जा का घी बहुत प्रसिद्ध है, अतएव जब लोग दुकानों पर घी लेने जाते हैं तो दु दार से कहते हैं—'हमें इटावा दो, हमें खुर्जा दो'। यही बात रोगों—चेचक, ख खुजली आदि—के नामों के सम्बन्ध में भी है। इन नामों को सुनते ही रोग वास्तविक रूप का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। आम, नींबू, केला आदि वृक्षों के विष भी ठीक यही बात है। यहाँ फलों एवं वृक्षों का नाम एक ही है। भाषा की विशिष्टता से बड़ा भारी लाभ यह होता है कि मनुष्य की चिन्तन-प्रणाली नि सरल हो जाती है, क्योंकि किसी वस्तु के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तन के बजाय शब्द के नाम मात्र से ही हम उसे पूर्णतया समझ जाते हैं।

२.१.२०. बौद्धिक गरिमा के अतिरिक्त भाषा में अभिव्यक्ति की प्रबल शक्ति होती है। यह मनुष्य के चिन्तन एवं विचारों के अभिव्यक्तिकरण का सबसे स माध्यम है। यद्यपि किसी भाषा के स्वनिमों का कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु उसके प्रतीक मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। कविता में तो यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी वीर रस की कविता एवं संस्कृत के ताण्डव स्तोत्र में स्वनों (= ध्वनियों) की विशेषता प्रत्यक्ष रूप से अनुभव की जा है। अवसर तथा समय के अनुकूल भावपूर्ण शब्दों को वाक्यों में प्रयोग कर व्याख्याता स्रोता में वीर, करुण, उत्साह एवं हास्य की धारा प्रवाहित कर देते हैं।

२.१.२१. भाषा का शैक्षणिक मूल्य इस तथ्य में है कि संस्कृति के साथ निकट का सम्बन्ध है। किसी संस्कृति-विशेष की अभिव्यक्ति तथा एक पीढ़ी से पीढ़ी तक उसे संचरित करने का भार भी भाषा का होता है। अभौतिक संस्कृ संवहन में तो भाषा का विशेष हाथ होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण श भाषा में बहुत दिनों तक प्रचलित रहते हैं, किन्तु अन्य शब्द लुप्त हो जाते हैं। भार में, प्राचीन काल में, वैदिक संस्कृति प्रचलित थी। उस युग में राजसूय, अश्वमेध अन्य प्रकार के यज्ञों का प्राबल्य था। इन यज्ञों के समाप्त हो जाने के कारण उस परायण संस्कृति के आज अनेक शब्द लुप्त हो गये हैं। इसी प्रकार दूसरी संस्कृति सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप अनेक शब्द भाषा में आ जाते हैं। भारतीय आ द्रविड़ भाषाओं में अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं से आगत इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक भाषा में कतिपय वर्जित शब्द भी होते हैं। ये संप्र विशेष से सम्बन्धित होते हैं। धर्मशास्त्र के अनुसार अपना, गुरु, कृपण, ज्ये एवं पत्नी का नाम लेना वर्जित है। इस सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। के शब्द-समूह एवं अर्थ में जो परिवर्तन होता है, उससे उसके बोलने वालों की संस्कृ विकास का इतिहास ज्ञात होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वास्तव में किसी भाषा और उसके बोलने वालों की संस्कृति में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार भाषा का सम्बन्ध किसी धर्म से नहीं होता। इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि भाषा वास्तव में हवा और पानी की भाँति ही उसके बोलने वालों के लिए एक ऐसा ऊपरी आवरण है जो सभी वर्गों एवं एक ही समूह के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों के लोगों का समान रूप से पोषण करती है। प्राचीन काल तथा मध्ययुग में, भाषा को जाति, धर्म एवं संस्कृति से सम्बद्ध करने के कारण अनेक युद्ध तथा अनैतिक कार्य हुए हैं। अतएव इस तथ्य को स्पष्ट रूप से हृदयंगम करने की आवश्यकता है। धर्मनिरपेक्षता का तो सबसे ताजा उदाहरण बँगलादेश है। पश्चिमी बंगाल में अधिकांश आबादी हिन्दुओं की है और वहाँ हिन्दू धर्म का ही प्राबल्य है, किन्तु बँगलादेश (पूर्व बंगाल) के अधिकांश लोग इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं। इस धार्मिक अन्तर के होते हुए भी बँगला भाषा में दोनों धर्मावलम्बियों की समान आस्था है।

२.१.२२. समाज में रहनेवाले प्रत्येक समूह की अपनी एक भाषा होती है। वास्तव में भाषा ही किसी समूह-विशेष को व्यक्तित्व प्रदान करती है। प्राचीन काल में भी भाषा का यह महत्त्व इसी रूप में अक्षुण्ण दृष्टिगोचर होता है। ग्रीक लोग अपने से भिन्न भाषा बोलने वालों को बर्बर कहकर सम्बोधित करते थे। वैदिक आर्य अन्य भाषा बोलने वालों को 'असुर' नाम से अभिहित करते थे। वास्तविक स्थिति यह है कि भाषा ही किसी भाषिक समाज के सभी सदस्यों को सुदृढ़ सूत्र में बाँधने का एक सशक्त माध्यम है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि कोई भी भाषा किसी विस्तृत क्षेत्र में एक रूप में नहीं रह सकती और उसमें किंचित् अन्तर आवश्यक है। यदि किसी समाज के व्यक्तियों की कोई भाषा न हो तो ऐसे गूँगे लोगों का जीवन दूभर हो जाय। परस्पर मिलन, प्रेम-प्रदर्शन एवं स्वागत का मधुर कार्य भाषा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। मानव सभ्यता एवं व्यक्तित्व को उच्च शिखर पर ले जाने का उत्कृष्ट कार्य भाषा ही सम्पन्न करती है। इसी के द्वारा आंचलिक एवं राष्ट्रीय संस्कृति की सुरक्षा होती है।

२.१.२३. **भाषा का द्विविध रूप**—भाषा के सम्बन्ध में जो नवीन तथ्य सामने आये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा द्विविधरूपी वस्तु है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक ई० पावलोव ने भाषा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे विचारणीय एवं ग्रहणीय हैं। आप लिखते हैं—प्राज्ञ मानव (होमो-साइपियन्स) के रूप में आने के पूर्व पशु को अपने पास के जगत् की प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ होती थीं। ये केवल इन्हीं अनुभूतियों के सहारे अपने आसपास के जगत् से सम्पर्क स्थापित करते थे। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों का प्रभाव पशुओं के भिन्न-भिन्न अंगों पर पड़ता था और ये अनुभूतियाँ उनके केन्द्रीय तंत्रिकातंत्र (स्नायुमण्डल) के जीवकोषों तक पहुँच जाती थीं। ये अनुभूतियाँ ही बाह्य पदार्थों का संकेत थीं। आगे चलकर प्राथमिक संकेतों के संकेत शब्दों का पता मानव को लगा। इन शब्दों का उच्चारण किया गया तथा उन्हें पूर्णता प्रदान की गई। इसी बात को पावलोव ने एक दूसरे स्थान पर स्पष्ट किया है। उसके अनुसार, यदि आसपास के जगत् से सम्बन्धित हमारी अनुभूतियाँ और धारणाएँ हमारे लिए वस्तुस्थिति का प्रथम संकेत थीं, तो वाणी (शब्द) द्वितीय संकेत का रूप धारण करके हमारे समक्ष उपस्थित हुई। ये द्वितीय संकेत वस्तुस्थिति की सूक्ष्मता को प्रकट करते हैं तथा सामान्यीकरण करते हैं जो उच्च विचार-प्रक्रिया, विशेष रूप से, मानवीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचार-प्रक्रिया को एकसाथ प्रकट करते हैं। इसे ही दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—भाषा के प्रादुर्भाव के पूर्व मनुष्य को दुःख-सुख की जो भी अनुभूति होती थी, उसे वह निरर्थक शब्दों, अर्थात् दुःख में चीत्कार एवं सुख में हास्य, द्वारा प्रकट करता था, किन्तु इसे प्रकट करने के लिए निश्चित रूप से अनन्त प्रकार की ध्वनियाँ रही होंगी किन्तु भाषा के प्रादुर्भाव के पश्चात् स्पष्ट रूप से कतिपय शब्दों की सहायता से मानव अपने सुख-दुःख को प्रकट करने लगा। यद्यपि भाषा उसके सुख-दुःख की पूर्ण अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं थी, किन्तु इसके प्रादुर्भाव से समाज में एक नवीन क्रांति आई, क्योंकि वह सार्थक ध्वनियों एवं विचारों को लेकर प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार भाषा के दो रूप हैं—प्रथम, अनुभूति की स्थिति में तथा द्वितीय, शब्दों के द्वारा अभिव्यक्ति होने पर। इस प्रकार भाषा के द्विविध रूप का ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

२.२. भाषा की परिभाषा

२.२.०. पिछले अध्याय में भाषा के सम्बन्ध में जो सामान्य बातें कही गई हैं उनसे इसकी स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो चुकी है। अब यहाँ भाषा को परिभाषित करने का यत्न किया जाता है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी डी० सस्युर ने वाक् (= ला पेरोल= स्पीच) तथा भाषा (=ला लांग = लैंग्वेज) में स्पष्ट रूप से अन्तर किया है। उसके अनुसार वाक् व्यक्तिगत भाषण से सम्बन्धित है और भाषा सामाजिक वस्तु है। इस प्रकार वाक् प्रकृत वस्तु है और भाषा समाज द्वारा अर्जित एवं मान्य वस्तु है। वाक् सार्थक भी हो सकता है और निरर्थक भी; उसकी अपनी गठन भी हो सकती है और नहीं भी किन्तु भाषा सदैव सार्थक ध्वनियों की क्रमवद्ध प्रणाली ही होती है। इतना अन्तर होते हुए भी वाक् तथा भाषा में काफी सम्बन्ध है। वाक् आधार है और भाषा विभिन्न वाक्यों की क्रमवद्ध उपज है।

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि भाषा के सम्बन्ध में हम दो दृष्टियों—विस्तृत एवं संकीर्ण—से विचार कर सकते हैं। विस्तृत दृष्टि से भाषा उन सभी साधनों का समवेत रूप है जिसके द्वारा कोई सजीव प्राणी अपनी संवेदना, भावना तथा अनुभवों को अन्य प्राणियों तक संचारित करने का प्रयत्न करता है। यह कार्य दो रूपों में सम्पन्न होता है। ये रूप हैं—अंगविक्षेप तथा वाग्जात ध्वनियाँ। इनमें अंगविक्षेप द्वारा सांकेतिक भाषा अस्तित्व में आती है, किन्तु वाग्जात ध्वनियों के द्वारा उच्चरित भाषा प्रादुर्भूत होती है।

भयाक्रान्त पशु-पक्षी अपनी विशेष ध्वनियों द्वारा अपने वर्ग के प्राणियों को अपनी स्थिति की सूचना देते हैं। बिल्ली एवं कुतिया अपने बच्चों की आवाज सुनकर उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं। गाय अपने बछड़े के रँभाने की ध्वनि सुनकर तत्काल उसके पास चली जाती है। पुरानी दन्तकथाओं में पशु-पक्षी भी बातें करते हैं, किन्तु भाषाविज्ञान में हम इस प्रकार की भाषा के सम्बन्ध में विचार नहीं करते।

इसी प्रकार भूख-प्यास से पीड़ित मनुष्य, बिना कुछ कहे, अपने हाथ से मुख की ओर संकेत करते हैं और लोग उनके भाव को समझ कर भोजन एवं जल देते हैं; किन्तु इस प्रकार की मूक एवं सांकेतिक भाषा भी भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं।

आँखों के इशारे तथा सीटी बजाकर प्रेम प्रदर्शित करने एवं आमन्त्रित करने की क्रिया भी भाषाविज्ञान के अध्ययन के बाहर है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२.२.१. भाषाविज्ञान के अन्तर्गत हम जिस भाषा का अध्ययन करते हैं, उसमें वास्तव में, हमारी दृष्टि अपेक्षाकृत संकीर्ण होती है। भाषाविज्ञान में हम केवल मनुष्य-कंठ से उद्गीर्ण सार्थक ध्वनियों का ही अध्ययन करते हैं। मनुष्य अपने कंठ से सार्थक ध्वनियों की भाँति ही विभिन्न प्रकार की निरर्थक ध्वनियों के उच्चारण करने में भी सक्षम है। चूँकि भाषा का मुख्य उद्देश्य विचारों का संवहन है, अतः सार्थक ध्वनियों के माध्यम से ही यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। यही कारण है कि भाषाविज्ञान का विषय उन वाग्जात सार्थक ध्वनियों का अध्ययन होता है जो विचार-संचार में सहायक होती है।

ऊपर के विवरणों के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि हम भाषा की एक उपयुक्त परिभाषा दें। भाषाविज्ञान के कई पंडितों ने 'भाषा' को परिभाषित करने का यत्न किया है। इनकी परिभाषाओं पर नीचे विचार किया जाता है—

"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।" ——स्वीट

"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृद्गत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है।" ——गुणे

"मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुतः विचार करने के लिए ऐसे शब्दों का निरन्तर उपयोग करता है। इस प्रकार के कार्यकलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है।" ——जेस्पर्सन

"भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार के होते हैं; जैसे—नेत्रग्राह्य, श्रोत्रग्राह्य एवं स्पर्शग्राह्य। वस्तुतः भाषा की दृष्टि से श्रोत्रग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।" ——वान्द्रिए

"जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उसे भाषा कहते हैं।" —बाबूराम सक्सेना

"अर्थवान् कण्ठोद्गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है।" ——सुकुमार सेन

"भाषा यादृच्छिक वाक्-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" —ब्लाक तथा ट्रैगर

ऊपर की सभी परिभाषाओं में भाषा की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इनमें ब्लाक तथा ट्रैगर की परिभाषा सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि इसमें भाषा की सभी विशेषताओं का समावेश हो जाता है। यह परिभाषा अधुनातन है, क्योंकि डी० सस्युर के बाद भाषा के स्वरूप, उसकी प्रकृति एवं उसकी कार्यकारिता विषयक जो भी तथ्य भाषा-विज्ञानियों के समक्ष आये हैं, वे सभी इस परिभाषा में सन्निहित हैं। अतः कोई नवीन परिभाषा गढ़ने एवं मौलिकता प्रदर्शित करने के बजाय इसी परिभाषा को स्वीकार कर लेना वांछनीय है। यहाँ इसी परिभाषा के विभिन्न अंगों पर विचार किया जाता है।

२.२.२. यहाँ सर्वप्रथम हम 'व्यवस्था' शब्द को लेते हैं। इस व्यवस्था के स्वन (=ध्वनि), स्वनिम (=फोनीम), रूपिम (=शब्द) एवं वाक्य आदि कई स्तर हैं। प्रत्येक भाषा की, इन सभी स्तरों की, अपनी स्वतन्त्र व्यवस्थाएँ होती हैं और ये उस भाषा के बोलने वालों के द्वारा निर्धारित होती हैं। हिन्दी की स्वन (=ध्वनि) व्यवस्था

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के अनुसार किसी भी रूपिम (—शब्द) के आदि में 'ङ्', 'ञ्', 'ढ़', 'ड़' एवं 'ण' ध्वनियाँ नहीं आ सकतीं। यही कारण है कि हिन्दी में 'ङाग', 'ञाप', 'णास', 'ढ़ाच' एवं 'ड़ाद' जैसे शब्द नहीं मिलते। चूँकि शब्दों की यह ध्वनि-व्यवस्था हिन्दी भाषाभाषी समाज को स्वीकार नहीं है, अतएव ये शब्द निरर्थक हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक भाषा में उसके ध्वनि-समूहों से निर्मित सार्थक शब्दों को वाक्य में एक विशिष्ट क्रम में रखने की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, हिन्दी का एक वाक्य "राम ने रावण को मारा" हम ले सकते हैं। इस वाक्य में कर्त्ता 'राम' आदि में, कर्म 'रावण' मध्य में तथा 'मारा' क्रियापद अन्त में है। इसमें 'ने' कर्त्ताकारक का अनुसर्ग (मार्कर=चिह्नक) तथा 'को' कर्मकारक का अनुसर्ग है। हिन्दी में साधारण वाक्य की यही व्यवस्था है, किन्तु इसी वाक्य को यदि अंग्रेजी में अनूदित करें तो क्रम में अन्तर आ जायेगा और व्यवस्था बदल जायगी। अंग्रेजी में इस वाक्य का अनुवाद "राम किल्ड रावन" हो जायेगा। अंग्रेजी की वाक्य-व्यवस्था के अनुसार कर्त्ता 'राम' आदि में, क्रियापद 'किल्ड' मध्य में तथा कर्म 'रावन' अन्त में रहेगा। इसी वाक्य को यदि हम संस्कृत में अनूदित करें तो हमें ज्ञात होगा कि वहाँ शब्दों को वाक्य में रखने की कोई भी व्यवस्था नहीं है और इस वाक्य को हम संस्कृत में तीन तरह से अनूदित कर सकते हैं—"रामः रावणम् हतः", "रामेण रावणः हतः", "हतः रावणः रामेण"।

चूँकि हिन्दी से हमारा सर्वाधिक सम्बन्ध है, अतः उदाहरणार्थ इसके निम्नलिखित दो वाक्यों को लिया जा सकता है—

१. मैं गया था कलकत्ते कुछ काम से।
२. रहना है मुझे मसूरी स्वास्थ्य के लिए वहाँ जाकर।

यद्यपि इन दोनों वाक्यों का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु इनमें शब्दों का क्रम हिन्दी की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। अतः कोई भी हिन्दीभाषी इन दोनों वाक्यों को साधु रूप में स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार हिन्दी में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, विस्मयादिबोधक एवं क्रियापदों आदि की अपनी व्यवस्था है और प्रत्येक हिन्दीभाषी इससे पूर्णतः परिचित है। विश्व की प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनीय एवं आधुनिक भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी तथा तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़ की अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ हैं।

२.२.३. अब हम इस परिभाषा के 'वाक्-प्रतीक' अंश को लेते हैं। 'प्रतीक' का अर्थ है 'चिह्न'। यदि हम भित्ति या कागज पर सिंह का एक चित्र बना दें तो वह उसका प्रतीक होगा। इसी प्रकार यदि आँखों के इशारे से या हाथ हिलाकर अथवा सीटी बजाकर हम किसी को बुलायें तो यह भी एक प्रतीक होगा, किन्तु इनमें से कोई वाक्-प्रतीक न होगा क्योंकि इनमें वाणी का प्रयोग नहीं हुआ है। वाक्-प्रतीक वे सार्थक ध्वनियाँ हैं जो मानव-कंठ से निसृत होती हैं। उदाहरणार्थ नीचे हम कतिपय वाक्य ले सकते हैं—

१. कलकत्ता विश्वविद्यालय बहुत पुराना है।
२. हिन्दी ही देश को एक सूत्र में बाँधने में सक्षम है।
३. आत्म-दर्शन अक्रिया-योग द्वारा सम्भव है।
४. संस्कृत के कवियों में कालिदास का स्थान बहुत ऊँचा है।
५. प्राप्ति एवं उपलब्धि में अन्तर है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऊपर के वाक्यों में प्रत्येक रूपिम (=शब्द) वाक्-प्रतीक है। वाक्-प्रतीक से तात्पर्य है कि इनके उच्चारण में वाणी का प्रयोग होता है। जब हम इन रूपिमों (=शब्दों) अथवा वाक्यों का उच्चारण करते हैं तो ये वाक्-प्रतीक बनते हैं। इनमें प्रतीकात्मकता, अर्थात् अर्थ भी है।

२.२.४. हमारी परिभाषा के अनुसार वाक्-प्रतीक यादृच्छिक होते हैं। यादृच्छिकता से तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु या भाव को द्योतित करने के लिए हम किसी रूपिम (=शब्द) का प्रयोग करते हैं, उसमें तथा उसके द्वारा द्योतित अर्थ में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता। हम एक पुष्प-विशेष को 'कमल' कहते हैं। 'कमल' एक रूपिम है। इस रूपिम को उच्चरित करने में हम 'क्+अ+म्+अ+ल्' ध्वनियों का प्रयोग करते हैं किन्तु इन ध्वनियों तथा इनसे द्योतित 'कमल' में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। समाज ने 'कमल' का अर्थ एक पुष्प विशेष ग्रहण कर लिया है, क्योंकि समाज ने इसका यही अर्थ स्वीकार किया है। यदि समाज चाहे तो इस पुष्प-विशेष को कोई अन्य नाम दे सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि कमल के पर्यायवाची 'पंकज' और उसके अर्थ में तो सम्वाय सम्बन्ध है, क्योंकि 'पंक' में जन्म लेने से यह शब्द बना है। किन्तु इस तर्क में भी कोई बल नहीं है। पंक से तो अन्य अनेक वस्तुओं—पौनार (<पदुमनाल), भसींड़ एवं कमल-पत्र का भी जन्म हुआ है, फिर इन्हें 'पंकज' नाम से क्यों अभिहित नहीं किया जाता? इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि इस शब्द का पुष्प-विशेष अर्थ रूढ़ हो गया है तथा यह अर्थ समाज द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। भाषा की यादृच्छिकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि संसार में अनेक भाषाएँ हैं। यदि वाक्-प्रतीक यादृच्छिक न होते तो संसार की सभी भाषाओं में किसी वस्तु का एक ही नाम होता। हम हिन्दी के कुत्ते शब्द के लिए संस्कृत में 'श्वान', अंग्रेजी में 'डॉग', फ्रेंच में 'शियां' एवं अवधी-भोजपुरी में 'कूकुर' शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेंच एवं अवधी-भोजपुरी भाषी समाज ने इस पशु-विशेष का यही नाम स्वीकार किया है। इसका कारण वाक्-प्रतीकों की यादृच्छिकता ही है। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि कोई भी व्यक्ति, जिस समय चाहे, किसी वस्तु या भाव को, अपने इच्छानुसार किसी विशेष शब्द से अभिहित करने लगे। सच बात तो यह है कि भाषा किसी एक व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है; अतएव यादृच्छिकता भी सम्मिलित रूप से सम्पूर्ण समाज की होती है। समाज-निर्माण के लिए कम से कम दो व्यक्तियों की आवश्यकता है, अतः यदि केवल दो व्यक्ति, किन्हीं नये वाक्-प्रतीकों के लिए सहमत हो जायँ तो उनकी व्यवस्था उन दोनों व्यक्तियों के लिए भाषा होगी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यदि कोई एक किसी वाक्-प्रतीक को मनमाना अर्थ देने का यत्न करेगा तो वह हास्यास्पद होगा।

२.२.५. हमारी परिभाषा का अन्तिम अंश यह है कि भाषा के माध्यम से "मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि मानव-समुदाय के पास, परस्पर व्यवहार के लिए कोई अन्य साधन नहीं है। अंगविक्षेप एवं संकेत ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा परस्पर व्यवहार का कार्य सम्पन्न हो सकता है। किन्तु इन दोनों साधनों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। आज समय एवं दूरी की दृष्टि से संसार संकुचित हो गया है तथा विचार-संचार का मुख्य माध्यम भाषा बन गई है। यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न होता है, इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। राम और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मोहन घूमने जा रहे हैं। आयु में मोहन राम से छोटा है। मार्ग में पके हुए आम को कर मोहन ने कहा—"भाई, भूख लगी है, आम खाऊँगा।" राम ने वृक्ष से फल तो मोहन को खाने के लिए दे दिया।

यदि उपर्युक्त व्यापार का सतर्कता के साथ विश्लेषण किया जाय तो नि लिखित कार्य-कारण-परम्परा उपलब्ध होगी—

१. मोहन के मुख से कतिपय ध्वनि उच्चरित होने के पूर्व की घटना थी मोहन का वृक्ष पर आम देखना तथा उसको क्षुधा की अनुभूति।

२. इस उत्तेजना के फलस्वरूप मोहन का राम के प्रति निवेदन।

३. मोहन का निवेदन सुनकर राम के मन में भी अनुरूप उत्तेजना का सं होना।

४. राम के मन में उस उत्तेजना की प्रक्रिया, अर्थात् वृक्ष से फल तोड़कर मो को देना।

ऊपर के उदाहरण में मोहन यदि मानवेतर प्राणी होता तो भाषा के अभाव अपनी उत्तेजना राम पर संक्रमित न कर पाता; अपनी उत्तेजना के फलस्वरूप वह स्व वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ने का प्रयत्न करता।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है कि भाषा के माध्यम से "मानव-समुदाय पर व्यवहार करता है।" यहाँ मानव-समुदाय से हमारा तात्पर्य सम्पूर्ण विश्व के मा समुदाय से है। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि जो भाषा हम बोल रहे हैं, उस द्वारा संसार का व्यवहार-कार्य चल रहा है। वास्तविक स्थिति यह है कि संसार में अ भाषाएँ हैं और विभिन्न मानव-समुदाय उन भाषाओं के माध्यम से ही अपने विच संचार का कार्य सम्पन्न करता है।

२.३. भाषा की व्यवस्थाएँ

२.३.०. भाषा की परिभाषा तथा उसकी व्यवस्था की व्याख्या के संदर्भ में यह स्प हो चुका है कि किसी भाषा के 'स्वन' उसके मूलाधार होते हैं। किन्तु यहाँ यह उल्लेख है कि भाषा के सभी स्वन समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं होते। किसी भाषा के लिए केवल वही स्वन महत्त्वपूर्ण हैं जो कथ्य-रूपों के निर्माण से सम्बद्ध होते हैं। विशिष्ट स्वनों को 'स्वनिम' के नाम से अभिहित किया जाता है। यहाँ यह भी स्म रखना चाहिए कि इन स्वनिमों का कथ्य से तभी सम्बन्ध स्थापित होता है जब ये विशिष्ट क्रम से संयोजित होकर रूपवर्ग के अन्तर्गत आते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक भ में स्वनिमों के क्रम की अपनी विशिष्ट व्यवस्था होती है, उसी प्रकार किसी भाष उसके रूपिवर्गों का क्रम भी विशिष्ट होता है। यह विशिष्ट क्रम ही उसकी व्याकर या रूपिमिक व्यवस्था होती है। वस्तुतः स्वनिमिक तथा रूपिमिक या व्याकर व्यवस्थाएँ भाषा की मुख्य व्यवस्थाएँ होती हैं। इसके साथ ही रूप-स्वनि (morpho-phonemic) व्यवस्था भी आती है जो वास्तव में दोनों के संयोजन में का कार्य करती है।

इनके अतिरिक्त भाषा की दो गौण—स्वन तथा अर्थगत—व्यवस्थाएँ भी आगे भाषा की इन व्यवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२.३.१. मुख्य व्यवस्थाएँ

२.३.१.१. स्वनिम व्यवस्था--ऊपर कहा गया है कि किसी भाषा की व्यवस्था में उसके सभी स्वन महत्त्वपूर्ण नहीं होते, अपितु उनमें विशिष्ट स्वन ही इस व्यवस्था के अंग होते हैं। ये विशिष्ट स्वन ही स्वनिम कहलाते हैं। ये स्वनिम अपनी भाषा में एक विशिष्ट क्रम से व्यवस्थित होते हैं। यह क्रम ही भाषा की स्वनिमिक व्यवस्था कहलाती है।

२.३.१.२. रूपिमिक या व्याकरणिक व्यवस्था--किसी भाषा के स्वनिम अपने विशिष्ट क्रम में संयोजित होकर रूपवर्गों का निर्माण करते हैं। कथन में इन रूपवर्गों का भी अपना विशिष्ट क्रम होता है। यह विशिष्ट क्रम ही वस्तुतः भाषा की रूपिमिक या व्याकरणिक व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत वाक्यविन्यासीय तथा रूप-स्वनिमिक (morphophemic) व्यवस्था का भी समाहार हो जाता है।

उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भाषा की निम्नलिखित गौण व्यवस्थाएँ भी हैं—

२.३.२. स्वनिक व्यवस्था--स्वन किसी भाषा के मूल रचनातत्त्व होते हैं। यह सही है कि भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण में सापेक्षिक दृष्टि से स्वनिम ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु स्वनिमों की प्राप्ति स्वनों से ही होती है। इसके साथ ही किसी अध्येता को, भाषा-अध्ययन में, प्रथमतः स्वनों का ही आश्रय लेना पड़ता है। भाषा स्वनों की नींव पर खड़ी होती है। इस दृष्टि से किसी भाषा की स्वनिक व्यवस्था महत्त्वपूर्ण होती है।

२.३.३. अर्थगत व्यवस्था--भाषा का प्रमुख कार्य है श्रोता को कथ्य से परिचित कराना। वस्तुतः भाषा की संपूर्ण व्यवस्था का लक्ष्य ही यही होता है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि भाषिक रूप का कोई न कोई अर्थ होता है, भले ही यह यादृच्छिक या संदर्भगत हो। इस प्रकार स्पष्टतः भाषा-व्यवस्था अर्थसापेक्ष है तथा इस व्यवस्था का महत्त्व स्वयंसिद्ध है।

अब तक के विवेचन में भाषा-विश्लेषण के अन्तर्गत 'स्वन' एवं 'स्वनिम' तथा 'रूपिम' का महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित हो गया है। इसी क्रम में हम आगे प्रथमतः स्वनों का विस्तृत विवेचन करेंगे। इसके पश्चात् स्वनिम एवं रूपिम के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३

स्वनविज्ञान

३.१. प्राचीन भारत में स्वनविज्ञान

३.१.०. सम्प्रति भाषा-शिक्षण में स्वनविज्ञान (= ध्वनिविज्ञान = फोनेटिक्स) अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। प्राचीन भारत में इसके लिए 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग होता था। वैदिक काल में वेदांगों के अन्तर्गत 'शिक्षा' (स्वनविज्ञान) का अत्यधिक महत्व था। संस्कृत में स्वनविज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थों में, शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का विशाल वाङ्मय है। यहाँ शिक्षा की प्रकृति का ज्ञान भी आवश्यक है। इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है--

वर्ण स्वराद्युचारण प्रकारो
यत्नोपदिश्यते सा शिक्षा।

अर्थात्, जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण की प्रक्रिया का बोध कराया जाता है, वह शिक्षाशास्त्र है। ऋग्वेद-भाष्य में यह कहा गया है कि वर्ण, स्वर, मात्रा, शक्ति, मंत्र और पंक्ति, ये सभी बातें शिक्षा-अध्याय में कही गयी हैं।

ऊपर के उल्लेख से यह प्रमाणित है कि शिक्षापाठ, वेदपाठ के अंगस्वरूप मान्य था। इसी कारण वेदाङ्ग का प्रथम अङ्ग 'शौनकीय शिक्षा' प्राचीन काल में वेदवत् माननीय थी। पाणिनि ने भी इसे अष्टाध्यायी के एक सूत्र में स्वीकार किया है।

३.१.१. प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में भी शिक्षा के विषय आलोचित हुए हैं। इन्हें 'पार्षद-सूत्र' भी कहते हैं। इस नामकरण का कारण यह प्रतीत होता है कि वेद की प्रत्येक शाखा की शिक्षा (मंत्रों के शुद्ध उच्चारण) का निर्णय परिषद् द्वारा होता था। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में 'संहितापाठ' तथा 'पदपाठ' दोनों ही मिलते हैं। वर्तमान काल में ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का एक-एक, यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता का एक तथा तैत्तिरीय संहिता का एक प्रातिशाख्य उपलब्ध है।

३.१.२. प्रातिशाख्य तथा शिक्षा में कौन प्राचीन है, यह भी विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

शिक्षा च प्रातिशाख्यं च विरुध्येते परस्परम्।
शिक्षैव दुर्बलेत्याहुः सिंहस्येव मृगीयथा।।

अर्थात्, यदि 'शिक्षा' और 'प्रातिशाख्य' में विरोध हो तो शिक्षा ही दुर्बल पड़ती है, जैसे सिंह के समक्ष मृगी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी आधार पर एलन महोदय[1] का यह निष्कर्ष है कि शिक्षा की तुलना में प्रातिशाख्य का महत्व प्राचीनतर है, किन्तु यदि इसे हम स्वीकार भी कर लें तो "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" के आलोक में हमें शिक्षा को ही अधिक प्रामाणिक स्वीकार करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, प्रामाणिकता के सन्दर्भ में पाणिनि से अधिक मान्यता कात्यायन और पतंजलि को दी जाती है। इसका कारण यह है कि इन परवर्ती महर्षियों के काल में, भाषा के अध्ययन, विकास तथा परिवर्तन की स्थितियाँ अधिक अनुकूल हो गयी थीं।

३.१.३. यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा-ग्रन्थों की अपेक्षा प्रातिशाख्यों में, भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए अधिक सामग्री उपलब्ध है। कई वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी प्रातिशाख्यों में विभिन्न मत मिलते हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि देश-काल एवं भौगोलिक स्थिति के कारण ही ऐसा हुआ होगा। इस सम्बन्ध में विचार करते हुए श्री एलन महोदय[2] लिखते हैं—वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्य के प्रणेताओं में वैमत्य है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में भी आंचलिक प्रभाव के कारण, वेद की विभिन्न शाखाओं में, उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएँ थीं। इन विभिन्नताओं को प्रदर्शित करते हुए प्रातिशाख्य के प्रणेताओं में धार्मिक कट्टरता का लेश भी नहीं मिलता, क्योंकि उनके विचार सर्वदा तथ्यपरक हैं। निःसन्देह उन्होंने कतिपय उच्चारणों को दोषपूर्ण बतलाया है, क्योंकि वे स्वीकृत उच्चारण से भिन्न थे। आगे चलकर एलन महोदय[3] पुनः लिखते हैं—

इन ग्रन्थों के प्रणेता केवल पुरोहित नहीं थे, अपितु स्पष्ट रूप से वे स्वन (=ध्वनि) शास्त्री थें। उन्होंने सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिक पद्धति से ध्वनियों के विषय में मंथन किया था।

३.१.४. स्वन-सम्बन्धी उपकरणों की दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण में चर्चित 'करण', 'स्थान'; ऐतरेय ब्राह्मण में निर्दिष्ट स्पर्श, ऊष्म, अन्तस्थ, स्वर, घोषवत् आदि उल्लेख महत्वपूर्ण हैं। शुक्ल यजुर्वेद में वर्णों के उच्चारण-स्थान का स्पष्टीकरण मिलता है; यथा—सृक्किणी, वर्त्स, जिह्वा के विभिन्न भाग, जिह्वा की नोक जिसे सरस्वती की संज्ञा प्राप्त है। इस संक्षिप्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में स्वनविज्ञान के अध्ययन की कितनी अधिक सामग्री सन्निविष्ट है।

लौकिक संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों—अष्टाध्यायी, महाभाष्य तथा पाणिनि विचारधारा (स्कूल) के अन्य व्याकरण-ग्रन्थों में भी स्वनविज्ञान के अध्ययन के अनेक तथ्य उपलब्ध हैं।

३.१.५. शिक्षा

ऊपर शिक्षा की परिभाषा दी गयी है और यह कहा गया है कि वेदाङ्गों में शिक्षा का सर्वाधिक महत्व है। संस्कृत में शिक्षा-विषयक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रंथों में पाणिनीय शिक्षा का महत्व अधिक है। इसके भी सात-आठ रूप प्राप्त हैं। इसका वर्तमान रूप अवश्य ही पाणिनि-कृत नहीं है। इसके आरम्भिक प्रथम श्लोक में

---

१. एलेन : फोनेटिक्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० ५

२-३. एलेन : फोनेटिक्स इन एन्शियन्ट इंडिया, पृ० ६-७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"पाणिनि मत के अनुसार, मैं शिक्षा का प्रवचन करूँगा", ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है। अन्त के तीन श्लोकों में पाणिनि की प्रशस्ति मिलती है। परन्तु इसके सम्बन्ध में निश्चित है कि इसका आधार कोई प्राचीन शिक्षा-ग्रंथ ही है। इसका प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है कि शब्द और अर्थ की लोक-प्रसिद्धि तो सर्वज्ञात है, तत्सम्बन्धी अन्वेषण की आवश्यकता नहीं। किन्तु अज्ञानी जन वाणी का यथार्थ उच्चारण करने में असमर्थ हैं, अतः उच्चारण-प्रक्रिया के शास्त्रीय स्वरूप का निर्धारण आवश्यक है। प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में ६३ या ६४ वर्ण ही प्रयुक्त शिक्षा के प्रथम गुरु भगवान् शंकर हैं जिनसे पाणिनि ने चौदह सूत्र प्राप्त किये भगवान् शंकर द्वारा प्राप्त ज्ञान को अपने शिक्षा के प्रणयन का आधार बनाया पाणिनि के परवर्ती ऋषियों ने पाणिनि के प्रतिपादनों का विस्तार किया।

३.१.५-१. पाणिनि-शिक्षा के अनुसार वर्ण-ध्वनि के पाँच उपविभाग किये हैं। ये हैं—(1) स्वर, (2) काल, (3) स्थान, (4) प्रयत्न, (5) अनुप्रदान।

(क) स्वर—स्वर की उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित, तीन श्रेणियाँ कही हैं। सामवेद में स्वरों के षडज्, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद सात स्तर स्वीकार किये गये हैं।

(ख) काल—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—काल के ये तीन विभाग माने गये उच्चारण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में जहाँ एक मात्रा लगे ह्रस्व, दो मात्रा लगे दीर्घ तथा मात्रा लगे वहाँ प्लुत होता है।

(ग) स्थान—वर्ण-ध्वनियों के उच्चारण-स्थान की संख्या आठ है। ये हैं। (१) उरस, (२) कण्ठ, (३) शिरस्, (४) जिह्वामूल, (५) दन्त, (६) नासिका (७) ओष्ठ (उभय), (८) तालु।

(घ) प्रयत्न—प्रयत्न की दृष्टि से वर्ण-ध्वनि दो भागों—आभ्यन्तर एवं प्रयत्न—में विभक्त है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत में विविध वैयाकरणों द्वारा प्र शिक्षा-ग्रंथों का विशाल वाङ्मय है। ये शिक्षा-ग्रंथ श्लोकवद्ध अथवा गद्य उपलब्ध हैं। इनमें स्वनविज्ञान एवं स्वन-प्रक्रिया, दोनों का सूक्ष्म एवं विस्तृत अध्ययन किया गया है। स्वनविज्ञान की दृष्टि से आज भी इनका गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है।

३.१.६. प्रातिशाख्य

स्वनविज्ञान एवं स्वन-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। इन्हें 'पार्षद-सूत्र' भी कहते हैं। ये विभिन्न चरणों के व्याकरण हैं। इनमें मंत्रों के संहितापाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। इन्हें हम वैदिक व्याकरण के नाम से अभिहित कर सकते हैं, किन्तु ये उस अर्थ में व्याकरण नहीं हैं जिस अर्थ में अष्टाध्यायी है, क्योंकि इनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग पद के साधुत्व पर विचार नहीं किया गया है। किन्हीं-किन्हीं प्रातिशाख्यों में तो तथा छन्द का भी समावेश है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रातिशाख्यों में प्राचीन स्वनविज्ञान-सम्बन्धी सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इनके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषि कितने सूक्ष्मदर्शी एवं गहन विचारक थे।

३.१.६.१. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास' में पन्द्रह प्रातिशाख्यों का उल्लेख किया है। आपने इस सिलसिले में सत्तावन आचार्यों का नामोल्लेख किया है। आपके अनुसार इनमें कई आचार्य व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता रहे होंगे। प्रातिशाख्यों के विशाल वाङ्मय से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंग स्वनविज्ञान का प्राचीन भारत में कितना सूक्ष्म अध्ययन हुआ था।

३.२. आधुनिक युग में स्वनविज्ञान का महत्व

३.२.०. जब संस्कृत का ज्ञान यूरोप में पहुँचा और वहाँ के विद्वानों को इसकी स्वन-प्रक्रिया का ज्ञान हुआ तो उन्हें अपनी भाषा के स्वनों को गम्भीरता से अध्ययन करने की प्रेरणा मिली। इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक युग में स्वनविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

३.२.१. इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि सामयिक वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण ज्यों-ज्यों समय तथा दूरी का प्रश्न घटता जा रहा है, त्यों-त्यों मनुष्य की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय होती जा रही है। अब सुदूर देशों के साथ व्यापारिक एवं दौत्य सम्बन्ध स्थापित करना सभ्य एवं सशक्त राष्ट्रों के लिए आवश्यक हो गया है। इसके लिए सर्वप्रथम विदेशी भाषाओं को सीखने की आवश्यकता पड़ती है। मानव जाति के मध्य सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए भाषा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। विदेशी भाषा को सीखने में मनुष्य के सामने सबसे पहली समस्या उच्चारण-सम्बन्धी आती है। किसी भाषा के व्याकरणिक रूपों और आवश्यक शब्दावली को जानने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि भाषा को सीखने वाला उस भाषा की ध्वनियों को उसी रूप में ग्रहण करे जिस रूप में उस भाषा के बोलने वाले उन्हें उच्चरित करते हैं। उन ध्वनियों के ज्ञान के अतिरिक्त उसे उन ध्वनियों के बोलने का इतना अभ्यास भी करना चाहिये ताकि उसके बोलने वाले उन्हें समझ सकें।

यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि किसी भाषा का अध्ययन करते समय हमारा सम्बन्ध उसके वाक् या उच्चरित ध्वनियों से ही होता है, उनके लिखित रूपों से नहीं।

जब भाषा सीखने वाला, इस भाषा के उच्चारण में सिद्धहस्तता प्राप्त कर ले, तब वह विदेशी भाषा के लिखित रूप से परिचित हो सकता है। किन्तु उच्चारण के व्यापक व्यावहारिक ज्ञान के पूर्व ही भाषा के लिखित स्वरूप के विषय में ज्ञान-प्राप्ति के लिए उद्यत होना अपने को भ्रम एवं अपूर्ण ज्ञान के चक्कर में डालना है।

वस्तुतः भाषा का अर्थ ही उस 'कथ्य रूप' से है जो भाषणावयवों की सहायता से मुख द्वारा बोली जाती है। आधुनिक युग में भाषा के ध्वनिमय रूप की धारणा इतनी सिद्ध एवं मान्य हो चुकी है कि कतिपय आधुनिक भाषाविद् 'लिखित भाषा' वाक्यांश को ही ठीक नहीं मानते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.२.२. अब यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि विदेशी भाषा उच्चारण से किस प्रकार परिचय प्राप्त करना चाहिये ?

इस समस्या का आज से कुछ वर्ष पूर्व, जो केवल एक ही समाधान सम समझा जाता था, यह था कि शिक्षार्थी को विदेशी भाषाभाषियों के सम्पर्क में का समय तक रहकर उनसे बातचीत करने का अधिकाधिक सौभाग्य प्राप्त करना चाहि

किन्तु इस रीति से भाषा सीखने में दो प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव हुअ इनमें प्रथम कठिनाई यह थी कि सामान्य व्यक्ति केवल भाषा सीखने के लिए वि कैसे जा पहुँचे। दूसरी यह कि इस प्रकार से भाषा का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त व्य साध्य था।

इसी समय यह अनुभव हुआ कि विदेशी भाषा को सीखने का सरलतम उपा यह है कि उसकी ध्वनियों का ठीक-ठीक रूप में ज्ञान प्राप्त किया जाय। इसके लि स्वनविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत हुई। लोगों ने यह भलीभाँति जान लिया स्वनवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा कम-से-कम समय में विदेशी भाषा सरलतया सीखी सकती है। यही कारण है कि आधुनिक भाषाविज्ञानी आज भाषा के अध्ययन में स्वनि विज्ञान का समुचित उपयोग करता है तथा उसे जीवित भाषाओं एवं बोलियों वैज्ञानिक अध्ययन की आधारभूत शाखा मानता है।

३.२.३. यहाँ, यह पुनः ध्यान रखना चाहिए कि स्वनविज्ञान का सम्बन्ध स्वनों है। इस विज्ञान में मनुष्य के मुँह से निसृत स्वनों का विवेचन, विश्लेषण, वर्णन वर्गीकरण किया जाता है। भाषा के लिखित रूप से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं लिखित रूप का सम्बन्ध वर्णों से है। वर्ण एवं स्वन में अन्तर है, इस तत्व को भ भाँति समझ लेना चाहिए। बात यह है कि अनेक भाषाओं में एक ध्वनि के कई प्रत होते हैं। अंग्रेजी में 'क्' स्वन के लिए k, c एवं q तीन प्रतीक हैं। फारसी अथवा की लिखावट में 'स्' स्वन 'से', 'स्वाद' तथा 'सीन' तीन प्रतीकोंद्वारा व्यक्त किया ज है। इस समस्या का समाधान स्वनलिपि द्वारा किया जाता है जिसमें एक स्वन एक प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है। स्वनलिपि का विवेचन आगे कि जायेगा। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि स्वनविज्ञान, भाषाविज्ञान का अविच्छिन्न है तथा आज के भाषाविज्ञानी किसी भाषा के विश्लेषण के पूर्व उसके स्वनों का विशि अध्ययन परमावश्यक मानते हैं।

३.३. स्वनविज्ञान की परिभाषा

३.३.१. स्वनविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें वागिन्द्रियों द्वारा उत्पादित स्वनों सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अध्ययन किया जाता है।

३.३.२. भारत के प्राचीन ऋषियों ने वाणी के चार स्तरों को स्वीकार किया ये हैं—'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' एवं 'वैखरी'। इनमें से आरम्भ के तीन स्तर अव्यक्त हैं, केवल वाणी का चौथा स्तर 'वैखरी' व्यक्त है। वास्तव में आधुनि स्वनविज्ञान वैखरी से ही अपना अध्ययन आरम्भ करता है।

यह मानव-कंठ से निसृत स्वनों की विशेषता का अध्ययन करता है तथा परिभाषित करता है। यह उन स्वनों के अध्ययन में अपना ध्यान केन्द्रित करता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्व की भाषाओं में मिलते हैं। यह वाग्स्वनों पर तीन स्वतंत्र दृष्टिकोण से विचार करता है। यह वागिन्द्रियों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा हम स्वनों का उच्चारण करते हैं। यह उन स्वन-तरंगों का भी अध्ययन करता है जो भौतिक रूप में, वायु के माध्यम से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचती हैं तथा यह उन तकनीकों का भी अध्ययन करता है जिनके द्वारा मनुष्य अपने श्रवण-रन्ध्र से स्वनों को प्राप्त करता है।

३.४. स्वनविज्ञानी का कार्य

ऊपर के तथ्यों के आधार पर स्वनविज्ञान की तीन शाखाएँ—उच्चारणात्मक, ध्वनिक (= भौतिक) एवं श्रवणात्मक हो गयी हैं। स्वनविज्ञानी इन तीनों शाखाओं में अपने को प्रशिक्षित करता है। इस प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप वह किसी भी भाषा के वाग्स्वनों के सूक्ष्म तत्वों को हृदयङ्गम करने में सक्षम हो जाता है। वह इन स्वनों को स्वयं उच्चरित करने के साथ-साथ इनका विशेष ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। वह अपनी वागिन्द्रियों को नियंत्रित करने में इतना दक्ष हो जाता है कि वह विविध भाषाओं के वाग्स्वनों का सहज रूप में उच्चारण कर सकता है। इसके लिए वह शरीर, विशेषतया सिर, कंठ, वक्ष आदि की रचना का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त वह भौतिकविज्ञान (फिजिक्स) का भी अध्ययन करता है, ताकि वह ऑसिलोग्राफ एवं स्पैक्टोग्राफ जैसे ध्वनि-यंत्रों का उपयोग कर सके। इस दृष्टि से स्वनविज्ञानी का कार्य बहुत टेक्निकल हो जाता है।

३.५. भाषाविज्ञान तथा स्वनविज्ञान दो पृथक् विज्ञान हैं

३.५.०. स्वनविज्ञान की जटिलता का अनुभव कर कतिपय विद्वान् उसे पृथक् विज्ञान स्वीकार करने के पक्षधर हैं। उनके मतानुसार, भाषाविज्ञान जहाँ एक ओर भाषा का व्यवस्थित अध्ययन करता है, वहाँ दूसरी ओर स्वनविज्ञान स्वन-विषयक तत्वों के परिशीलन में व्यस्त रहता है।

३.५.१. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस विचारधारा के भाषाविदों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। अधिकांश भाषाविद् स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अभिन्न अंग मानते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों को सशक्त बनाने के लिए स्वनविज्ञान की सहायता परमावश्यक है और यह कार्य स्वनविज्ञान को भाषाविज्ञान का अंग बनाने से ही सिद्ध हो सकता है।

३.५.२. भाषाविज्ञान के आरम्भिक युग में, स्वनविज्ञान को पृथक् विज्ञान मानने का कोई प्रश्न ही न था। उस युग में सबसे महत्वपूर्ण समस्या, भाषा को उसके उच्चारण के अनुसार सही रूप में लिखने की थी। इसके लिए किसी भाषा के अध्ययन के समय, उसमें उपलब्ध स्वर-व्यंजनों के उच्चारण-स्थान—कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि का ज्ञान आवश्यक था। इसके उपरान्त विविध रूपों में स्वर-व्यंजन का वर्गीकरण सम्पन्न होता था। इस प्रकार उस युग में स्वनविज्ञान का अध्ययन भाषाविज्ञान के रूप में ही होता था।

३.६. वागिन्द्रियों द्वारा उत्पन्न स्वन

३.६.०. वागिन्द्रयों द्वारा उत्पादित स्वन निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं—

(१) वाग्स्वन
(२) वागितर स्वन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.६.१. वाग्स्वन वे हैं जो भाषा के निर्माण में सहायक होते हैं; यथा—अ, क, च, ट, प आदि।

३.६.२. वागितर स्वन के अन्तर्गत वे स्वन आते हैं जो भाषा के निर्माण में सहायक नहीं होते; यथा—हँसने, खखारने या चुमकारने की आवाज़।

३.७. स्वनविज्ञान की सीमा

३.७०. मनुष्य वागिन्द्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार के अनेक स्वनों को उत्पन्न करता है। यहाँ यह प्रश्न सहज में पूछा जा सकता है कि क्या इन सभी स्वनों का अध्ययन स्वनविज्ञान की सीमा के अन्तर्गत आता है ? विद्वानों का एक वर्ग केवल वाग्स्वनों को ही स्वनविज्ञान की सीमा के अन्तर्गत रखने के पक्ष में है, किन्तु दूसरा वर्ग सभी स्वनों को स्वनविज्ञान की सीमा में समाविष्ट करने के पक्ष में है। इनमें पहले वर्ग के पक्षधर लन्दन के प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी डैनियल जोन्स हैं तो दूसरे वर्ग के पक्षपाती अमेरिका के स्वनविज्ञानी के० एल० पाइक।

३.७.१. डैनियल जोन्स के मतानुसार, भाषा के अधिखंडीय अभिलक्षण (suprasegmental features) एवं श्रुतियाँ वाग्स्वन नहीं हैं। जोन्स केवल खण्डीय स्वनों को ही वाग्स्वन स्वीकार करते हैं।

प्रो० डैनियल जोन्स की भाँति ही नोवेल आर्मफील्ड जपित (फुसफुसाहट) स्वर, प्रतिलोम, क्लिक तथा काकल्य स्वनों को स्वनविज्ञान की परिधि से बाहर मानते हैं। वे इन्हें असामान्य स्वन मानते हैं।

३.७.२. के० एल० पाइक के अनुसार, वाक् एवं अवाक् स्वनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। इसलिए, स्वनविज्ञान के अन्तर्गत, सभी प्रकार के स्वनों का विवेचन आवश्यक मानते हैं।

सामान्य एवं असामान्य स्वनों की विवेचना करते हुए पाइक ने यह मत व्यक्त किया है कि दृष्टिभेद के कारण ही कतिपय स्वन सामान्य तथा अन्य असामान्य प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में सम्यक् दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक भाषा के असामान्य स्वन दूसरी भाषा में सहज एवं सामान्य हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त परिवर्तन के परिणामस्वरूप आज के असामान्य स्वन भविष्य में सामान्य हो सकते हैं। अतः किन्हीं स्वनों को असामान्य कहकर स्वनविज्ञान की परिधि से बाहर रखना समीचीन नहीं है।

आगे चलकर पाइक ने अपने ग्रंथ 'स्वनविज्ञान' (फोनेटिक्स) में जोन्स तथा अपने विचारों में सामञ्जस्य स्थापित करने का यत्न किया है। आपने जोन्स द्वारा प्रतिपादित वाग्स्वनों को 'केन्द्रक स्वन' तथा दुर्लभ स्वनों को 'सीमान्त (मार्जिनल) स्वन' के नाम से अभिहित किया है तथा 'स्वनविज्ञान' में दोनों के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है।

३.८. स्वनविज्ञान की शाखाएँ

३.८.०. यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्वनविज्ञान के अन्तर्गत स्वनों के विवेचन में, मुख्य रूप से उनका उत्पादन, संचरण या संवहन तथा ग्रहण विशेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आता है। इन्हीं के आधार पर स्वन-विज्ञान की तीन शाखाएँ हो जाती हैं जो इस-कार हैं :—

(१) उच्चारणात्मक [Articulatory]
(२) ध्वन्यात्मक या भौतिक [Acoustic]
(३) श्रवणात्मक [Auditory]

हम किन्हीं दो वक्ताओं के परस्पर उच्चारों के क्रम कों, रेखाचित्र में निम्न-लिखित रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं :—

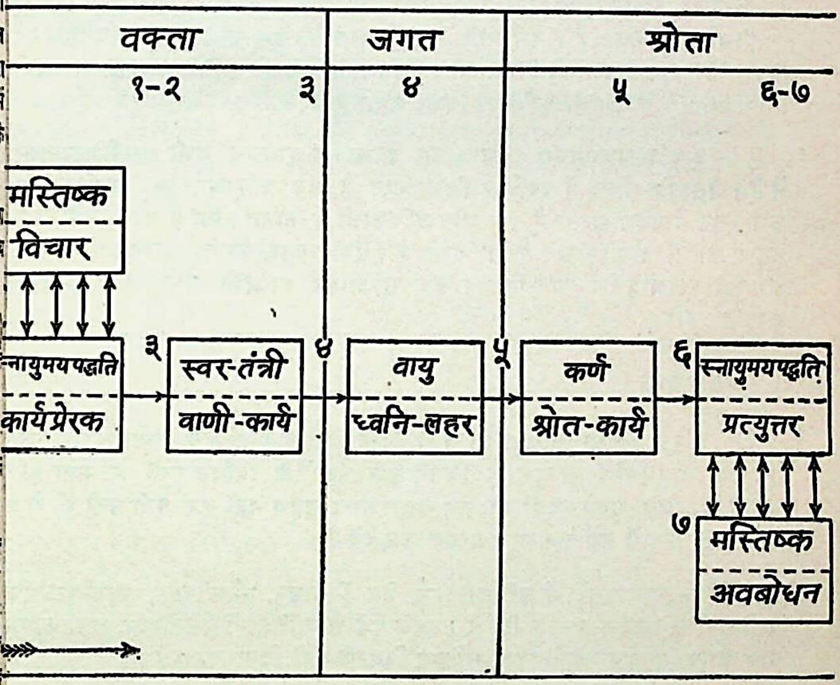

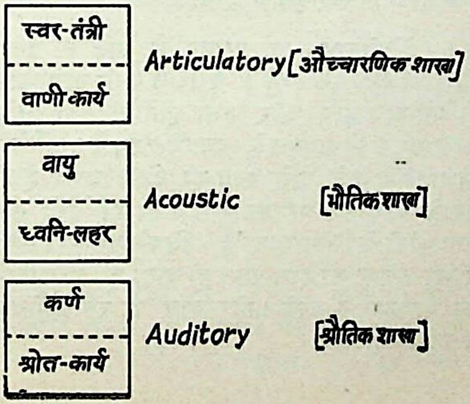

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.८.१ उच्चारणात्मक शाखा के अन्तर्गत स्वनों को उत्पन्न करने वाले वा का अध्ययन सम्पन्न होता है।

३.८.२ ध्वन्यात्मक या भौतिक शाखा के अन्तर्गत वाग्स्वनों के भौतिक का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में विविध स्वन-यंत्रों से सहायता ली है। यंत्रों के द्वारा भाषा में उपलब्ध सुर, अनुतान, दीर्घता, नासिक्यापन, घोषत्व प्राणत्व आदि का सहज एवं वैज्ञानिक अध्ययन सम्पन्न होता है। इधर भौतिक (फिजिक्स) की उन्नति के साथ-साथ, स्वनों के अध्ययन के लिये, सम्प्रति, सूक्ष्म का निर्माण हो गया है। इसीलिये, स्वनविज्ञान की इस शाखा को 'प्रायोगिक विज्ञान' (Experimental Phonetics) अथवा यांत्रिक स्वन-विज्ञान (Instrumen Phonetics) के नाम से अभिहित किया जाता है।

३.८.३ श्रवणात्मक शाखा—इस शाखा का अध्ययन अभी आरम्भिक अव में है। जैसा कि चित्र में प्रदर्शित किया गया है, जब वाग्स्वनों की तरंगें मनुष्य कर्ण-कुहर में प्रवेश करती हैं, तब श्रौत तंत्रिकाओं में कम्पन होता है और इसके बा मनुष्य का मस्तिष्क संवाद-ग्रहण करता है। संवाद-ग्रहण की यह प्रक्रिया काफी ज है। यही कारण है कि स्वन-विज्ञान की इस शाखा का अभी अधिक विकास नहीं सका है।

३.९ स्वन-यन्त्र

३.९.० यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत आज ऐसे यंत्रों का निर्माण हो चुका है जिनके द्वारा स्वनों के विविध गुणों की माप क सकती है। जिन सूक्ष्म स्वनों को हम श्रवण द्वारा ग्रहण नहीं कर पाते उन्हें भी अति सरल रूप में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष कर देते हैं।

इन स्वन-यंत्रों में ऑसिलोग्राफ, टेप रिकार्डर, स्पैक्टोग्राफ, फारमेण्टग्रा मशीन, पैटर्न प्लेबैक उल्लेखनीय हैं। इनके पूर्व भाषाविज्ञानी पैलेटोग्राफ तथा का ग्राफ का प्रयोग करते थे। इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

३.९.१ स्वनयन्त्र (द्वितीय महायुद्ध के पूर्व)

३.९.१.१ पैलेटोग्राफ—यह वास्तव में धातु से बना हुआ कृत्रिम (पैलेट) है जिसे दन्तचिकित्सक स्वन के परीक्षण करने वाले व्यक्ति के तालु के का बना देते हैं। यह बहुत हल्का और पतला होता है तथा इसे फ्रेंच चाक या पा से रंग देते हैं। परीक्षण करते समय इसे स्वभाविक ढंग से दाँतों में जमा लिया जात इसके बाद परीक्षा किये जाने वाले स्वन को बोला जाता है। इस प्रकार बोल जिह्वा के स्पर्शवाले भाग का पाउडर पुछ जाता है। उसी समय पैलेट को निकालकर उसका फोटो ले लिया जाता है, जिससे मुख-विवर के अगले भाग में के आन्तरिक क्रिया-कलाप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यूरप के कतिपय स्वनवि कृत्रिम तालु का व्यवहार न करके कठोर तालु पर रंगीन गोंद लगाकर भी जिह्वा कार्य-कलाप की परीक्षा करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.६.१.२ काइमोग्राफ—स्वनों को उच्चरित करते समय, मनुष्य के नासारन्ध्र, मुखरन्ध्र तथा स्वरतंत्रियों में जो कम्पन होता है उसे इस यंत्र के द्वारा नापा जा सकता है। अघोष तथा घोष स्वनों के उच्चारण में जो कम्पन-भेद होता है, उसे स्पष्ट करने के लिये काइमोग्राफ का उपयोग किया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है कि पैलेटोग्राफ के द्वारा कोमल तालु प्रदेश में उत्पन्न स्वनों की परीक्षा नहीं का जा सकती, क्योंकि कृत्रिम पैलेट केवल कठोर तालु प्रदेश को ही आच्छादित रखता है। इन स्वनों की परीक्षा काइमोग्राफ की सहायता से की जा सकती है। काइमोग्राफ के चित्रों से स्वनों की अनुनासिकता, महाप्राणता तथा दीर्घता आदि भी नापी जा सकती है।

३.६.१.३ आसिलोग्राफ—काइमोग्राफ श्रेणी के अन्य अनेक यंत्रों का उपयोग आज यूरोप के विभिन्न अंचलों में, स्वनों के परीक्षण के लिये किया जा रहा है। ऑसिलोग्राफ वस्तुतः इन्हीं यंत्रों में से एक है। इसके द्वारा स्वनों के कम्पन के चित्र लिये जा सकते हैं, इनकी दीर्घता नापी जा सकती है तथा दो स्वनों के बीच की सीमा भी निर्धारित की जा सकती है।

३.६.१.४ इंक राइटर—काइमोग्राफ की श्रेणी का यह एक अन्य यंत्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ काइमोग्राफ के द्वारा धूम्राच्छादित कागज (smoke paper) पर सुई के द्वारा चित्र बनते हैं वहाँ इंक राइटर के द्वारा सादे कागज पर स्याही से चित्र बनते हैं। इस यंत्र का व्यवहार काइमोग्राफ की अपेक्षा सस्ता और सहज है।

३.६.१.५ मिंगोग्राफ -इस यंत्र का आविष्कार स्वीडेन के एक भाषाविज्ञानी ने किया है। यह आकार में छोटा है किन्तु स्वन-परीक्षण के लिये यह काइमोग्राफ से अधिक उपयोगी है।

३.६.१.६ क्रोनोग्राफ मिंगोग्राफ की भाँति ही यह भी एक छोटा-सा यंत्र है जिसका स्पेन के भाषाविद् स्वन-परीक्षण के लिये उपयोग करते हैं। यूरोप में, स्वन-परीक्षण के लिये अनेक छोटे-मोटे यंत्रों का उपयोग हो रहा है किन्तु अमेरिका में स्वन-विश्लेषण के लिये जिन यंत्रों का उपयोग हो रहा है, वे इनकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं। ऐसे यंत्रों का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है :

३.६.१.७ टेपरिकार्डर—यह ग्रामोफोन की भाँति एक बॉक्सनुमा यंत्र है जिसके द्वारा फीते पर स्वनों का रिकार्ड किया जाता है। इसे चालू करने के लिये बिजली के तार द्वारा इसे प्लक से जोड़ दिया जाता है ताकि इसमें बिजली की लहरें आने लगें। इसी समय इसमें लगे हुए माइक पर बोला जाता है और फीते पर स्वन(=ध्वनियाँ) रिकार्ड होती जाती हैं।

इधर हाल में अमेरिका में एक नये प्रकार का टेपरिकार्डर बना है जिसका आकार लम्बा होता है। उसे गले में लगा लेते हैं और उसके फीते पर स्वन [=ध्वनियाँ] रिकार्ड होती चली जाती हैं।

अमेरिका के भाषाविद् बोलचाल की भाषा के किसी भी प्रकार के विश्लेषण या अध्ययन में टेपरिकार्डर का व्यवहार करते हैं यहाँ तक कि अपनी बोली का विश्लेषण करने के लिये भी वे टेपरिकार्डर की सहायता लेते हैं। अपने मुँह से उच्चरित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वनों को सुनने के बदले, टेपरिकार्डर द्वारा गृहीत स्वनों को बार-बार सुनने से स्व
विश्लेषण में अधिक सहायता मिलती है।

३.६.२ स्वन-यंत्र (ध्वनि-यंत्र, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आविष्कृत)

३.६.२.० इधर द्वितीय महायुद्ध के बाद, स्वन-यंत्रों के निर्माण में, अमेरिक
जो प्रगति हुई है उसका ज्ञान भाषाविज्ञान के छात्रों के लिये परमावश्यक है।
स्वन-यंत्रों ने भाषा-विश्लेषण के कार्य को बहुत सरल बना दिया है। ये यंत्र ऐसे हैं
भाषण-प्रवाह को विखंडित करके, स्वर एवं व्यंजन के भेद को इन यंत्रों द्वारा स
किया जा सकता है। इनमें से कतिपय यंत्रों का परिचय नीचे दिया जाता है—

३.६.२.१ **स्पेक्टोग्राफ**—यह एक क्रान्तिकारी यंत्र है जिसका उपयोग ब
अमेरिका के स्वनविज्ञानी कर रहे हैं। जब इस यंत्र में स्वन, प्रविष्ट होता है तो इ
क्ट्रॉन की सहायता से उसका चित्र आ जाता है जिसे 'स्पेक्टोग्राम' कहते हैं। इस स्पेक
ग्राम में स्वन की क्षिप्रता (frequency), सघनता (intensity) एवं कालाव
(duration) आदि सभी आ जाते हैं। इससे स्वनविज्ञानी को स्वन का स्थायी चि
प्राप्त हो जाता है जिसका वह जब चाहे विश्लेषण कर सकता है।

३.६.२.२ **पैटर्न प्लेबैक**—ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्पेक्टोग्राफ के द्वा
स्वनों को स्पेक्टोग्राम में परिणत करके उन्हें दृश्यमान बनाया जा सकता है तथा इ
बाद उनका विश्लेषण किया जा सकता है। परन्तु इधर अमेरिका के दो विद्वानों ने
ऐसे विशेष स्वन-यंत्र का निर्माण किया है जिसके द्वारा दृश्यमान स्वन-चित्रों को
स्वन-चित्र दिया जा सकता है। इसका नामकरण उन्होंने पैटर्न प्लेबैक किया है।

३.६.२.३ **स्पीच स्ट्रेचर**—यह एक प्रकार का वाग्विस्तारक यंत्र है और इ
विदेशी भाषाओं के स्वनों को स्पष्टरूप से ग्रहण करने में अत्यधिक सहायता मिलती
बात यह है कि बोलते समय मनुष्य अति शीघ्रता से अपने हृदगत भावों को प्रकट क
जाता है। जब किसी व्यक्ति को नवीन भाषा सीखनी होती है तो वाग्धारा में से स
स्वनों को स्पष्टरूप से ग्रहण करना उसके लिये सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु इस यंत्र
सहायता से उच्चरित स्वनों को धीरे-धीरे एवं सहजरूप में सुना जा सकता है। इस
की सहायता से स्वनविज्ञान में अकुशल व्यक्ति भी स्वनों का परीक्षण एवं वर्गीकरण
सकता है। किसी नवीन भाषा के स्वनिमों के निर्धारण में तो इस यंत्र से अत्य
सहायता मिलती है।

३.६.२.४ **उच्चारणात्मक शाखा**—इस शाखा के अन्तर्गत स्वनों की उत्प
प्रक्रिया पर विचार किया जाता है। अन्य शाखाओं की अपेक्षा स्वनविज्ञान की
शाखा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और संसार के भाषाविज्ञानियों ने इसका गहरा अ
किया है। इसका परिणाम यह है कि इस शाखा के सम्बन्ध में सबसे अधिक सामग्री
उपलब्ध है।

३.६.२.५ यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाग्स्वनों के उत्पादन के लिये,
परमावश्यक तत्व है। यह वायु श्वसन-क्रिया से उत्पन्न होती है। श्वसन-क्रिया, वा
में, फुफ्फुसों [=दोनों फेफड़ों] के प्रसरण एवं संकुचन से प्रादुर्भूत होती है। प्रस
क्रिया से वायु फुफ्फुसों के भीतर जाती है। इसे अन्तःश्वसन (Inspiration)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

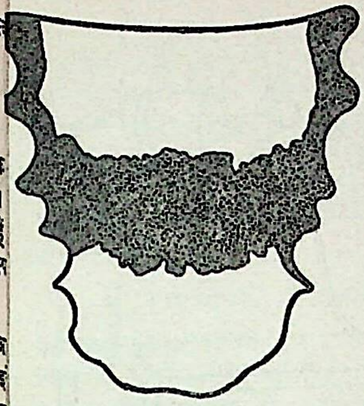

पैलेटोग्राफ

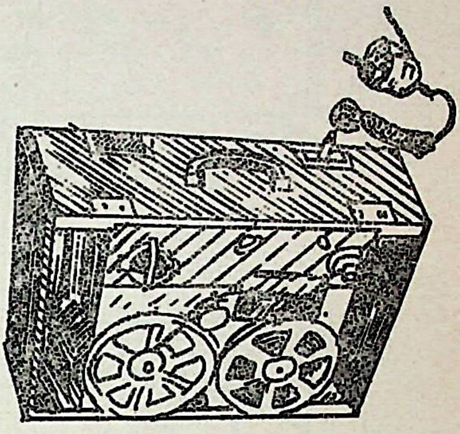

टेपरिकार्डर

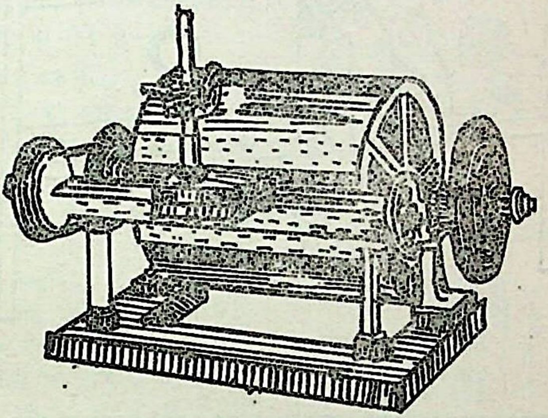

काइमोग्राफ

हैं। जो वायु फुफ्फुसों से बाहर निकलती हैं इसे वहि: श्वसन (Expiration) कहते हैं। अन्तःश्वसन एवं वहि:श्वसन की सम्मिलित क्रिया को ही श्वसन क्रिया के नाम से अभिहित किया जाता है।

श्वसन-क्रिया के समय वायु का वागिन्द्रिय या वाग्यंत्र के विभिन्न अंगों पर घात होता है तब वह स्वनों में परिवर्तित हो जाती है। वायु के आघात एवं उसके परिणामस्वरूप स्वनों के उत्पादन के ज्ञान के लिये, वाग्यंत्र का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

३.६.२.६. वाग्यंत्र अथवा मुखविवर के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

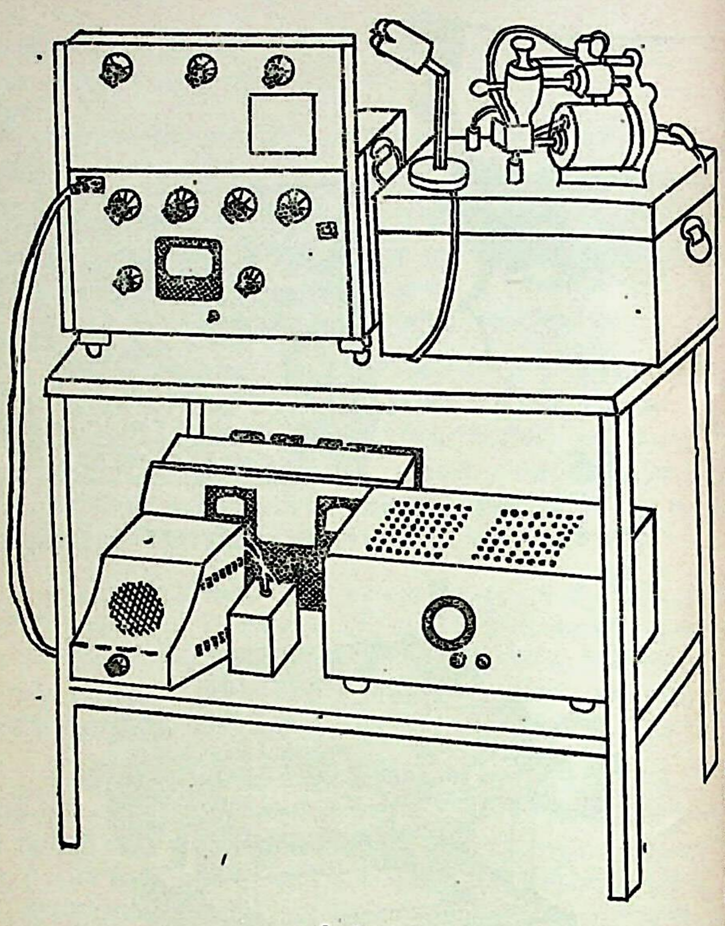

स्पैक्टोग्राफ

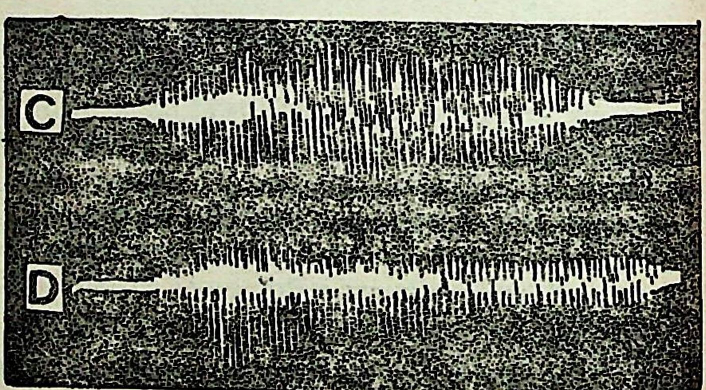

अंग्रेजी C और D का ओसिलोग्राम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

:। इसका मुख्य कार्य भोज्य-पदार्थों को ग्रहण करना है। दाँतों का काम खाने ाली वस्तुओं को कुचलना तथा जिह्वा का कार्य उनका रस लेना है। इसी प्रकार कंठ वं नासिका-विवरों का कार्य श्वसन-क्रिया सम्पन्न करना है। किन्तु मनुष्य वाग्यंत्र तथा सके विभिन्न भागों से स्वनों के उच्चारण का काम लेता है। वास्तव में यह वाग्यंत्र थवा मुख-विवर का गौण कार्य हैं।

वागिन्द्रिय

.१० परिभाषा

३ १०.१ वाग्ध्वनियों के उत्पादन में शरीर के जिन अवयवों का उपयोग होता उनके समूह को वागिन्द्रिय अथवा वाग्यंत्र ा स्वन-यंत्र के नाम से अभिहित किया ाता है। नीचे वाग्यंत्र के सम्बन्ध में विचार किया जाता है तथा उसका चित्र भी दिया जाता है—

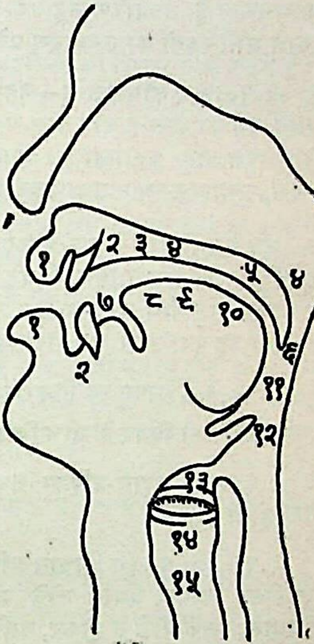

३.१० १.१ ओंठ—वागिन्द्रियों में ओंठ ही ऐसा अवयव है जो स्पष्टरूप से दृश्यमान है। ओंठ दो होते हैं—

(i) ऊपर का ओंठ,

(ii) नीचे का ओंठ।

स्वन-उत्पादन में नीचे का ओंठ ही अधिक कार्यकारी होता है, अतः स्वनविज्ञान में ओंठ से अभिप्राय अधिकांशतः नीचे के ओंठ से ही होता है। स्वनो के उत्पादन में ओठों की कई स्थितियाँ हो सकती हैं। दोनों ओंठ पूर्णतया उन्मुक्त रह सकते हैं, दोनों ओंठ सम्पूर्ण रूप से बन्द होकर ओष्ट्य व्यंजनों और दाँतों के स्पर्श से दन्त्योष्ठ्य-स्पर्श-व्यंजनों की सृष्टि कर सकते हैं तथा दोनों एक-दूसरे के अथवा दाँतों के बहुत निकट ओष्ठ्य अथवा दन्त्योष्ठ्य संघर्षी व्यंजनों को उत्पन्न कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त स्वरों के उच्चारण में ये वृत्ताकार या अवृत्ताकार दृष्टि से विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण कर सकते हैं। हिन्दी के पवर्ग स्वनों का उच्चारण इनके द्वारा सम्पन्न होता है।

३.१०.१.२ दाँत—ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्वन-उत्पादन में दोनों ओठों में से नीचे का ओंठ ही अधिक कार्य करता है, किन्तु दाँतों की ऊपर तथा नीचे की पंक्ति

---

(१) ओंठ, (२) दाँत, (३) वर्त्स्य, (४) कठोर तालु, (५) कोमल तालु, (६) अलिजिह्वा या कौवा, (७) जिह्वा नोक, (८) जिह्वाग्र, (९) जिह्वा मध्य, (१०) जिह्वापश्च, (११) उपालि जिह्वा, (१२) स्वरयन्त्रावरण, (१३) स्वर यन्त्र की स्थिति, (१४) कोमल तालु का नासिका विवरोन्मुखी पक्ष, (१५) स्वरयन्त्र।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के सामने वाले दाँत ही विशेष कार्य करते हैं। ये दाँत नीचे के ओंठ और जिह्वा नोक के साथ मिलकर स्वन उत्पन्न करते हैं।

३.१०.१.३ वर्त्स—ऊपर के दाँतों के मूल से कठोर तालु के आरम्भ तक भाग वर्त्स-भाग कहलाता है। वस्तुतः यह उच्चारण-स्थान है, उच्चारण सहायक अवयव नहीं क्योंकि जिह्वा के विभिन्न भाग इसके स्पर्श से तथा इसके समीप आकर इसकी ओर अभिमुख होकर स्वन उत्पन्न करते हैं।

३.१०.१४ कठोर तालु—वर्त्स के अन्तिम भाग से कोमल तालु के आरम्भ का भाग कठोर तालु कहलाता है। हड्डी से निर्मित होने के कारण इसके ऊपर मांसावरण होते हुए भी इसका स्पर्श कठोर मालूम पड़ता है। वर्त्स की भाँति यह उच्चारण-स्थान है, उच्चारण सहायक अवयव नहीं। तालव्य नाम से अभिहित किए जाने वाले सभी स्वनों का उच्चारण-प्रदेश यही है।

३.१०.१.५ कोमल तालु—जहाँ कठोर तालु का अन्त होता है अर्थात् अस्थिमय अंश का अन्त है और जिस भाग से कोमल मांस खण्ड भाग का आरम्भ होता है, वही कोमल तालु कहलाता है। कोमल तालु वाग्यंत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में, उच्चारण-स्थान तथा उच्चारण सहायक अवयव दोनों है।

जब मुख-विवर से वायु भीतर ग्रहण की जाती है तो कोमल-तालु ऊपर जाता है किन्तु जब वायु नासिका-विवर से निकलती है अथवा भीतर की ओर ली जाती है तब कोमल तालु नीचे की ओर झुक जाता है। परन्तु जब वायु मुख-विवर से निकल जाती है तब वह पुनः ऊपर की ओर उठ जाता है।

३.१०.१.६ उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोमलतालु मुख विवर तथा नासिका विवर के बीच किवाड़-जैसा कार्य करता है।

३.१०.१.७ श्वास-प्रक्रिया तथा भाषण-क्रिया के समय इसकी निम्नलिखित स्थितियाँ होती हैं :—

३.१०.१.७.१ (क) श्वास-प्रक्रिया के समय—श्वास-प्रक्रिया के समय बिल्कुल ढीला, निस्पन्द अर्थात् नीचे की ओर पड़ा रहता है, जिसके परिणामस्वरूप समस्त श्वास, इसके पीछे से होकर, नासिकामार्ग से आती-जाती है।

३.१०.१.७.२ (ख) भाषण-क्रिया के समय—इस क्रिया में यह निम्नलिखित स्थितियाँ धारण करता है :—

(i) नासिक्य व्यंजनों एवं अनुनासिक स्वरों को छोड़कर अन्य समस्त स्वनों उच्चारण के समय, यह ऊपर उठकर नासिका-विवर को बिल्कुल बन्द कर देता जिसके फलस्वरूप समस्त वायु मुख-विवर से ही निकलने लगती है, नासिका-विवर नहीं जाने पाती। यह मुख-विवर में आकर विभिन्न उच्चारण-स्थानों एवं उच्चारण प्रयत्नों की विभिन्न स्थितियों के कारण विभिन्न स्वनों के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

(ii) नासिक्य व्यंजनों एवं अनुनासिक स्वरों के उच्चारण के समय यह मध्य अवस्था में रहता है जिससे कुछ वायु नासिका-विवर से भी निकल जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार कोमल तालु का कार्य नासिका-विवर के मार्ग को, अनुनासिक स्वरों एवं नासिक्य व्यंजनों के लिये विवृत करना [=खोलना] एवं निरनुनासिक स्वनों के लिये संवृत (बन्द) करना है।

३.१०.१.७.३ अलिजिह्वा या कौवा—अलिजिह्वा या कौवा कोमल तालु का अन्तिम भाग है। यह छोटे से लटकते हुए मांस-पिण्ड के रूप में दिखायी पड़ता है।

कोमल तालु से संलग्न अलिजिह्वा ऊपर-नीचे होता रहता है। यह अरबी एवं फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ स्वनों के उत्पादन में सहायक होता है।

३.१०.१.८.१ स्वन-उत्पादन में जिह्वा का स्थान

उच्चारण अवयवों में जिह्वा का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वरों के निर्माण में जिह्वा का सबसे अधिक हाथ होता है।

३.१०.१ ६ जिह्वा-नोक—जिह्वा के अग्रविन्दु को जिह्वा नोक कहते हैं। जिह्वा का यह भाग स्वन-उत्पादन में सबसे अधिक सहायक होता है। जिह्वा का यह भाग ऊपरी दन्त-पंक्ति के सामने वाले दाँतों का स्पर्श करके दन्त्य-स्वनों (त्, थ्, द्, ध), वर्त्स को स्पर्श करके वर्त्स्य स्वन (न्), सामने के दाँत या वर्त्स्य के समीपवर्ती होकर दन्त्य या वर्त्स्य संघर्षी स्वन (स्), फेफड़ों से आगत वायु द्वारा विताड़ित होकर तथा एकाधिक बार जोर से हिलकर वर्त्स्य लुंठित स्वन (र्), दाँत अथवा वर्त्स के मध्य विन्दु का स्पर्श करके, यदि जिह्वा के एक या दोनों पार्श्व खुले रहें तो पार्श्विक स्वन (ल्) एवं पीछे की ओर मुड़कर मूर्धा भाग को स्पर्श करके मूर्धन्य स्वनों (ट्, ठ्, ड्, ढ्) के उच्चारण में सहायक होता है।

३.१०.१.१०, जिह्वाग्र—जिह्वा का वह भाग है जो कठोर तालु के विपरीत स्थित रहता है। जिह्वाग्र की सहायता से उत्पन्न होने वाले स्वनों को मुख्यतः तालव्य कहा जाता है। इस भाग का उपयोग स्वन-उत्पादन में मुख्यतः निम्नप्रकार से किया जाता है—

(i) अग्रस्वरों के उच्चारण में यह भाग विभिन्न मात्रा में कठोर तालु की ओर उठता है।

(ii) कठोर तालु से मिलकर तालव्य-स्पर्श स्वनों की सृष्टि करता है।

३.१०.१.११ जिह्वापश्च—जिह्वापश्च, जिह्वा का वह भाग है जो कोमल तालु के विपरीत स्थित रहता है। जिस प्रकार जिह्वाग्र कठोर तालु की ओर विभिन्न मात्रा में उठकर अग्रस्वरों की सृष्टि करता है, उसी प्रकार जिह्वा पश्च, कोमल तालु की ओर उठकर पश्च स्वरों की सृष्टि करता है। जिह्वा का यह भाग कोमल तालु तथा अलिजिह्वा के साथ मिलकर (क्, ख्, ग्, घ्) कण्ठ्य स्वनों की सृष्टि करता है। इसके अतिरिक्त कोमल तालु तथा अलिजिह्वा या कौवा के समीपवर्ती होकर वायु मार्ग को एवं पीछे हटकर, गलबिल मार्ग को संकीर्ण कर संघर्षी ध्वनियों के उत्पादन में भी सहायक होता है।

३.१०.१.१२. उपालिजिह्वा या गलबिल—नासिका-विवर और स्वरयंत्रावरण के बीच और जिह्वा मूल के पीछे जो खाली स्थान होता है उसे उपालिजिह्वा या गलबिल कहा जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.१०.१.१३. **स्वरयंत्रावरण**––स्वरयंत्रावरण जिह्वा मूल के नीचे पेड़ के प के समान उठा हुआ एक मांसल भाग होता है। यद्यपि स्वन-उत्पादन में, प्रत्यक्षरूप यह किसी प्रकार की सहायता नहीं करता किन्तु स्वर-यंत्र की रक्षा करने के कार परोक्ष-रूप से यह स्वन-प्रक्रिया को अक्षुण्ण रखता है।

यह भाग भोजन करते समय भोज्य-पदार्थ या पानी को श्वास नली में जाने रोककर उसे भोजन नली में प्रवेश कराने में सहायक होता है।

३.१०.१.१४. **स्वरतंत्रियाँ**––अंग्रेजी 'वोकलकार्ड्स' का अनुवाद कुछ लोगों 'स्वर-रज्जु' किया है किन्तु जैसा ब्लाक एवं ट्रेगर ने लिखा है––इसका नाम अंग्रेजी भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें रज्जु-जैसी कोई वस्तु नहीं होती। अंग्रेजी में यह श प्रचलित हो जाने के कारण मान्य हो गया है किन्तु हिन्दी में इसे स्वरतन्त्रियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि यह श्वासनली के अन्त में स्थित कण्ठ में, आगे से पी को फैला हुआ, दो महीन तंत्रियों से निर्मित लचीली झिल्लियों का एक जोड़ा है। तंत्रियाँ ही स्वर-तंत्रियाँ कहलाती हैं।

स्वरतंत्री की झिल्लियाँ मुख्यरूप से चार अवस्थाएँ ग्रहण करती हैं––

(i) श्वसन-क्रिया एवं अघोष स्वनों के उच्चारण के समय इनके दोनों भा शिथिल एवं निस्पन्द पड़े रहते हैं और झिल्लियों के बीच के भाग, काकल से श्वा निकलती रहती है। अघोष स्वनों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों में कोई कम्पन न होता है।

(ii) घोष––स्वनों के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियों के दोनों भाग बिल्कु समीप आकर एक-दूसरे से रगड़ खाते हैं और स्वरतंत्रियों में कम्पन उत्पन्न करते हैं। कम्पन संगीतात्मक होते हैं और इनके कारण उच्चरित स्वन घोष होते हैं।

(iii) उपालिजिह्वीय या काकल्य––स्पर्श स्वनों के उच्चारण के समय स्व तंत्रियों के दोनों भाग परस्पर टकराकर झटके के साथ अलग हो जाते हैं। इस अवस में श्वास रगड़ के साथ बाहर निकलती है।

(iv) जपित अथवा फुसफुसाहट वाले स्वनों के उच्चारण के समय कोई स्वर तंत्रीय कम्पन नहीं होता है। ये स्वन अघोष होते हैं। इनके उच्चारण के समय स्व तंत्रियों के दोनों भाग परस्पर मिल जाते हैं परन्तु नीचे की ओर थोड़ा-सा भाग श्वास आने-जाने के लिये छुटा रहता है। इस खुले भाग से रगड़ कर निकलने वाली वायु द्वारा एक प्रकार की फुसफुसाहट की सृष्टि होती है।

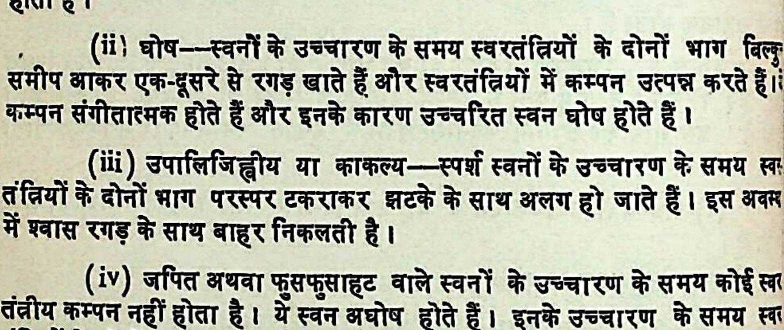

(क) अघोष (ख) संघोष (ग) काकल्यस्पर्श (घ) फुस्फुसाहट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.१०.१.१५ श्वासनलिका—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मानव-जीवन श्वसनक्रिया पर निर्भर करता है। श्वास लेने तथा निकालने के लिये हमारे सीने में दो फेफड़े हैं जो धौंकनी का काम देते हैं। इन फेफड़ों से कण्ठ तक एक नली है जिसके द्वारा फेफड़ों से निर्गत होने वाली वायु मुख-विवर अथवा नासिका-विवर द्वारा निकलती है या भीतर की ओर जाती है। इसी नली को श्वासनलिका कहते हैं।

३.१०.१.१६ नासिका-विवर—जब अलिजिह्वा एवं कोमल तालु शिथिल पड़े रहते हैं तब श्वासनलिका से आने वाली समस्त वायु इसी नासिका-विवर से निकलती है। इसका पूर्ण विवेचन कोमल तालु के प्रसंग में किया जा चुका है।

३.११ अक्षर

३.११.१ साधारणतः 'अक्षर' का प्रयोग स्वर एवं व्यंजन स्वनों के लिये होता है किन्तु भाषाविज्ञान में इसका प्रयोग अंग्रेजी 'सिलेबिल' के लिये किया जाता है। संस्कृत, विशेषरूप से प्रातिशाख्य में भी, इसका प्रयोग 'सिलेबिल' के अर्थ में हुआ है, अतः इसे स्पष्टरूप में समझ लेना चाहिये।

जब हम बोलते हैं अथवा भाषण देते हैं तो हमारे मुख से एक के बाद दूसरे वाक्य अविच्छिन्नरूप से निकलते हैं। इन वाक्यों में कतिपय ऐसे विशिष्ट स्वन भी होते हैं जो पाश्ववर्ती स्वनों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट सुनाई देते हैं। मातृभाषा में भाषण सुनते समय हमारा सम्पूर्ण ध्यान अर्थ एवं विषयवस्तु पर केन्द्रित रहता है। किन्तु जब हम कोई ऐसी भाषा सुनते है जिसे हम बिल्कुल नहीं जानते तो उस समय हमारा ध्यान अर्थ की ओर नहीं जाता अपितु स्वनों की मुखरता, हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। टेलीफोन पर बात करते समय कुछ स्वन बहुत स्पष्टरूप से सुनाई देते हैं किन्तु अन्य स्वन कम सुनाई पड़ते हैं। जो स्वन अधिक स्पष्टरूप में श्रुतिगोचर होते हैं वे प्रायः स्वर होते हैं। संगीत में आलाप लेते समय स्वर का ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इनका उच्चारण देर तक किया जा सकता है। मुखरता से, वास्तव में, यही तात्पर्य है।

स्वर ही अक्षर [=सिलेबिल] के निर्माण के आधार होते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम हिन्दी के 'धारा' शब्द में उपलब्ध स्वनों को चित्र रूप में प्रदर्शित करें तो यह निम्नलिखित रूप में होगा—

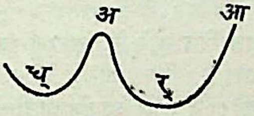

ऊपर के चित्र को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वन अल्पमुखरित हैं (यथा-ध् एवं र्) वे गह्वर का निर्माण करते हैं। किन्तु जो स्पष्टरूप से श्रुतिगोचर एवं मुखर हैं, वे शीर्ष का निर्माण करते हैं। किसी शब्द, वाक्यांश अथवा वाक्य में जितने शिखर होंगे उनमें उतने ही 'अक्षर' (=सिलेबिल) होंगे। चूंकि स्वर व्यंजन की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं, अतः वे शिखर का और व्यंजन गह्वर का निर्माण करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.११.२. यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है। यद्यपि ऊपर के चित्र में, स्वर व्यंजन का चित्र निर्दिष्ट कर दिया गया है किन्तु व्यंजन का कहाँ अन्त होता है तथा का कहाँ से आरम्भ होता है, इसका निर्धारण नितान्त कठिन है। उदाहरणार्थ 'ध' 'र्' में 'आ' इस रूप में संपृक्त है कि इसका निर्धारण करना कठिन है कि कहाँ 'ध' 'र्' व्यंजन-स्वन समाप्त होते हैं और कहाँ से 'आ' स्वर आरम्भ होता है। यद्यपि स्वन अक्षर का निर्माण करते हैं तथापि अक्षर की गणना करते समय व्यंजन-स्वनों भी उसमें समाहित कर लिया जाता है। रोमन वर्णमाला में क् [k], त् [t], प् [वर्ण अक्षर का निर्माण नहीं करते किन्तु ब्राह्मी से प्रसूत सभी लिपियों—नागरी, बंग उड़िया, असमिया, गुजराती, तमिल, मलयालम, तेलुगु एवं कन्नड़ तथा दक्षिण एशि की सिंहली, बर्मी तथा थाई के वर्ण अक्षर का निर्माण करते हैं क्योंकि इन वर्णों में स समाहित रहता है; यथा—

क्+अ=क, च्+अ=च, त्+अ=त।

३.११.३ उपर्युक्त भाषाओं तथा अधिकांश अन्य भाषाओं में भी स्वरों को अक्षर का निर्माणक माना जाता है, किन्तु कई भाषाओं में कतिपय ऐसे व्यंजन भी हैं अक्षर का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के शब्द 'मटन' (mutton=mʌtn तथा 'लिटिल' (little litl) में 'न' (n) एवं 'ल' (l) व्यंजन होते हुए भी अक्षर निर्माण करते हैं क्योंकि ये दोनों स्वन अपने पार्श्ववर्ती स्वनों से अधिक मुखर है डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार संस्कृत के 'र', 'ल' एवं 'म' आक्षरिक हैं।

३.११.४ भाषाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण करते समय 'अक्षर' का भी अध्य प्रस्तुत किया जाता है। अक्षर दो प्रकार के हो सकते हैं— मुक्त और आबद्ध। जि अक्षर के अन्त में स्वर होता है उसे मुक्त तथा जिसके अन्त में व्यंजन होता है उसे आब नाम से अभिहित किया जाता है। अंग्रेजी पुस्तकों में स्वरों को V तथा व्यंजनों को द्वारा द्योतित किया जाता है। हिन्दी में *V* के स्थान पर 'अ' (स्वर) तथा *C* के स्था पर क (व्यंजन) का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी, बँगला, मराठी एवं गुजरा आदि में अधिकांश अक्षर आबद्ध होते हैं किन्तु उड़िया में ये प्रायः मुक्त रहते यथा—

हिन्दी	लाभ्	क अ क
मराठी	लाभ्	क अ क
बंगला	लाभ्	क अ क
उड़िया	लाभ	क अ क अ

३.११.५ अक्षर पर आधारित होने के कारण स्वर स्वन को आक्षरिक तथा व्यंजन को अनाक्षरिक कहा जाता है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, न सभी स्वर आक्षरिक होते हैं और न सभी व्यंजन अनाक्षरिक।

३.११.६ यद्यपि भाषा के विश्लेषण के लिये अक्षरविषयक विचार आवश्य हैं तथापि यंत्र स्वनविज्ञानी प्रायः इसकी सत्ता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे स्व के रेकार्डों में से अक्षर की सीमा खोज नहीं पाते। उनके अनुसार अक्षर काल्पनिक है परन्तु आर० एच० स्टेट्शन ने अपनी स्वनविज्ञान की पुस्तक में इसकी सत्ता स्वीका की है। यह सत्य है कि अक्षर का सम्बन्ध फेफड़ों से निसृत वायु से है किन्तु इ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये हमारे पास मुखरता के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं है। आशा है, भौतिकविज्ञान की उन्नति के साथ-साथ, भविष्य में, किसी ऐसे यंत्र का आविष्कार हो जायेगा जिससे अक्षर-विभाजन की सीमा निर्धारित की जा सके।

३.१२ स्वनों का वर्गीकरण

३.१२.० विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के लिये हम किसी भाषा के स्वनों को निम्नलिखित दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं––

(१) वाक् के खण्ड अथवा खण्डीय स्वन।

(२) वाक् के अधिखण्डीय स्वन।

अधिखण्डीय स्वनों के सम्बन्ध में वागितर स्वनों के अन्तर्गत पीछे लिखा जा चुका है। अब यहाँ खण्डस्वनों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। किसी भाषा की वर्णमाला में उपलब्ध स्वन, खण्ड-स्वनों के अन्तर्गत आते हैं।

३.१२.१ खण्ड-स्वन

३.१२.१.० खण्ड स्वनों के अन्तर्गत भाषा के स्वर एवं व्यंजन स्वन आते है।

वास्तव में स्वर एवं व्यंजन को परिभाषित करना नितान्त कठिन कार्य है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, कई भाषाओं में व्यंजन भी अक्षर का निर्माण करते हैं और वे स्वर वन जाते हैं। इस प्रकार स्वर और व्यंजन के बीच विभाजक-रेखा खींचना अथवा दोनों के भेदक लक्षण देना प्राय: असम्भव है। सार्वभौम रूप में हम स्वर तथा व्यंजन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित कर सकते हैं––

३.१२.१.१ स्वर स्वन, अक्षर का शीर्ष या केन्द्रक होता है। संध्यक्षर में परवर्ती स्वर अनाक्षरिक स्वन के रूप में भी व्यवहृत होता है।

३.१२.१.२ व्यंजन वह वाग्स्वन है जो अक्षर में किसी स्वर अथवा सन्ध्यक्षर के पूर्व गह्वर अथवा परगह्वर के रूप में आता है।

३.१२.१.३ स्वनात्मक धरातल पर कतिपय स्वनविज्ञानियों ने स्वर के लिये 'वोकॉयड' (Vocoid) तथा व्यञ्जन के लिये 'कनट्वायड' (Contoid) शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु स्वनात्मक धरातल पर इसे 'स्वर स्वन', 'व्यंजन स्वन' एवं 'व्यंजन स्वनिम के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त है।

३.१२.१ ४ यहाँ एक बात और स्मरण रखने योग्य है। यद्यपि सार्वभौम दृष्टि से स्वर एवं व्यंजन को परिभाषित करने में कठिनाई है, किन्तु संस्कृत एवं हिन्दी के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वर एवं व्यंजन स्वनों को दृष्टि-पथ में रखकर इनकी परिभाषा देना कठिन नहीं इस दृष्टि से स्वर एवं व्यंजन की परिभाषा निम्नलिखित रूप में होगी––

३.१२.१.५ (१) स्वर––वे स्वन हैं जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में अवरोध उत्पन्न नहीं होता। स्वरों के वैभिन्य का कारण मुख-विवर की विभिन्न मुद्रा जिह्वा के पृथक्-पृथक् भागों का विभिन्न मात्रा में ऊपर उठने पर निर्भर होता है।

हिन्दी के समस्त स्वर सघोष होते हैं। किन्तु कतिपय भाषाओं में ऐसे स्वर पाये जाते हैं जिन्हें सघोष स्वनों के अन्तर्गत वर्गीकृत नहीं किया जा सकता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ऐसे स्वरों में जपित (फुसफुसाहट वाले) स्वरों की गणना जाती है। ये प्रकृत स्वर नहीं हैं।

३.१२.१.६ (२) व्यंजन––वे स्वन हैं जिनके उच्चारण में निर्गत श्वास में क न-कहीं अवरोध अवश्य होता है।

हिन्दी में दो व्यंजन-ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके उच्चारण में अत्यल्प अवरोध है। ये स्वन 'य्' तथा 'व्' हैं। इन्हें अर्द्धस्वर या अर्द्ध व्यंजन कहते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वर तथा व्यंजन की भिन्नता उनकी मुख में निहित है। व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक मुखर होते हैं। इसी मुखरता के का स्वर आक्षरिक होते हैं।

हिन्दी के सभी स्वर सघोष होते हैं किन्तु व्यंजन अघोष-सघोष दोनों होते हिन्दी में पाँचों वर्गों के अन्तिम तीन व्यंजन, पार्श्विक 'ल्' लुंठित 'र्', काकल्य 'ह्' एवं अर्द्ध व्यंजन 'य्', 'व्' सघोष स्वन हैं; शेष अन्य व्यंजन अघोष हैं।

३.१.३ स्वर-स्वनों का वर्गीकरण

३.१.३.० स्वर-स्वनों का वर्गीकरण मुख्यत: तीन आधारों पर किया जाता

(१) जिह्वा के भागों की दृष्टि से,

(२) जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से,

(३) ओठों की आकृति की दृष्टि से।

३.१.३.१ जिह्वा के भागों की दृष्टि से

(१) स्वरों का प्रथम वर्गीकरण जिह्वा के भाग की दृष्टि से किया जाता इस दृष्टि से तीन वर्ग होते हैं––

(i) जिह्वा के अग्रभाग द्वारा उच्चरित अग्रस्वर; यथा––ई, इ, ए, ऐ।

(ii) जिह्वा के पश्च भाग द्वारा उच्चरित पश्चस्वर; यथा––ऊ,उ,ओ,औ,

(iii) जिह्वा के मध्य भाग से उच्चरित केन्द्रीय स्वर; यथा––अ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.१.३.२ जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से

(2) यह वर्गीकरण स्वर-सीमा[1] के भीतर जिह्वा की ऊँचाई की मात्रा पर किया जाता है। स्वरों को इस आधार पर मुख्यतः चार भागों में विभाजित किया जाता है। किन्तु इस दृष्टि से इससे भी अधिक भागों में स्वरों को विभाजित करने में कोई सैद्धान्तिक रोक नहीं है। ब्लाक एवं ट्रैगर ने स्वरों को सात भागों में विभाजित किया है। इसे आगे एक तालिका में प्रस्तुत किया जायेगा। यहाँ पर स्वरों को केवल चार ही भागों में विभाजित करके उनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(i) सम्वृत
(ii) अर्धं सम्वृत
(iii) अर्धं विवृत
(iv) विवृत

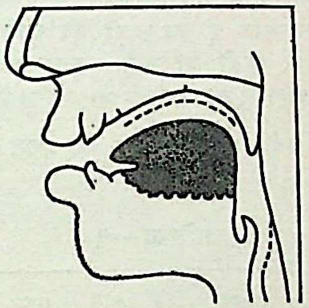

स्वर-सीमा

(i) संवृत—जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य कम-से-कम स्थान खाली रहता है, तब स्वरों को संवृत स्वर कहते हैं; यथा—

अग्र सम्वृत—ई, इ
पश्च सम्वृत—ऊ, उ

(ii) अर्धसम्वृत—जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य संवृत की अपेक्षा-तनिक अधिक स्थान खाली रहता है तब स्वरों को अर्धसम्वृत कहते हैं; यथा—

१. जिह्वा के विभिन्न भागों का उस मात्रा तक उठना जिससे मुख से निसृत होने वाली वायु का कहीं पर अवरोध न हो, स्वर-सीमा कहलाती है। वस्तुतः स्वरों के उच्चारण में जिह्वा केवल एक निश्चित सीमा तक ही ऊपर उठ सकती है। उससे अधिक उठने पर निसृत होने वाली वायु में अवरोध उत्पन्न हो जायेगा। फलतः उस स्थिति में उत्पन्न होने वाले स्वन व्यंजन हो जायेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अग्र अर्धसम्वृत—ए
पश्च अर्धसम्वृत—ओ

(iii) अर्धविवृत—जब जिह्वा और स्वर-सीमा के मध्य विवृत की अ तनिक कम स्थान खाली रहता है तब स्वर को अर्धविवृत कहते हैं; यथा—

अग्रअर्धविवृत—ऐ
पश्चअर्धविवृत—औ

(iv) विवृत—जब जिह्वा तथा स्वर-सीमा के मध्य अधिक-से-अधिक स्थ खाली रहता है तब स्वरों को विवृत कहते हैं; यथा—

अग्र विवृत—हिन्दी में अभाव है
पश्च विवृत—आ

३.१३.३ ओठों की आकृति की दृष्टि से

(3) ओठों की आकृति की दृष्टि से स्वरों के दो वर्ग किये जाते हैं। स्वरों उच्चारण में जब ओंठ गोलाकार हों तब स्वरों को वृत्ताकार कहा जाता है। इ विपरीत जब ओंठ गोलाकार न हों तब उन्हें अवृत्ताकार कहा जाता है। किसी स्वर को वृत्ताकार या अवृत्ताकार करके बोला जा सकता है।

स्वरों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार को अगले पृष्ठ की तालिकाओं के स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका—१

जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से	अग्र		मध्य		पश्च	
	अवृत्ता-कार	वृत्ताकार	अवृत्ता-कार	वृत्ताकार	अवृत्ता-कार	वृत्ता-कार
सम्वृत						
अर्धसंवृत						
अर्धविवृत						
विवृत						

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तालिका २

जिह्वा की ऊँचाई की दृष्टि से	अग्र		मध्य		पश्च	
	अवृत्ताकार	वृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार
उच्च						
निम्न उच्च						
उच्च मध्य						
मध्य						
निम्न मध्य						
उच्च निम्न						
निम्न						

३.१४ मानस्वर

३.१४.० **आवश्यकता**—जब किसी व्यक्ति को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त न्य कोई विदेशी भाषा सीखनी पड़ती है तो उसके लिये उस भाषा के स्वरों के च्चारण-स्थान का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। जहाँ इस प्रकार की षा अध्यापकों से सीखी जाती है वहाँ उच्चारण सीखने में इसलिये कठिनाई नहीं ती कि अध्येता, अध्यापक से शुद्ध उच्चारण को श्रवण द्वारा ग्रहण कर धीरे-धीरे ख लेता है। विदेशी भाषा के स्वरों का उच्चारण सीखते समय अध्येता यह स्पष्टरूप -समझ जाता है कि उसकी मातृभाषा में इनका उच्चारण-स्थान क्या है तथा जिस षा को वह सीख रहा है उसमें इनका उच्चारण-स्थान कहाँ है? इस प्रक्रिया द्वारा विदेशी भाषा का शुद्ध उच्चारण सीखा जा सकता है। किन्तु आज के व्यस्त जीवन लोगों में, विदेशी भाषा अध्यापकों की अपेक्षा स्वयं शिक्षकों से अधिक सीखनी पड़ती और इस प्रकार इनका ज्ञान कानों से अधिक चक्षुओं के माध्यम से ही प्राप्त करना ता है।

इस दशा में विभिन्न भाषाओं के स्वरों के उच्चारण-स्थान का यथार्थ ज्ञान प्राप्त ने के लिये कोई-न-कोई वैज्ञानिक पद्धति आवश्यक है। इसी पद्धति के परिणाम-रूप मानस्वर अस्तित्व में आये हैं। इनके आविष्कर्ता लन्दन विश्वविद्यालय के प्रो०

४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डेनियल जोन्स तथा उनके सहयोगी हैं। अनेक प्रयोगों के पश्चात् ही इनका निश्चित किया गया है। इनकी संख्याएँ आठ हैं।

वस्तुतः ये अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि किसी विशिष्ट भाषा अथवा भाषा स्वर नहीं हैं अपितु ये अमूर्त स्वन हैं तथा विभिन्न भाषाओं के स्वरों के स्थान नि करने में ये मापदण्ड का काम करते हैं।

३.१४.१ मानस्वर निर्धारित करने की विधि—मानस्वर अऽ (a) के उच्चारण में जिह्वा प्रायः शायित अवस्था में रहती है, किन्तु इसका अग्रभाग किंचित् उठा है। इस अवस्था के बाद, जब जिह्वा के अग्रभाग को ऊपर उठाकर कठोर तालु के स्थान तक ले जाते हैं, जहाँ तक किसी प्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता मानस्वर 'ई' (i) का स्थान होता है।

(२) इसी प्रकार मानस्वर 'आ' (a) के उच्चारण में जिह्वा प्रायः प्रकृता में रहती है किन्तु उसका पिछला भाग किंचित् उठा रहता है। इस अवस्था के बाद जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर उठाकर कोमल तालु के उस उच्च स्थान तक ले हैं जहाँ किसी प्रकार का संघर्ष अथवा अवरोध नहीं होता तो यह मानस्वर 'ऊ' (स्थान होता है।

(3) जिह्वा के अग्रभाग 'ई' तथा अऽ' बिन्दुओं एवं पश्चभाग के 'ऊ' तथा बिन्दुओं को मिलाकर जो रूप बनता है उसे अर्धं विवृत एवं अर्धसम्वृत रूप में से चार मानस्वर और बनते हैं। ये इस प्रकार हैं—

जिह्वा के अग्रभान के आधार पर

अर्धसम्वृत अग्रस्वर—'ए' (e)
अर्थं विवृत अग्रस्वर—ऐ (E)

जिह्वा के पश्चभाग के आधार पर

अर्धसम्वृत पश्चस्वर—ओ (o)
अर्थं विवृत पश्चस्वर—औ (C)

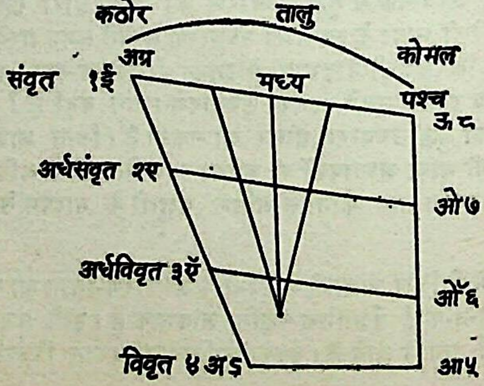

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ स्वर ऐसे भी हैं जिनका उच्चारण जिह्वा के मध्यभाग के कोमक तालु की र स्वर-सीमा तक विभिन्न मात्रा में ऊपर उठने के आधार पर होता है। जैसा कि र कहा जा चुका है, ये केन्द्रीय या मध्य स्वर कहलाते हैं।

मानस्वरों को प्राय: निम्नलिखित चतुष्कोण में दिखाया जाता है, यद्यपि भाषा-ज्ञान की पुस्तकों में, परम्परा से, इसे त्रिकोण कहा जाता है।

३.१४.२ गौण मानस्वर

ऊपर आठ मानस्वरों का उल्लेख हो चुका है। इन्हीं मानस्वरों के समान अन्य र भी उल्लेखनीय हैं। इन्हें भाषाविज्ञानियों ने गौण मानस्वर के नाम से अभिहित ा है।

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, ओठों की आकृति की दृष्टि से स्वरों को र्गों—वृत्ताकार तथा अवृत्ताकार—में विभाजित किया जा सकता है। प्राय: संसार भाषाओं में अग्रस्वर अवृत्ताकार तथा पश्चस्वर वृत्ताकार रूप में ही उच्चरित होते किन्तु अनेक भाषाओं में अग्रस्वरों को वृत्ताकार तथा पश्चस्वरों को अवृत्ताकार रूप च्चरित किया जाता है। इन स्वरों को भाषाविज्ञानी "गौण मानस्वर' कहते हैं। त: ये गौण मानस्वर एक दूसरे के आरोप से बनते हैं, अर्थात् जब अग्र मानस्वरों के ारण में ओठों की स्थिति पर पश्चमानस्वरों के उच्चारण में ओठों की स्थिति का ोप किया जाता है तब 'अग्र गौण मानस्वर' बनते हैं। इस प्रकार जब पश्चमान-ों के उच्चारण में ओठों की स्थिति पर अग्र मानस्वरों के उच्चारण में ओठों की ति का आरोप किया जाता है तब 'पश्च गौणमानस्वर बनते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रकार आठ गौण मानस्वर बनने चाहिये, किन्तु भाषा-ानी सात ही 'गौण मानस्वरों का उल्लेख करते हैं', क्योंकि संसार की किसी भी ा में, अर्धविवृत अग्रस्वर पर पश्चस्वर की ओठोंकी स्थिति का आरोप किये हुए रूप ोई भी स्वर प्राप्त नहीं है। इसीलिये भाषाविज्ञानियों ने सात ही गौण मानस्वरों के -चिह्नों को माना है। गौण मानस्वरों को मानस्वरों की भाँति ही, नीचे, चतुष्कोण ्तुत किया जा रहा है। इसके साथ ही उन लिपि-चिह्नों को भी दिया जा रहा है प्राय: सभी भाषाविज्ञानी स्वीकार करते हैं।

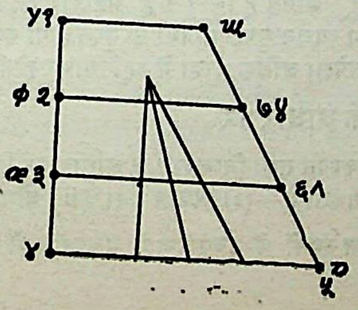

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.१५ व्यंजन स्वनों का वर्गीकरण

3.15.0. व्यंजन स्वनों के वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार हैं--

[क] प्राणत्व के आधार पर

[ख] स्वर-तंत्रियों के आधार पर

[ग] उच्चारण-स्थान के आधार पर

[घ] उच्चारण प्रयत्न के आधार पर

3.15.1. प्राणत्व के आधार पर

प्राणत्व के आधार पर व्यंजन स्वनों के दो वर्ग किये जा सकते हैं--

(i) अल्पप्राण, (ii) महाप्राण ।

भारतीय लिपियों—नागरी, बँगला, उड़िया, असमिय आदि में वर्णों की का क्रम इस रूप में है कि वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण अल्पप्राण तथा द्वि चतुर्थ वर्ण महाप्राण हैं; यथा—'क्' एवं 'ग्' वर्ण अल्पप्राण तथा 'ख्' एवं 'घ्' हैं। इसीरूप में च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग एवं प वर्ग के वर्ण भी सजे हुए हैं। 'छ्', 'झ्' आदि वर्णों के उच्चारण में हल्के रूप में ह् स्वन भी श्रुतिगोचर वास्तव में यह हकार ही प्राणत्व को द्योतित करता है।

अमेरिका के कतिपय भाषा विज्ञानी 'ख्', 'छ्', 'झ्' आदि महाप्राण 'क्+ह्', 'च्+ह्' एवं 'ज्+ह्' का व्यंजन-गुच्छ मानते हैं। वास्तव में 'ख्', आदि में 'ह्' इतने घनिष्ट रूप में सम्पृक्त है कि इनका व्यंजन-गुच्छ के रूप में करना अवांछनीय है । ख, छ, झ आदि महाप्राण स्वनों में 'ह्' की पृथक् सत्ता ये अखण्ड स्वन हैं और इसी रूप में इनका विश्लेषण करना समीचीन होगा। अल्पप्राण एवं महाप्राण स्वन इस प्रकार हैं—

अल्पप्राण—प्, ब्, त्, द्, ट्, ड्, च्, ज्, क्, ग्, स्, श्, ङ्, ञ्, ण्, न्, य्, व् आदि ।

महाप्राण—फ्, भ्, थ्, ध्, ठ्, ढ्, छ्, झ्, ख्, घ्, ह् एवं ढ़ ।

कतिपय भाषा विज्ञानी 'म्', 'न्', 'ल्', 'र्' अल्पप्राण स्वनों के मह 'म्ह्', 'न्ह्', 'ल्ह्', 'र्ह्' मानते हैं किन्तु इन्हें महाप्राण की अपेक्षा म्+ह्, ल्+ह् तथा र्+ह् का व्यंजन-गुच्छ मानेंगा उपयुक्त होगा क्योंकि इनमें 'ह्' महाप्राण के हकार की अपेक्षा अधिक मात्रा में श्रुतिगोचर होती है।

3.15.2. स्वरतंत्रियों के आधार पर

स्वरतंत्रियों के कम्पन तथा निष्कम्पन के आधार पर हिन्दी के वर्णों को में विभाजित किया जा सकता है—(i) अघोष तथा (ii) घोष या सघोष।

(i) जिन व्यंजन स्वनों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन नहीं अघोष कहलाते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ii) घोष या सघोष—अघोष स्वनों के विपरीत जिन व्यंजन स्वनों के उच्चा- में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है वे घोष अथवा सघोष कहलाते हैं।

हिन्दी में अघोष तथा घोष या सघोष स्वन इस प्रकार हैं—

अघोष—पाँचों वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण-स्वन, स, ह, एवं विसर्ग [:] ोष स्वन हैं, शेष घोष या सघोष स्वन हैं प्, फ्, त्, थ्, ट् ठ्, च् छ्, क ख।

घोष या सघोष—

ब् भ्, द् ध्, ड्, ढ्, ज् झ्, ग् घ्, म्, न्, ण्, ञ्, ङ्, य, र, ल, व, ड़्, ढ़्, ह्।

५.३. उच्चारण स्थान के आधार पर

उच्चारण-स्थान से उस स्थान से तात्पर्य है जहाँ निर्गत वायु का अवरोध होता उच्चारण स्थानों के आधार पर व्यंजन स्वनों को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत ा जा सकता है—

(१) द्वयोष्ठ्य
(२) दन्त्योष्ठ्य
(३) दन्त्य
(४) वर्त्स्य
(५) कठोर तालव्य [तालव्य]
(६) मूर्धन्य
(७) कोमल तालव्य या कंठ्य
(८) अलिजिह्वीय
(९) काकल्य

१. द्वयोष्ठ्य—जब स्वनों के उच्चारण में निचला ओंठ ऊपर के ओंठ से सम्पर्क ित करके वायु को अवरुद्ध करता है, तब उच्चरित स्वन, द्वयोष्ठय कहलाते हैं। लिखित हिन्दी वर्ण स्वन इसके अन्तर्गत आते हैं—

प्, फ्, ब्, भ्, म्, व्।

२. दन्त्योष्ठय—जब स्वनों के उच्चारण में नीचे का ओंठ, ऊपरी दन्त पंक्ति के ा वाले दाँत से सम्पर्क स्थापित करके वायु का अवरोध करता है, तब उच्चरित स्वन ष्ठय कहलाते हैं।

हिन्दी के निम्नलिखित वर्ण स्वन दन्त्योष्ठय हैं—
फ्, व्।

३. दन्त्य—जब स्वनों के उच्चारण में जिह्वा की नोंक, ऊपरी दन्तपंक्ति के वाले दाँत से सम्बद्ध होकर वायु का अवरोध करती है, तब उच्चरित वर्ण-स्वन कहलाते हैं।

हिन्दी के निम्नलिखित वर्ण स्वन दन्त्य हैं—
त्, थ्, द्, ध्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४, वर्त्स्य—जब स्वनों के उच्चारण में जिह्वा की नोक, दन्त-पंक्तियों के हिस्से मसूढ़े से सम्बद्ध होकर वायु को अवरुद्ध करती है, तब उच्चरित स्वन कहलाता है।

हिन्दी के निम्नलिखित स्वन वर्त्स्य हैं—

न्, ल्, र, स् ।

५. कठोरतालव्य (तालव्य)—जब स्वनों के उच्चारण में जिह्वा का कठोर तालु को स्पर्श करके निर्गत वायु को अवरुद्ध करता है तब उच्चरित स्वन तालव्य या सामान्यतः तालव्य कहलाता है।

हिन्दी के निम्नलिखित स्वन तालव्य हैं—

च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श्, य् ।

६. मूर्धन्य—जब स्वनों के उच्चारण में जिह्वा की नोंक उलटकर तथा मू संस्पर्श कर वायु-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है, तब उच्चरित स्वन मूर्धन्य कहला

हिन्दी के निम्नलिखित स्वन मूर्धन्य हैं—

ट्, ठ् ।

नोट—संस्कृत में 'ष्' का उच्चारण मूर्धन्य होता था। आज भी महा संस्कृत के पंडित इसका मूर्धन्य उच्चारण करते हैं। मिथिला, बंगाल तथा इसका उच्चारण कंठ्य 'ख' के रूप में होता है। वाराणसी के संस्कृत के विद्वान् उच्चारण 'श्' के रूप में करते हैं। हिन्दी में इसका यही उच्चारण शिष्ट बन गया

७. कोमल तालव्य या कंठ्य—जब स्वनों के उच्चारण से जिह्वा का भाग, कोमल तालु के सम्पर्क में आकर वायु को अवरुद्ध करता है, तब उच्चरि कंठ्य कहलाते हैं। इन स्वनों का उच्चारण स्थान, हिन्दी में, कोमलतालु है, कोमलतालव्य स्वनों के नाम से अभिहित करना चाहिये। पाणिनीय शिक्षा के हिन्दी में भी इन्हें, परम्परा से, कंठ्य कहा जाता है।

हिन्दी में कोमलतालव्य स्वन निम्नलिखित हैं—

क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह् ।

८. अलिजिह्वीय—जब जिह्वा का पश्च या जिह्वा का मूल भाग अलि कौवा के पार्श्व-प्रदेश के सम्पर्क में आकर वायु-प्रवाह को अवरुद्ध करता है, त जिह्वीय स्वन उच्चरित होते हैं।

हिन्दी में अलिजिह्वीय स्वनों का अभाव है। अरबी की 'क़्', 'ग़्' ध्वनि जिह्वीय हैं। बंगलादेश के लोग 'ह्' का अलिजिह्वीय उच्चारण करते हैं।

९. काकल्य—जिन स्वनों के उच्चारण में, स्वरयंत्र से निर्गत वायु मुख करती हुई निकलती है, उन्हें काकल्य नाम से अभिहित किया जाता है। इनके के समय मुखद्वार खुला रहता है।

हिन्दी में केवल 'ह्' काकल्य 'स्वन' है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१५.४. उच्चारण प्रयत्न के आधार पर

विभिन्न व्यंजनों के उच्चारण में स्वन-यंत्र [= ध्वनि यंत्र] के विभिन्न अवयवों को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस प्रयत्न-काल में निर्गत वायु के अवरोध की क्रिया घटित होती है। इस अवरोध-प्रकृति के आधार पर समस्त व्यंजनों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है--

(i) पूर्णत: अवरोधी,
(ii) आंशिक अवरोधी।

१५.५. पूर्णत: अवरोधी

जब निर्गत श्वास का पूर्ण अवरोध होता है तो स्वन पूर्णत: अवरोधी कहलाते हैं। इन अवरोधी स्वनों को भी उच्चारण प्रयत्न के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) स्पर्श,
(ख) स्पर्श संघर्षी।

(क) स्पर्श—जब निर्गत श्वास एक स्फोट के साथ बाहर निकलती है तब इन स्फोट स्वनों को स्पर्श स्वन कहते हैं। इन स्वनों के उच्चारण में श्वास, एक क्षण मात्र के लिये, पूर्ण अवरोध के साथ कहीं-न-कहीं अवश्य रुकती है।
हिन्दी के निम्नलिखित स्वन स्पर्श हैं—

प्, त्, ट्, क्
फ्, थ्, ठ्, ख्
ब्, द्, ड्, ग्
भ्, ध्, ढ्, घ्।

(ख) स्पर्श-संघर्षी—स्पर्श-संघर्षी स्वनों के उच्चारण में, स्पर्श-व्यंजनों की भाँति निर्गत श्वास एक क्षण के लिये पूर्णतया अवरुद्ध होती है किन्तु इनके निष्कासन के समय वायु संघर्षण के साथ निकलती है।

हिन्दी के स्पर्श-संघर्षी स्वन इस प्रकार हैं—

च्, छ्, ज्, झ्।

१५.६. आंशिक अवरोध

जिन व्यंजन-स्वनों के उच्चारण में निर्गत वायु का पूर्णरूप से अवरोध नहीं होता है वे आंशिक अवरोधी कहलाते हैं। इन्हें मुख्यरूप से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है--

(क) नासिका
(ख) संघर्षी
(ग) लुंठित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(घ) पार्श्विक
(ङ) उत्क्षिप्त
(च) अर्ध-स्वर

(क) नासिका—नासिका स्वनों के उच्चारच में, वायु-प्रवाह, कोमलता नीचे झुक जाने के कारण नासिका-विवर से निकल जाता है।

हिन्दी के नासिका-स्वन निम्नलिखित हैं—

ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

(ख) संघर्षी—संघर्षी व्यंजन स्वनों के उच्चारण में, निर्गत वायु का, पूर्ण अवरोध नहीं होता है। इन स्वनों के उच्चारण में, श्वास निकलने का मार्ग किंचित् रहता है, फलतः वायु रगड़ खाकर बाहर निकलती है।

हिन्दी के संघर्षी व्यंजन इस प्रकार हैं—

स्, श्, ह् (फ़्, ख़्, ग़्, ज़्)।

(ग) लुंठित—लुंठित स्वनों के उच्चारण में, जिह्वा की नोंक कई बार है। जिह्वा की नोंक द्वारा मसूढ़े (वर्त्स्य) पर एक या कई बार टक्कर मारने से या लोड़ित स्वन उच्चरित होते हैं।

हिन्दी में केवल एक लुंठित व्यंजन 'र्' है।

(घ) पार्श्विक—पार्श्विक व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा की नोंक ऊपरी से लगी रहती है; इसके परिमामस्वरूप जिह्वा का एक पार्श्व या दोनों पार्श्व खुले हैं और निर्गतवायु, इन्हीं पार्श्वों से बाहर निकलती है। इस अवस्था में उच्चरित पार्श्विक कहलाते हैं।

हिन्दी में केवल एक मात्र पार्श्विक स्वन 'ल्' है।

(ङ) उत्क्षिप्त—उत्क्षिप्त व्यंजन स्वन का उच्चारण, जिह्वा की नोंक को कर, निचले भाग से कठोरतालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छू कर किया जात

हिन्दी में उत्क्षिप्त स्वन ड़् एवं ढ़् हैं।

(च) अर्ध स्वर—हिन्दी में 'य्' तथा 'व्' अर्ध स्वर हैं। ये घोष श्रुति (स्वन हैं। इनके उच्चारण में उच्चारण अवयव निर्बल एवं अपेक्षाकृत कम मुखर स्थान से आरम्भ होकर एकदम समान या अधिक मुखर स्वर-स्थान की ओर मुड़ते

अवरोध के आधार पर अर्द्ध स्वरों को स्वर एवं व्यंजन के बीच का मा सकता है। जिस प्रकार इन्हें अर्द्ध स्वर कहा जाता है उसी प्रकार इन्हें अर्द्ध भी माना जा सकता है। 'य्' के उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग, कठोरतालु की स्वर-सीमा से ऊपर तथा अन्य व्यंजनों की अपेक्षा कम उठता है। 'य्' के उच्चार समय दोनों ओठ तथा 'व्' के उच्चारण में नीचे का ओठ ऊपरी दंत-पंक्ति के वाले दात का सम्पर्क करता है। यह सम्पर्क इस रूप में होता है कि निर्गत वा नकलने के लिये कुछ स्थान छूट जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ यह उल्लेखनीय हैं किसी भी व्यंजन का वर्णन करते समय ऊपर के चारों आधारों को दृष्टि-पथ में रखना पड़ता है—

(१) व्यंजन के उच्चारण के समय स्वर-तंत्रियाँ किस अवस्था में हैं ? दूसरे शब्दों में व्यंजन स्वन 'अघोष' है अथवा 'घोष'।

(२) व्यंजन के उच्चारण के समय प्राणत्व किस रूप में है ? दूसरे शब्दों में व्यंजन स्वन अल्प-प्राण है अथवा महाप्राण।

(३) व्यंजन के उच्चारण के समय किस स्थान पर अवरोध हो रहा है। दूसरे शब्दों में उसका उच्चारण-स्थान क्या है ?

(४) उच्चारण करते समय व्यंजन स्वन का अवरोध किस रूप में होता है ? दूसरे शब्दों में उसका उच्चारण-प्रयत्न क्या है ?

३.१६ स्वन गुण

ऊपर स्वन विज्ञान के अन्तर्गत, अभी तक, स्वनों का विखण्डित अध्ययन प्रस्तुत किया गया। इस अध्ययन के प्रमुख तत्व, स्वनों की प्रकृति एवं उनके प्रयत्न, स्वर-व्यंजन का विभिन्न रूपों में वर्गीकरण एवं वाग्यंत्र का वर्णन था। किन्तु यदि हम गहराई से विचार करें तो ज्ञात होगा कि स्वर-व्यंजन के अतिरिक्त, भाषा में कतिपय अन्य ऐसे तत्व भी हैं जिनका उसे मूर्तरूप देने में बहुत बड़ा हाथ है। जब कोई व्यक्ति भाषण देता है अथवा जब कतिपय व्यक्ति परस्पर वाद-विवाद अथवा वार्त्तालाप में संलग्न होते हैं तब उनके मुख से, एक के बाद दूसरे वाक्य अविच्छिन्न रूप से निस्टत होते हैं। इन वाक्यों में से कुछ तो हलके-फुलके ढंग से उच्चरित होते हैं, किन्तु अन्य वाक्यों के अक्षरों पर काफी बल होता है। भाषा को मूर्त्तरूप देने वाले इन तत्वों को भाषा-विज्ञानी स्वन गुण, रागतत्व (Psosodic features) अथवा अभिखण्डीय अभिलक्षण (Supra segmental features) के नाम से अभिहित करते हैं।

संसार की भाषाओं में प्राय: निम्नलिखित स्वन-गुणों का प्रयोग होता है—

(क) दीर्घता,

(ख) बलाघात,

(ग) सुर,

(घ) अनुतान।

३.१७ दीर्घता

प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों ने ह्रस्वता एवं दीर्घता का विवेचन मात्रा के आधार पर किया है। उन्होंने एक मात्रा वाले स्वन को ह्रस्व, दो मात्रा वाले को दीर्घ तथा इससे अधिक मात्रा वाले को प्लुत कहा है। इस वर्गीकरण का आधार स्वनों के उच्चारण का मात्रा-काल है। लोगों की यह धारण है कि दीर्घ स्वन के उच्चारण में ह्रस्व की अपेक्षा दुगुना समय लगता है तथा प्लुत के उच्चारण का मात्रा-काल ह्रस्व की अपेक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तिगुना अथवा उससे अधिक होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह धारणा है तथा इसमें सत्य का अभाव है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि की अपेक्षा दीर्घ एवं प्लुत का मात्रा-काल अधिक होता है।

संस्कृत तथा हिन्दी स्वनों का ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत रूप में विभाजन मोटे पर ठीक ही है और इन्हें इसी रूप में ग्रहण भी करना चाहिये।

हिन्दी में दीर्घत्व प्रायः स्वनिक ही होता है, किन्तु कभी-कभी यह स्वनि (ध्वनिग्रामिक) भी होता है; यथा—बिना–बीना, दिन–दीन, कम–काम। उदाहरणों में दीर्घत्व स्वनिमिक हैं। क्योंकि इसके कारण अर्थ में विभेद उत्पन्न हो जा है। विश्व में अनेक ऐसी भाषाएँ है जिनमें दीर्घत्व स्वनिमिक है।

प्लुत का व्यवहार किसी व्यक्ति को दूर से बुलाने के लिये होता है।

३.१८ स्वनों की दीर्घता उनकी प्रकृति तथा वितरण पर निर्भर करती है विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि स्वरों में सबसे अधिक दीर्घता होती है। इसके संघर्षी स्वनों का स्थान आता है। इसका कारण यह है कि ये प्रवहमान होते हैं इनका उच्चारण बहुत देर तक किया जा सकता है। पार्श्विक, अनुनासिक तथा लु स्वन संघर्षी स्वनों की अपेक्षा कम तथा स्पर्श एवं उत्क्षिप्त स्वनों की अपेक्षा अधि लम्बे होते हैं। स्पर्श स्वनों का स्फोट तथा उत्क्षिप्त स्वनों का उत्क्षेप इतना क्षण-स्था होता है कि स्वन विज्ञान में उनकी ह्रस्व तथा दीर्घता का विचार नहीं किया जाता।

३.१९ द्वित्व व्यंजन

हिन्दी तथा अन्य अधिकांश भारतीय भाषाओं में दीर्घ व्यंजनों को व्यक्त क के लिये उन्हें द्वित्व रूप में लिखा जाता है। हिन्दी में दीर्घता का न केवल लिखित ही मिलता है अपितु उच्चारण भी दीर्घ होता है। व्यंजनों के इस दीर्घ उच्चारण कारण अर्थ भेद भी हो जाता है; यथा—

{ गदा——अस्त्र विशेष
{ गद्दा——पलँग पर बिछाने का गद्दा।

{ पता——ठिकाना
{ पत्ता—वृक्ष पत्र।

{ गला——कंठ,
{ गल्ला—अनाज का गल्ला।

{ बली——शक्तिमान,
{ बल्ली——लकड़ी।

३.२० दीर्घता तथा द्वित्व में अन्तर

ऊपर दीर्घता एवं द्वित्व के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। अब इन दोनों अन्तर पर भी विचार करना आवश्यक है। वास्तव में दीर्घता से तात्पर्य है किसी स्व (=ध्वनि) का अविभाज्य रूप में लम्बा होना, किन्तु द्वित्व का अर्थ है किसी स्वन दुहरा उच्चारण करना। उदाहरणार्थ 'राम्' के उच्चारण में 'र+आ+म्' स्वनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उच्चारण अविभाज्य रूप में होता है। किन्तु 'कच्चा' के उच्चारण में 'क्+अ+च्+च्+आ' रूप में होता है। इस प्रकार यहाँ 'च्' स्वन का उच्चारण दुहरा होता है।

३.२१ बलाघात

जब हम अविच्छिन्न रूप में कोई भाषा बोलते हैं तो उसमें एक अनुक्रम होता है और शब्दों के कई अक्षरों (= सिलेबिलों) को बल के साथ उच्चरित करना पड़ता है। जिन अक्षरों पर बल पड़ता है, उन्हें बलाघात पड़ना कहते हैं। यह भी सापेक्षिक होता है तथा बलाघात वाला अक्षर अन्य अक्षरों की अपेक्षा सशक्त एवं सबल होता है। बलाघात वाले स्वन के पूर्व एक लघु खड़ी रेखा (।) का प्रयोग किया जाता है। निर्बल स्वनों के लिये किसी प्रकार के चिह्न की आवश्यकता नहीं होती। हिन्दी के निम्नलिखित शब्दों में बलाघात को प्रदर्शित किया गया है—

। पटल
। जलज
। भ्रमर
वि । शाल
आ । घात
पुस्त । कालय

हिन्दी में शब्द-स्तर पर उपलब्ध बलाघात का यह उपयोग है कि इसके कारण शब्दों के सहज उच्चारण में सहायता मिलती है।

३.२२ हिन्दी में शब्द-स्तर की अपेक्षा वाक्य-स्तर पर बलाघात का अधिक महत्व है। बलाघात को कभी-कभी १, २, ३, ४ संख्याओं द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है।

३.२३ सुर

किसी भाषा में सुर का विवेचन घोष या सघोष स्वनों के सन्दर्भ में ही किया जाता है। क्योंकि घोष स्वनों के उच्चारण में ही स्वरतंत्रियों में कम्पन उत्पन्न होता है। इस कम्पन के न्यूनाधिक चढ़ाव-उतार या आरोह-अवरोह के कारण ही 'सुर' का निर्माण होता है। भाषा में घोष एवं अघोष, दोनों प्रकार के स्वन रहते हैं किन्तु सापेक्षिक दृष्टि से घोष स्वनों की संख्या अधिक होती है। अतएव सुर की दृष्टि से सम्पूर्ण वाक्य को ही एक इकाई के रूप में लिया जाता है। भाषा में सुर का अत्यधिक महत्व है। यह उल्लेखनीय है कि जब बँगला, उड़िया, मगही, मैथिलि, भोजपुरी ब्रज एवं अवधी भाषी साधु हिन्दी बोलते हैं तब उनके उच्चारण-सुर में किंचित अन्तर आ जाता है जिसके कारण परिनिष्ठित हिन्दी बोलने वाले पछाँही लोगों को यह समझने में देर नहीं लगती कि इनकी मातृभाषा क्या है तथा ये किस प्रदेश के निवासी हैं।

शब्द-स्तर पर कार्य करने वाले सुर को 'तान' (टोन) कहा जाता है। तान-युक्त (टोनल) भाषाओं में सुर के उच्च, निम्न अथवा सम होने से शब्दों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। तान की भी अनेक कोटियाँ हो सकती हैं। इनमें चार पाँच प्रमुख कोटियों का चयन कर लिया जाता है। तानयुक्त भाषाओं में चीनी भा का स्थान है। शब्द स्तर पर वैदिक भाषा में भी 'सुर' या 'तान मिलता है। 'उदात्त', 'अनुदात्त' एवं स्वरित्त, तीन सुर उपलब्ध हैं और इनके परिवर्तन से शब्दा परिवतिति हो जाता है, यथा—आद्युदात्त 'ब्रह्मन' शब्द नपुंसक लिङ्ग है और इसः अर्थ है 'प्रार्थना' किन्तु यही शब्द अन्तोदात्त होने पर पुलिङ्ग हो जाता है और इ इसका अर्थ होता है 'स्तोता'।

३.२४ अनुतान

वाक्य-स्तर पर कार्य करने वाला सुर अनुतान (इंटोनेशन) कहलाता है। अनुतान के निर्देश के लिये वाक्य के सुर स्तरों के अतिरिक्त उसके अन्त्यर का उल्लेख करना होता है। वाक्य के अन्त की सुर-धारा का स्वरूप अन्त्यर (Terminal contour) कहलाता है। सुर के साथ-साथ इसमें बल का परिवर्तन भी होता है। अन्त्यर के तीन भेद हैं—अवरोही अन्त्यर में घोष अत्यन्त क्षीणता के साथ समाप्त हो जाता है, । सुर एवं बल, दोनों ही, तीव्रगति से लुप्त हो जाते हैं। आरोही अन्त्यर में, सुर झटके से, क्षिप्रता के साथ, थोड़ा उठ जाता है, बल अपेक्षाकृत शीघ्रता के साथ समाप्त हो जाता है, यद्यपि उसका ह्रास अधिक स्पष्ट नहीं होता। सम अन्त्यर में सुर यथावत सुरक्षित रहता है, अन्तिम वर्ण में कुछ दीर्घता आ जाती है और बल कुछ कम हो जाता है। इन्हें प्रर्दशित करने को लिये क्रमशः—प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है।

निम्नलिखित वाक्यों में अनुतानों का भेद द्रष्टव्य है। यह इलाहावाद की अवधी का उदाहरण हैं—

(१) २ तूं + २ घरे + २ जाथये (सामान्य कथन)
(२) ३ तूं + २ घरे + २ जाथये (तुन घर जा रहे हो अन्य कोई नहीं)
(३) २ तूं + ३ घरे + २ जाथये (तुम क्या घर जा रहे हो ?)
(४) २ तूं + २ घरे + ३ जा + थये (तुम घर जा रहे हो क्या ?)

इसी को हम, निम्न ढंग से प्रदक्षित कर सकते हैं :

(१) २ तूं + २ घरे + २ जाथय ?
३ तूं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४

स्वनिम-विज्ञान

४.१.० स्वन-विज्ञान के अन्तर्गत स्वनों के सैद्धान्तिक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जब हम किसी भाषा की स्वन व्यवस्था का अध्ययन करते हैं तो उसमें स्वनों की आपरिमित संख्या उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ—यदि हम हिन्दी के पल, 'पल्ला, पलक, पकवान, लपक, धपक नाप, चाप शब्दों में प्-स्वन का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी शब्दों में प् के उच्चारण में किंचित् अन्तर है, किन्तु इनके व्याकरणिक अन्तरों पर ध्यान न देते हुए हम 'प्' को एक वर्णरूप में ही स्वीकार कर लेते हैं। यही बात हिन्दी के अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी है। विश्व की प्राचीन भाषाओं—संस्कृत, अरवी, ग्रीक आदि—की लिखावट के लिए जब वर्णों की उद्भावना की गयी होगी तो इस रूप में अनावश्यक स्वनों का परित्याग कर तथा परमावश्यक स्वनों को ग्रहण कर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया होगा। इस व्यवस्था का आधार भी भेदक स्वन रहे होंगे जिनके सम्बन्ध में हमें आज निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। इन प्राचीन भाषाओं में इन वर्णों के आधार पर ही "वर्णिम विज्ञान", रूपिम विज्ञान तथा व्याकरण के अन्य घटकों का निर्माण हुआ हैं।

४.१.१ वास्तविक स्थिति यह है कि इस वर्णिम विज्ञान का श्रेय विश्व की उन प्राचीन जातियों को है जिन्होंने सभ्यता एवं संस्कृति के प्रकाश को सर्वप्रथम विश्व में विकीर्ण किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चीन में, वर्णिम विज्ञान की उद्भावना न हो सकी। अतएव वहाँ उच्चारण एवं लिखावट में किसी प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित न हो सका और वहाँ वर्णों के स्थान पर विविध प्रतीकों का प्रयोग हुआ। यही प्रतीक जापान एवं कोरिया में प्रयुक्त हुए। परम्परानुसार, भारत में, वर्णों के उद्भावक भगवान् शंकर माने जाते हैं। उन्होंने नृत्य के अनन्तर अपने ढक्का (डमरू) को चौदह बार बजाया जिससे पाणिनि के चौदह सूत्र निर्मित हुए। इन्हीं सूत्रों के अन्तर्गत लौकिक संस्कृत के सभी वर्णों का समावेश हुआ और आगे चलकर इन्हीं के आधार पर संस्कृत व्याकरण के भवन का निर्माण हुआ।

४.१.२ प्राचीनकाल के विज्ञानियों का वर्णिम ही आज के भाषा के स्वनिम हैं। स्वनिम विज्ञान के अन्तर्गत इन्हीं के सम्बन्ध में सम्यक् विचार किया जायेगा।

४.२ स्वनिम की आवश्यकता

४.२.० यूरोप तथा अमेरिका में भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन का समारम्भ स्वनों के सूक्ष्म अध्ययन से हुआ था। आज से कई वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद् (आई० पी० ए०) ने रोमन लिपि में अनेक नये चिह्न लगाकर एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिनव लिपि का निर्माण किया था। इसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसी लिपि का निर्
था जिसमें विश्व की समस्त भाषाएँ एवं बोलियाँ लिखी जा सकें। इसमें मा
वाग्यन्त्र से उच्चरित सभी स्वनों (ध्वनियों) के लिए चिह्न बनाये गये। लग
एक अर्द्ध शताब्दी तक वाग्-स्वनों (वाग्-ध्वनियों) के सूक्ष्म अध्ययन एवं विश्ले
के पश्चात् सन् 1920 ई० के आस-पास, यह स्पष्ट हो गया कि स्वनविज्ञानी
उद्देश्य में असफल रहे। इसका कारण यह था कि विश्व की विविध भाषाओं
मानव वाग्-यन्त्र के उच्चारण-स्थानों—कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त आदि—से उच्च
सुर एवं तान युक्त अनेक ऐसे सूक्ष्म स्वन उपलब्ध हुए जिन्हें पृथक कर,
लिए नये चिन्हों का निर्माण असम्भव हो गया। प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी हेनरी स
ने विश्व की अनेक भाषाओं से एक सौ बीस प्रकार के केवल व्यंजन स्वनों को खो
कर वास्तव में अद्भुत कार्य किथा किन्तु सम्भावित स्वनों की खोज में स्वीट भी अस
रहे। उधर भाषाओं एवं बोलियों के अध्ययन का क्रम ज्यों-ज्यों अग्रसर होता
त्यों-त्यों अनेक नूतन स्वन उपलब्ध होते गये और इस प्रकार स्वनविज्ञानियों
अध्ययन का आयाम अत्यन्त विस्तृत होता गया।

कालान्तर में कतिपय स्वनविज्ञानी इस अध्ययन से निराश हो गये और
यह अनुभव हुआ कि इस प्रकार स्वनों के अध्ययन, वर्गीकरण एवं अंकन (प्रतिलेख
में वे पूर्णतया कभी भी सफल न हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार की निराशा का
कारण न था। बात यह है कि शीघ्र ही भाषाविज्ञानियों ने इस तथ्य का अनुभ
किया कि भाषा-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य भाषा की संरचना का अध्ययन क
था। इस सम्बन्ध में यूरोप तथा अमेरिका के भाषाविज्ञानी स्वतंत्र चिन्तन के द्व
सन् 1920 ई० में इस परिणाम पर पहुँचे कि किसी भाषा की स्वनात्मक व्यव
में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसकी कार्यकारी इकाई स्वनिमों (फोनीमा) की प्रा
तथा उनके पारस्पारिक सम्बन्धों की खोज है न कि किसी वाग्-स्वन का सूक्ष्म
अध्ययन।

४.२.१ इस अध्ययन का श्रेय प्राहा विचारधारा के प्रसिद्ध भाषाविज्ञा
प्रिन्स त्रुबेत्स्वाय तथा अमेरिका के एडवर्ड सापिर एवं ब्लूमफील्ड को
इन विद्धानों को यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि विश्व की कोई भी भाषा, किसी
अवस्था में सम्भवित सभी वाग्-स्वनों का उपयोग नहीं करती। इसके विपरीत प्र
भाषा में कुछ ऐसे कार्यकारी स्वन हैं जो भाषा की संरचना के अध्ययन में पूर्ण
से सहायक होते हैं। ये भेदक तथा भाषा के अल्पतम अर्थवान् इकाई का निर्मा
करते हैं। ये स्वनिम कहलाते हैं। किसी भाषा के स्वनिमों को खोज लेना सापेक्षि
दृष्टि से सरल है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ सम्भावित स्वनों की सं
अपरिमित है वहाँ दूसरी ओर इन स्वनिमों की संख्या भाषा में सीमित है। यह सं
पन्द्रह और पचास के बीच में है।

स्वनिमों की इस खोज से स्वनविज्ञानियों को ऐसा लगा कि स्वनविज्ञान
अध्ययन का महत्व कम हो गया किन्तु यह उनकी भ्रान्त धारणा थी। इस सम्बन्ध
यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वनों से ही भेदक इकाई को प्राप्त करके स्वनिम
भवन खड़ा किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी पाइक ने ठीक
कहा है—"स्वनविज्ञान कच्चा माल तैयार करता है, स्वनिमविज्ञान उसे पकाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४.३ स्वनिक तथा स्वनिमिक प्रतिलेखन—स्वनिक प्रतिलेखन को सूक्ष्म प्रतिलेखन (लिप्यकंन) के नाम से भी अभिहित किया जाता है, क्योंकि यह विविध चिह्नों से युक्त किसी भाषा के सूक्ष्म स्वनों के लेखन में सक्षम होता है। इसके विपरीत स्वनिमिक प्रतिलेखन को स्थूल प्रतिलेखन कहा जाता है।

४.४ स्वनिम की खोज तथा उपलब्धि का इतिहास

४.४.१ भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिए स्वनिम (फोनीम) की खोज तथा उपलब्धि का इतिहास ज्ञानवर्द्धक है, अतः उसे यहाँ संक्षेप में दिया जाता है।

स्वनिम शब्द का अस्तित्व उन्नीसवीं शताब्दी में मिलता है, किन्तु वहाँ इसका प्रयोग स्वनिक इकाई के रूप में हुआ है। इसके बीज, इसी शताब्दी के अन्त में, पोलैण्ड के भाषाविज्ञानी जे० बाउडिन डी कुर्ति ने की कृति में वर्तमान है किन्तु इसके बाद कई वर्षों तक, इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सन् १९२० ई० के आरम्भ में अमेरिका के भाषाविज्ञानियों की कृतियों में महत्वपूर्ण एवं महत्वहीन स्वनिक ईकाइयों के अन्तर पर तो प्रकाश डाला गया है किन्तु वहाँ भी स्वनिम के सम्प्रत्यय (=कन्सेप्ट) का अभाव है। इस युग की भाषा वैज्ञानिक कृतियों के अध्ययन से, यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता कि ये विद्वान् स्वनिम के सम्प्रत्य से परिचित भी थे। एडवर्ड सापिर की कृतियों में स्वनिमिक व्यतिरेक का उल्लेख मिलता है किन्तु वहाँ नियमबद्ध रूप में इसका निरूपण नहीं किया गया है।

सन् १९३० ई० तक स्वनिम के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन का उल्लेख नहीं मिलता और जब इसके महत्व की ओर भाषाविज्ञान के पंडितों का ध्यान आकर्षित हुआ तो वे एक-दूसरे के विरुद्ध विचार व्यक्त करते रहे।

४.४.१ स्वनिम के सम्बन्ध में व्यवस्थित तथा सैद्धान्तिक रूप में विचार, सर्वप्रथम, प्राहा विचारधारा (=स्कूल) के विद्वानों की कृतियों में मिलते हैं। इनमें मुख्य रूप से, रूसी विद्वान, त्रुवेसकाय का नाम उल्लेखनीय है। आपने अपनी कृति 'स्वन-व्यवस्था विषयक नियम' में स्वनिम के सम्बन्ध में विचार किया है तथा इनके बाद की कृतियों में इसका अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राहा विचारधारा के भाषा विज्ञानियों की दृष्टि में स्वनिम एक अमूर्त कार्यकारी संप्रत्यय है। यह लघुतम व्यवच्छेदक अर्थवान इकाई है जो किसी भाषा की स्वन-व्यवस्था के अन्तर्गत संरचनात्मक सम्बन्ध द्योतित करती है। इसमें अर्थ व्यवच्छेदकता मुख्य तत्व है जो स्वनात्मक विरोधों के द्वारा दो शब्दों के अर्थ के पार्थक्य को स्पष्ट करती है। उदाहरणार्थ हिन्दी के कल तथा खल शब्दों में अर्थ का पार्थक्य स्पष्ट है। यहाँ क तथा ख दो पृथक् स्वनिम हैं। किसी भाषा की स्वनिम की प्राप्ति के लिये उस भाषा के दो अल्पतम युग्मों को लेना पड़ता है।

४.४.२ स्वनिम की ऊपर की व्याख्या, उस व्याख्या से सर्वथा भिन्न थी जो उन भाषा-विज्ञानियों के द्वारा सुझाव के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। कतिपय विद्वानों का यह स्पष्ट मत था कि स्वनिम की उपलब्धि से सूक्ष्म प्रतिलेखन से मुक्ति मिल जाती है और इसकी सहायता से स्थूल प्रतिलेखन द्वारा जो सामग्री तैयार होती है और उससे [illegible]निक विश्लेषण सरल हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४.४.३ स्वनिम के सम्बन्ध में सबसे प्रभावशाली मत उन भाषा-विज्ञानि है जो प्राहा विचारधारा के विपरीत इसे अमूर्त नहीं अपितु मूर्त या भौतिक मानते थे। इनके अनुसार स्वनिम स्वनों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है।

उदाहरणार्थ—हिन्दी 'प्'–स्वनिम अपने वर्ग के उन सभी उपस्वनों का निधित्व करती है जो हिन्दी भाषा में उपलब्ध है। लियोनार्ड ब्लूमफ़ील्ड स्वनि भेदक स्वन रूपों (=साउण्ड फीचर) की लघुतम इकाई मानते हैं। आपके अ स्वनिम स्वनरूपों का समूह अथवा बंडल है। ब्लूमफील्ड के अनुसार स्वनिम वा मूर्त तत्व है, प्राहा विचारधारा की भाँति अमूर्त नहीं। प्रत्येक स्वनिम में उसके स्वनों का भौतिक गुण वर्तमान रहता है।

४.४.५ ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वनिम के सम्ब मोटे तौर पर, दो सर्वथा विपरीत विचारधाराएँ हैं। इनमें से एक विचारधा अनुसार स्वनिम अमूर्त भेदक तत्व है किन्तु दूसरी विचारधारा के अनुसार भ भेदक तत्व।

४.४.६ सन् १९३० ई० में इन दोनों विपरीत विचारधाराओं के अनेक प थे। उस युग में कतिपय ऐसे भाषा-विज्ञानी भी थे जो इन दोनों अन्तों के बी विचारधारा के पोषण में संलग्न थे। ये मध्यममार्गी थे। इन सभी दृष्टिकोणों विचारों पर प्रकाश डालना आज अनावश्यक है क्योंकि यह अतीत युग की ब चुकी हैं।

४.४.७ स्वनिम सम्बन्धी विचारधारा आगे किस रूप में विकसित हुई ज्ञान आज आवश्यक है। क्योंकि स्वनात्मक सिद्धान्तों से इसका प्रत्यक्ष रूप से है। विकास की इस प्रक्रिया का इतिहास की हमें प्राहा विचारधारा के विज्ञानियों की कृतियों में ही उपलब्ध है। इसका श्रेय विशेष रूप से प्राहा विचा के वयोवृद्ध भाषा-विज्ञानी रोमन याकोवसन को है। आप यूरोप छोड़कर अ के स्ट्रैंडफोर्ड विश्वविद्यालय में आये और यहाँ आपने अपने भाषा-विषयक अनु कार्य को अग्रसर किया।

४.४.८ अपनी खोजों के परिणामस्वरूप याकोवसन ने स्वनिम के सम्बन्ध नूतन तथ्य की ओर भाषा-विज्ञानियों का ध्यान आर्कषित किया। आपके मता यद्यपि स्वनिम एक अमूर्त तत्व है किन्तु भौतिक धरातल पर किसी भाषा में, यह रूप में प्राप्त (realised) की जाती है। इस तथ्य की स्वीकृति से स्वनिम के सम में एक अभिनव तत्व का समावेश हुआ और विचार की दृष्टि से, याकोब्सन, फील्ड तथा अन्य अमरीकी भाषा-विज्ञानियों के निकट आ गये। इस प्रकार स्वनि प्राप्ति की प्रक्रिया, विविध प्रकार के स्वनरूपी (साउण्ड फीचर) से स्वीकृत हुई इसे भेदक-रूपों के समूह के रूप में परिभाषित किया गया। ये वे रूप थे जो आ सामग्री (=टेक्स्ट) में एक-दूसरे के स्पष्ट विरोधी रूप में उपलब्ध थे। दूसरे श ये न्यूनतम व्यवच्छेदक अर्थवान इकाई थे।

४.५ स्वनिम की परिभाषा

४.५.० ऊपर स्वनिम के सम्बन्ध में विविध विचारधारा [=स्कूल] के विज्ञानियों के विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब यहाँ अमेरिका के दो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञानियों द्वारा दी गई परिभाषा प्रस्तुत की जाती है। इनमें से प्रथम परिभाषा हॉकेट की है।

४.५.१ हॉकेट के अनुसार किसी भाषा के स्वनिम वे तत्त्व हैं जो उस भाषा की स्वन-प्रक्रियात्मक पद्धति में एक-दूसरे के व्यतिरेकी रूप में आते हैं।

४.५.२ दूसरी परिभाषा ब्लाक तथा टैगर की है। इनके अनुसार स्वनिम रचनात्मक दृष्टि से समान स्वनों का समूह है जो किसी भाषा-विशेष में, उसी प्रकार के अन्य समस्त समूह से व्यतिरेकी एवं अन्यापवर्जी होता है।

४.५.३ जब हम ऊपर की दोनों परिभाषाओं का विश्लेषण करते हैं तो स्वनिम के विषय में निम्नलिखित तथ्य हमारे समक्ष आते हैं—

४.५.३.१ (i) स्वनिम का सम्बन्ध किसी भाषा विशेष से होता है तथा प्रत्येक भाषा की अपनी स्वनिम और स्वनिमिक व्यवस्था होती है।

(ii) स्वनिम, रचनात्मक दृष्टि से, स्वनों का समूह होती है।

(iii) स्वनिम किसी भाषा में व्यतिरेकी एवं अर्थभेदक रूप में उपलब्ध होती है।

६.४ स्वनिम-निर्धारण के सिद्धान्त

४.६.० जब हम किसी भाषा की आधार-सामग्री (=टेक्स्ट) एकत्र करते हैं तो सर्वप्रथम स्वनिकरूप में उसका वर्गीकरण करते हैं। इसके बाद स्वनिम-निर्धारण की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। इसका निर्धारण निम्नलिखित चार सिद्धान्तों के आधार पर होता है—

४.६.१ व्यतिरेकी तथा परिपूरक वितरण का सिद्धान्त—यदि किसी भाषा में उपलब्ध स्वनों का हम निरीक्षण-परीक्षण करें तो हमें ज्ञात होगा कि प्रत्येक स्वन विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूप में आते हैं। इस प्रकार एक स्वन जिन परिवेशों में आता है, उन सबको मिलाकर उस स्वन का वितरण कहते हैं। प्रत्येक भाषा में इस वितरण का भी एक ढाँचा होता है।

जब हम समान परिवेश में दो भिन्न स्वनों को पाते हैं तो इस भिन्नता के कारण शब्दों के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिये, हिन्दी के कल् और खल् शब्दों को लिया जा सकता है। इन दोनों शब्दों में 'अल्' से पूर्व 'क्' एवं 'ख्' का प्रयोग हुआ है। यद्यपि क् और ख् के कुछ विशेष अर्थ नहीं हैं तथापि समान परिवेश में उपस्थित होकर इन दोनों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। इसीप्रकार 'चल्' एवं 'जल्' शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। यहाँ क् और ख् तथा च् और ज् में जिस वितरण का विवेचन किया है, वह व्यतिरेकी वितरण के नाम से अभिहित किया जाता है। समान परिवेश में, अर्थ में व्यतिरेक उत्पन्न करने के कारण ये व्यतिरेकी हैं। जब दो स्वन परस्पर व्यतिरेकी होते हैं तो वे दो विभिन्न स्वनिमों का निर्माण करते हैं। ऊपर के उदाहरण में 'क्', 'ख्' एवं 'च्', 'ज्' हिन्दी के विभिन्न स्वनिम हैं। यह अन्यत्र कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जा चुका है कि प्रत्येक स्वन पर उसके आगे-पीछे के स्वनों का प्रभाव पड़ता है। कभी परिवेश की भिन्नता के कारण भी एक ही स्वन के उच्चारण में किंचित् भि आ जाती है। उदाहरण के लिये हिन्दी के दो शब्दों 'कुदाल' एवं 'किवाड़' को लि सकता है। इन दोनों शब्दों में क् है, किन्तु सावधानी से विचार करने से यह स्प जाता है कि 'उ' के पूर्व के क् एवं इ के पूर्व के क् के उच्चारण में किंचित् भिन्नता चूँकि 'उ' पश्च एवं 'इ' अग्र स्वर है, अतः 'उ' के पूर्व के 'क्' का उच्चारण 'इ' के 'क्' की अपेक्षा किंचित् पीछे होता है। इस उच्चारण के अन्तर से शब्द के किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता, किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्च स्थान पर अग्र 'क्' उच्चरित नहीं हो सकता। इन दोनों का वितरण परिपूरक के नाम से अभिहित किया जाता है। जो स्वन इस तरह परिपूरक वितरण में आते एक ही स्वनिम के उपस्वन होते हैं। स्वनिम को तिरछी रेखा वाले कोष्ठक उपस्वनों को चौकोर कोष्ठक में दिखाया जाता है।

यथा—

। क । (क¹) पश्च उच्चारण—उकार के पहले (कुदाल)
(क²) अग्र उच्चारण—इकार से पहले (किवाड़)

४.७ स्वनात्मक समानता का सिद्धान्त

स्वनिम तथा उसके उपस्वनों के निर्धारण में, उनमें परस्पर स्वन समानता परमावश्यक है। जिन स्वनों में परस्पर स्वनात्मक समानता का अभाव एक ही स्वनिम के उपस्वन नहीं हो सकते हैं। उदाहरणार्थ क् कभी च् अथवा उपस्वन नहीं हो सकता।

४.८ पद्धति की एकरूपता का सिद्धान्त

प्रत्येक भाषा की एक निश्चित व्यवस्था होती है, एक ढाँचा होता है। स्वर' का निर्धारण करते समय, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि हमा निर्धारित स्वनिम-व्यवस्था, उस भाषा की स्वाभाविक व्यवस्था के प्रतिकूल उदाहरणार्थ; यदि किसी नवीन भाषा या बोली का अध्ययन करते समय उसमें ग् घ्, च् छ्, ट् ठ् तथा प् स्वन मिले और 'फ्' न मिले तो यह कथन उचित न हो उस भाषा या बोली में 'फ्' स्वनिम का अभाव है। ऐसी दशा में या तो हमारे एकत्र की गई सामग्री अपूर्ण होगी या हमारे अध्ययन में कहीं भूल होगी; क्योंकि सामग्री के आधार पर उस भाषा या बोली की सामान्य प्रवृत्ति यह सूचित करती अल्पप्राण व्यंजन-स्वन के बाद उसमें महाप्राण का आगमन होता है। शोधक लिये, ऐसी स्थिति में, यह आवश्यक है कि वह प्राप्त सामग्री का, फिर से एक सतर्कता के साथ अध्ययन करे। यदि आवश्यक समझे तो इससे सम्बन्धित कुछ सामग्री का संकलन करे। प्रायः उसे इस प्रकार का रिक्त स्थान नहीं मिलेगा, प्रत्येक भाषा का अपना ढाँचा होता है। किन्तु कल्पना के आधार पर रिक्त स्थान पूर्ति नहीं होनी चाहिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वनिम-निर्धारण-विषयक के दो सिद्धान्तों की अपेक्षा यह तीसरा सिद्धान्त किंचित् कम महत्वपूर्ण है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४.९ मितव्ययिता का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त से यह तात्पर्य है कि स्वनिमों का निर्धारण तथा स्वनिमिक विश्लेषण कम-से-कम शब्दों में सूत्रवत् होना चाहिये। दूसरे शब्दों में जहाँ छह स्वनिमों से काम चल जाय, वहाँ सात या आठ स्वनिमों का निर्धारण न किया जाय। उदाहरणार्थ हिन्दी में, स्वरों का सानुनासिक रूप अर्थभेदक होता है। इस प्रकार व्यतिरेकी होने के कारण सानुनासिक स्वर अलग-अलग स्वनिम हैं। हिन्दी में सानुनासिक एवं निरनुनासिक स्वरों की संख्या बीस है तथा ये सभी स्वनिम हैं। मितव्ययिता के सिद्धान्त के अनुसार यदि हम दस निरनुनासिक स्वनों को स्वनिमिक स्वर देकर एक अधिखंडीय अनुनासिकता (Suprasegmental nasalisation) मान लें तो बीस के स्थान पर केवल ग्यारह स्वनिमों से ही काम चल जायेगा।

मितव्ययिता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रथम तीन सिद्धान्तों के समान यह महत्वपूर्ण नहीं है। इसका कारण यह है कि स्वनिमों के निर्धारण तथा स्वनिमिक विश्लेषण में इससे कुछ भी सहायता नहीं मिलती। वस्तुतः इस सिद्धान्त का महत्व सूत्रों की रचना में ही है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते समय भाषाविज्ञानी को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह कहीं सूत्रों की रचना इस रूप में तो नहीं कर रहा है जिससे भाषा-विश्लेषण में कठिनाई होने वाली हो। यदि ऐसा हो तो इस सिद्धान्त का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

४.१० स्वनिम के भेद

जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, जब हम परस्पर वार्त्तालाप करते हैं अथवा भाषण देते हैं तब हम वाक्यों का प्रयोग करते हैं। विश्लेषण करते समय हम वाक्यों को रूपिमों (= पदों या शब्दों) में विखण्डित करते हैं और इससे एक कदम आगे बढ़कर हम वर्णों या स्वनिमों तक पहुँच जाते हैं। किसी भाषा के वर्ण या स्वनिम 'स्वर' एवं 'व्यंजन' रूप में उपलब्ध होते हैं। ये स्वर तथा व्यंजन वर्ण या स्वनिम ही 'खण्डीय स्वनिम' के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

इन खण्डीय स्वनिमों के अतिरिक्त भाषा में कुछ ऐसे तत्व भी उपलब्ध होते हैं जिनका विखण्डन नहीं हो सकता। ये तत्त्व स्वर एवं व्यंजन के ऊपर छाये रहते हैं तथा अर्थभेदक होते हैं। इस प्रकार के व्यतिरेकी तत्त्वों को 'अधिखण्डीय स्वनिम' के नाम से अभिहित किया जाता है। किसी भाषा के मात्रा, बल, सुर, विवृत्ति आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

४.११ स्वनिम-विषयक अधुनातम विचार

४.११.० स्वनिम के विषय में विकसित विचारों के दूसरे चरण का समारम्भ १९५० ई० में हुआ। इससे पूर्व इसके परिच्छेदक अथवा भेदक तत्वों की विशुद्ध उच्चारणात्मक रूप (वागिन्द्रियों द्वारा उच्चरित रूप) में व्याख्या की जाती थी, किन्तु उच्चारण की भौतिक शाखा की उन्नति के साथ-साथ, उच्चारण के विश्लेषण के लिये, नये साधनों का आविर्भाव हुआ। इसके परिणामस्वरूप उच्चार-विषयक सामग्री का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूक्ष्म अध्ययन सम्पन्न हुआ तथा इसकी अनेक विशेषताओं का पता चला। इसके ही यह परिकल्पना भी साकार हुई कि किसी भाषा के विश्लेषण के लिये केवल संख्यक भेदक तत्त्व (सिर्फ बारह जोड़े व्यतिरेक) ही पर्याप्त हैं। दूसरे शब्दों में भाषाओं की उच्चारण-व्यवस्था के विश्लेषण से यह परिकल्पना साकार हुई अन्ततोगत्वा प्रत्येक भाषा की उच्चारण-व्यवस्था का निर्माण विभिन्न स्वनिक लघु अंशों के सम्मिश्रण एवं संशोधन से एक समान प्रकार की आधारभूत वर्ण से होता है। इस वर्णमाला में भाषा के स्वनों के लघु अंश वर्तमान रहते हैं। इसके ही यह समस्या भी भाषाविज्ञानियों के सामने आई कि आखिर, इन स्वनिक लघु का सम्मिश्रण किस अनुपात में होता है? इसकी खोज इसलिये आवश्यक थी उन सार्वभौम स्वन नियमों (फोनेटिक लॉ) का पता लग सके जिनके द्वारा सभी शासित होती हैं। किन्तु इस खोज के परिणामस्वरूप एक अभिनव तत्त्व का पता जो सर्वथा अप्रत्याशित था। यह अभिनय तत्व यह था कि भाषा की स्वन-व्यव विश्लेषण के लिये स्वनिम का सम्प्रत्यय (=कनसेप्ट) वास्तव में, अनाव क्योंकि किसी भी भाषा की स्वन-व्यवस्था के विश्लेषण के लिये परिच्छेदक (डिस्टिंक्टिव फीचर्स) का अध्ययन ही पर्याप्त है।

४.११.१ ऊपर की खोज का भविष्य में एक परिणाम यह होगा कि अध्ययन में अभी तक स्वनिम का जो महत्व है, वह आगे न रहेगा। स्वनिम के में ये अधुनातन विचार हैं।

इस खोज को दृष्टि-पथ में रखकर जब हम विचार करते हैं तो यह स जाता है कि स्वनविज्ञान (फोनेटिक्स) तथा स्वन-प्रक्रिया (फोनालोजी) के पार सम्बन्ध को अब तक हम जिसरूप में मानते आ रहे हैं, उसमें भी परिव आवश्यकता है। भविष्य में इसका रूप क्या होगा, आज यह कहना कठिन है।

४.११.२ स्वन-प्रक्रिया के विषय में भले ही हम प्रजनक वैयाकरणों के सहमत न हों, ऊपर की परिचर्या से एक बात स्पष्ट है कि भाषाविज्ञान के आ युग में, किसी भाषा की स्वन-व्यवस्था के अध्ययन में, स्वन-विज्ञान तथा स्वन के जो दो सर्वथा विभिन्न स्तर माने जाते थे, वे आज अनावश्यक हैं। विश्ले सिद्धान्तरूप में चाहे जो माने, व्यावहारिकरूप में वह स्वन-विज्ञान का अध्यय और स्वन-प्रक्रिया का अध्ययन बाद में नहीं करता। इसके विपरीत वह दो साथ-साथ सम्पन्न करता है। वह स्वन-विज्ञान एवं स्वन-प्रक्रिया की दृष्टि से, सामग्री का अध्ययन, एकसाथ ही सम्पन्न करता है। इस प्रकार, आज, इन भाषा-अध्ययन का दो पृथक् स्तर मानना समीचीन नहीं है।

४.११.३ यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वन-प्रक्रियात्मक विश्लेषण सर्व प्रक्रम है। इसमें स्वनिक ब्यौरा एवं अमूर्त सम्बन्ध, दोनों, का समावेश होता है सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण बात स्मरणीय है कि स्वन-प्रक्रिया का सैद्धान्तिक प्र करते समय, हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि समस्या के किस पहलू पर ह बल दे रहे हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४.१२ स्वनिमों तथा उपस्वनों का अंकन

किसी भाषा के विश्लेषणकर्त्ता के लिए प्राप्त भाषिक सामग्री का लिप्यंकन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।

अनुसंधित्सु को प्रथमतः स्वनों की प्राप्ति होती है, इन्हीं स्वनों में स्वनिमों तथा उपस्वनों का निर्धारण कर लिप्यंकन करना होता है। इनका अंकन निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है--

स्वनिम के लिए । ।

तथा उपस्वन के लिए [ ]

जैसे--। न् । [ण्], [ञ्], [न्]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५

रूपिम-विज्ञान

५.१ भाषाविज्ञान का वह भाग जिसमें रूपिम का व्यवस्थित अध्ययन होता है, रूपिम-विज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। भाषा का मूलतत्व है जिसका पूरा विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। स्वनिम भाषा का महत्वपूर्ण तत्व रूपिम है। इस अध्याय में इसी के सम्बन्ध में विचार जायेगा। जब हम किसी भाषा के रूप के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि वह मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों की मिश्रित प्रणाली है जिसे मु से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग हैं—

(१) स्वन-प्रक्रियात्मक प्रणाली

(२) व्याकरणिक प्रणाली।

इनमें स्वन-प्रक्रियात्मक प्रणाली के अन्तर्गत, (क) स्वन-विज्ञान तथा स्वनिम-विज्ञान आते हैं और व्याकरणिक प्रणाली के अन्तर्गत रूपिम-विज्ञा वाक्य-विचार (वाक्य-विज्ञान) समाविष्ट हो जाते हैं। इसे निम्नलिखित तालि स्पष्ट किया जा सकता है—

१. स्वन-प्रक्रियात्मक प्रणाली—(क) स्वनविज्ञान, (ख) स्वनिमवि

२. व्याकरणिक प्रणाली—(क) रूपिम-विज्ञान, (ख) वाक्य-विज्ञान।

ये दोनों प्रणालियाँ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों में कोई वास्त सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः प्रथम प्रणाली में स्वनिमों का अध्ययन सम्पन्न होता है, स्वनिमों से कोई अर्थ प्रकट नहीं होता है। इसे अर्थहीन प्रणाली कहा जा सक प्रत्येक स्वन वक्ता के मुख से निसृत होता है और इसके अनन्तर वायु-लहर के परिणत होकर श्रोता के कर्ण तक पहुँचता है तथा प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं—

मुख-स्वन→स्वन-लहर→कर्ण में प्रविष्ट होकर प्रतिक्रिया। वास्तव में श्र से प्रभावित होकर ही श्रोता अपना विचार व्यक्त करता है। ये विचार कतिपय स्व द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, किन्तु इन स्वनों तथा व्यक्त विचारों में कोई सम्बन्ध होता। फ्रांस के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी मार्तिने ने इसके लिए 'विषय' तथा 'रूप' श प्रयोग किया है। उनके अनुसार व्यक्त विचार 'विषय' है और वह जिस रूप में किया जाता है, वह रूप है। यह 'रूप' प्रत्येक भाषा में पृथक् होता है। इसीलिए भाषा में व्यक्त किया गया भाव या विचार तो दूसरी भाषा में अनूदित कि सकता है, किन्तु किसी भाषा के रूप का अनुवाद नहीं हो सकता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५.२ भाषा के उपर्युक्त रूप पर यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह कतिपय स्वनों का क्रम मात्र है। जब किसी भाषा-विशेष में कुछ स्वन किसी निश्चित क्रम में सजकर आते हैं तो उनसे अर्थबोध होता है। यह अर्थबोधयुक्त रूप ही 'रूपिम' कहलाता है। यह अवश्य है कि रूपिम के अर्थ की निश्चितता एवं स्थिरता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि रूपिम, अर्थ-प्रयोग पर अवलम्बित होता है। इसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है--

रूपिम { अर्थ (अनिश्चित एवं अस्थिर) स्वनिमिक आकार
(एक या एक से अधिक स्वनिमों का क्रम)।

वस्तुतः स्वनिमिक आकार वाले अर्थवाम् रूप को रूपिम कहा जाता है। यदि हम किसी उच्चार (=ulterence) का विश्लेषण करें तो पहले उसे रूपिम या रूपिमों में विभक्त कर सकते हैं। पुनः यदि रूपिमों का भी आगे विश्लेषण करें तो उसे स्वनिमों (=ध्वनिग्रामों) में विभक्त कर सकते हैं। इस प्रकार किसी उच्चार में सर्वप्रथम 'रूपिम' को ही महत्व दिया जाता है। उच्चार में इन रूपिमों की निश्चित व्यवस्था होती है जिससे वाक्यांश तथा वाक्यों का निर्माण होता है; उदाहरणार्थ मानव, मानवीय, अमानवीय; वरण, वरणीय, अवरणीय; ज्ञान, ज्ञातव्य; ध्यान, ध्यातव्य आदि में यह व्यवस्था देखी जा सकती है। इसी प्रकार अवधी के तिलक, तिलकहार एवं भोजपुरी के तिलकहरू (तिलक चढ़ानेवाले) में इस व्यवस्था के हमें दर्शन होते हैं। ऊपर के उदाहरणों में यदि हम अनुक्रम बदल दें तो यह मानक हिन्दी, अवधी एवं भोजपुरी की व्यवस्था के प्रतिकूल होगा।

५.२ रूपिम बनाम शब्द

५.२.१ सन् १९४०-५० में रूपिम की परिभाषा एवं उसके स्वरूप को लेकर काफी वाद-विवाद था। इसमें विवाद की एक बात यह थी कि 'शब्द' के स्थान पर 'रूपिम' का प्रयोग क्यों किया जाय ? वाक्य-निर्माण का आधार शब्द होता है और शताब्दियों से पौरस्त तथा पाश्चात्य वैयाकरणों ने इसका प्रयोग किया है। वास्तव में वाक्य में लघुतम अर्थवान् इकाई 'शब्द' होता है और 'रूपिम' का भी सम्प्रत्यय यही है, तब प्राचीन काल से प्रयुक्त 'शब्द' का परित्याग कर, एक सर्वथा नवीन 'रूपिम' शब्द का प्रयोग क्यों किया जाय ?

५.२.२ 'रूपिम' के स्थान पर 'शब्द' को चालू रखने में कई कठिनाइयाँ थीं जिनमें कतिपय वास्तविक तथा अन्य काल्पनिक थीं। इनमें से सबसे प्रधान कठिनाई शब्द के स्वरूप-निर्धारण एवं उसके अभिज्ञान की थी।

५.२.३ भारतीय वैयाकरणों ने शब्द के स्वरूप का निर्धारण दो आधारों पर किया है। इनमें से एक आधार है ध्वनि तथा दूसरा अर्थ। ध्वनि के आधार पर शब्द के आकार-ग्रहण के सम्बन्ध में भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में निम्नलिखित विचार व्यक्त किया है— प्रत्येक वर्ण के संस्कार बीज-रूप से बुद्धि में अवस्थित रहते हैं। शब्द की अभिव्यंजक ध्वनियों के उच्चारण पर वे बीज परिपाक अवस्था को प्राप्त होने लगते हैं। कार्योत्पादन की विशेष शक्ति का आ जाना परिपाक है [परिपाकः कार्योत्पादन प्रति विशिष्ट आत्मलाभः, वृषभः वाक्यपदीय टीका १/५]। शब्द की अभिव्यक्ति की योग्यता ही वर्ण का परिपाक है। अन्तिम ध्वनि (शब्द के अन्तिम वर्ण) के उच्चारण होते-होते वह परिपाक पूर्णता को पहुँच जाता है। बार-बार वर्ण की श्रुति से बुद्धि में भी उसका संस्कार गहरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता जाता है--बुद्धि भी वर्ण-बीज के परिपाक से परिपाक अवस्था को प्राप्त हुई जाती है, अतः अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ-साथ बुद्धि में शब्द के आकार संनिवेश हो जाता है। "गौ" शब्द के औकार के उच्चारण के साथ ही 'गौ' शब्द अवधारणा हो जाती है(वाक्य पदीय १/८५)। 'अवधारणा' शब्द की व्याख्या को संस्कृत के पंडितों में पर्याप्त वाद-विवाद है। इसके लिए देखें--'संस्कृत व्याकरण —डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० ८५-८७।

५.२.४ अर्थ के आधार पर भी शब्द के स्वरूप पर विचार किया गया है। का उच्चारण अर्थ-परिज्ञान के लिये किया जाता है। अतः अर्थ के आधार पर शब्द का अवच्छेद स्वाभाविक है। पतंजलि ने ऐसा ही किया है। शब्द के स्वरूप के विषय उनके दो प्रसिद्ध वक्तव्य हैं--

'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल ककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः

अथवा

'प्रतीत पदार्थकः लोके ध्वनिः शब्द इत्युचयते।'

ऊपर के दोनों वाक्यों के अर्थ में प्राचीन काल से ही विवाद चला आ रहा पहले वाक्य का सरल अर्थ यह है--जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, और सींग वाले का बोध होता हो, वह शब्द है। इसमें सास्ना, लाङ्गूल आदि उल्लेख 'गो' शब्द के प्रसंग में पतंजलि ने किया है। उसे हटा देने पर, उनके मत में की परिभाषा का रूप यों होगा---

'येनोच्चारितेन (कस्यचित्) संप्रत्ययों भवति स शब्दः।'

इसमें उच्चारण और संप्रत्यय ये दोनों शब्द, शब्द के लक्षण पर प्रकाश हैं। शब्द वह है जो उच्चरित होता हो और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। उच्चा शब्द के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। संप्रत्यय शब्द, शब्द के सांकेतिक को व्यक्त करता है।

पतंजलि के दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदार्थक ध्वनि को शब्द जाता है। प्रतीतपदार्थक का अर्थ है लोक-प्रचलित अर्थ। लोक-प्रचलित अर्थ ध्वनि का नाम शब्द है। पतंजलि ने महाभाष्य में अन्य दो स्थानों पर प्रतीतप शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ आपने दो बातें स्पष्ठ की हैं। एक तो यह कि 'टि', 'भ' आदि कृत्रिम संज्ञाएँ प्रतीत पदार्थक शब्द नहीं हैं। दूसरी यह कि पशु, अपत्य, आदि प्रतीतपदार्थक शब्द हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदार्थक का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है--जो सर्वसाधारण के लिए समान अर्थ रखते हैं निरपेक्ष रूप से व्यवहार में आते हैं। वस्तुतः प्रतीतपदार्थक शब्द स्पष्टार्थ के प्राचीन समय में प्रयुक्त होता था। इसलिये स्पष्टार्थक ध्वनि को शब्द कहा जात यह अभिप्राय महाभाष्यकर का जान पड़ता है।

५.२.५ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार शब्द वह अर्थवान् इकाई है लिखावट में उसके पूर्व तथा बाद में कियत क्षण के लिए रुकना पड़ता है। बात कि जब कोई व्यश्ति वार्तालाप में रत रहता है अथवा भाषण देता है, तो उसकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

...ा अखण्ड रूप में प्रवहमान रहती है। किन्तु जब वह उसे लिखित रूप में परिवर्तित ...ता है, तो उसके अखण्ड वाक्य खण्डित हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि मोहन घर गया, तो इसे लिखित रूप देने ...ाद हमें इस वाक्य में तीन शब्द मोहन, घर, गया मिलते हैं। इन तीनों शब्दों के पूर्व ...त क्षण के लिए हमें रुकना पड़ता है।

साधारणतः शब्द तथा रूपिम के सम्प्रत्यय (कन्सेप्ट) में कोई विशेष अन्तर ...ं होता, किन्तु जैसा कि आगे हमें ज्ञात होगा कि भाषा-विश्लेषण के समय शब्द के ...न पर रूपिम के प्रयोग से हमें विशेष सुविधा होती है। अतएव आधुनिक भाषा-...ानियों ने रूपिम का प्रयोग युक्तियुक्त माना है।

...३ रूपिम का सामान्य परिचय

५.३.० वास्तव में रूपिम स्वनिमों का ऐसा न्यूनतम अनुक्रम है जो व्याकरणिक ...ट से सार्थक होता है। इसीलिए रूपिम को न्यूनतम अर्थवान् इकाई (Minimum ...eaningful Unit) कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रूपिम अर्थ इकाई नहीं है। सभी रूपिम ध्वनियों के अनुक्रम होते हैं, किन्तु इसके विपरीत ...निमों के सभी अनुक्रम रूपिम नहीं होते। उदाहरणार्थ प्र-चलन, प्र-कृष्ट, प्र-काष्ट, ...चण्ड, एवं प्र-गल्भ में 'प्र' अर्थवान् इकाई है, अतः रूपिम है, किन्तु प्रश्न एवं प्रथा में ... अर्थवान् इकाई नहीं है क्योंकि यहाँ ऊपर की भाँति 'प्र' को विखण्डित नहीं किया ... सकता है।

५.३.१ रूपिम के परिज्ञान में सबसे अधिक कठिनाई विखण्डन (Cutting) होती है क्योंकि स्वनिम की भाँति ही, निश्चित सन्दर्भ में ही यह उपलब्ध होती है। ...त यह है कि सन्दर्भ एवं वातावरण के अभाव में अर्थज्ञान नहीं हो पाता और तब ...नतम अर्थवान् इकाई को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ—

लघु-त्व, लघु-ता
हीन-त्व, हीन-ता

दीर्घत्व, दीर्घता के आधार पर ही –त्व,–ता को विखण्डित कर सकते हैं।

५.३.२ मातृभाषा तथा मातृभाषावत् अभ्यस्त भाषाओं में, रूपिम की प्राप्ति ...पेक्षाकृत सरल है, किन्तु अपरिचित तथा अज्ञात भाषाओं में रूपिम की खोज कठिन ...ार्य है। ऐसी भाषाओं में रूपिम की प्राप्ति के लिए अनुवाद एवं सूचक की ...हायता पर निर्भर रहना पड़ता है।

५.३.४ रूपिम के निर्धारण में अर्थ का सहारा लेना चाहिए अथवा नहीं, इस ...त को लेकर भाषाविज्ञान के पंडितों में परस्पर मतभेद है। प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी ... सस्युर, ब्लूमफील्ड एक ओर रूपिम के निर्धारण में अर्थ का सहारा लेने के पक्ष में हैं ... दूसरी ओर जैलिंग हैरिस एवं हिल आदि विद्वान् अर्थ का सहारा लेने के पक्ष में ...हीं हैं। उनके अनुसार चूंकि अर्थ का सम्बन्ध सन्दर्भ पर निर्भर होता है, अतः रूपिम ...ा निर्धारण आकृति अथवा आकार के आधार पर होना चाहिए। इस प्रणाली में हमें ...चकों की सहायता अपेक्षित होती है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यावहारिक रूप में भाषा के विश्लेषण के समय हमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ का सहारा लेना ही पड़ता है।

५.४ रूपिमों का अभिनिर्धारण

५.४.० जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किसी भाषा में रूपिम ही है व्याकरणिक अर्थवान् रूप होते हैं। यहाँ 'अर्थवान्' की व्याख्या भाषा-विशेष के के सन्दर्भ में ही करणीय है।

सार्थक स्वनिम के अनुक्रमों को 'रूप' नाम से अभिहित किया जाता है सभी रूपों को रूपिम नहीं कहा जा सकता। वास्तव में रूपों के आकार तथा आधार पर रूपिम (मार्फीम) तथा उपरूपों (एलोमार्फ) का निर्धारण किया जा

उदाहरणार्थ, हिन्दी के स्त्रीलिंग एवं बहुवचन प्रत्ययों को लिया जा सकता हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रत्यय कभी—ई, कभी—इन तथा कभी—नी होते हैं। इसी बहुवचन प्रत्यय—ए,—एँ एवं—याँ होते हैं। एक ही अर्थ को सूचित करने के यदि एक से अधिक रूप हों और उनके व्यवहृत होने के सन्दर्भ प्रवचनीय (defina हों तो उन सब को एक ही रूपिम का उपरूप माना जाता है। स्त्री प्रत्ययों में जहाँ होता है, वहाँ—इन या—नी नहीं होता, अतः ये परिपूरक वितरण में हैं। इन किसी को रूपिम मानकर उपरूपों का निर्धारण कर लेना सरल होता है।

रूपिम के अभिनिर्धारण के लिए प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी नाइडा ने छह सू निर्माण किया है। ये सभी सूत्र सभी भाषाओं में लागू नहीं होते। भाषा की प्रवृ अनुसार इनमें से उपयुक्त सूत्र चुन लिये जाते हैं।

५.४.१ सूत्र १—स्वनिमिक आकार और अर्थ में समानता रखने वाले से स्वनिम का निर्माण होता है। यथा—लघु-ता, दीर्घ-ता, मनुष्य-ता, सुन्दर-ता

५.४.२ सूत्र २—यदि स्वनिमिक आकार भिन्न हो, किन्तु अर्थ में समान तो भी रूपिम का निर्माण हो सकता है, बशर्ते कि आकार की भिन्नता स्वनात्मक सन्दे (Phonological environment) से प्रवचनीय (Definable) हो। यथा—

संवेग < सम्—+—वेग्, संतोष ~ (संतोश) < सन्—+—तोश संचालन < सञ्—+—चालन। इन उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि वर्गीय व्य से पूर्व वर्गीय अनुनासिक होता है। इस प्रकार स्वनात्मक सन्दर्भों से 'म्,' 'न्,' 'ञ् भिन्नता प्रवचनीय है। अतः सं— एक रूपिम है जिसके 'सम्', सन्' तथा उपरूप हैं।

अंग्रेजी के बहुवचन प्रत्ययों में यदि ।–S। तथा ।–Z। को लिया जाय तो होगा कि सघोष व्यंजनों के बाद ।–Z। तथा अघोष व्यंजनों के बाद ।–S। का होता है। यहाँ पर भी स्वनात्मक सन्दर्भ के अनुसार स्वनिमिक आकार में परि देखा जाता है। यहाँ ।–Z। तथा ।–S। एक ही रूपिम के उपरूप हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५.४.३ सूत्र ३

यदि समान अर्थ देने वाले रूप स्वनिमिक आकार में भिन्न हों तथा यह भिन्नता नात्मक सन्दर्भों में प्रवचनीय हो तो भी उनसे एक रूपिम बनता है। इसके साथ शर्त है कि यह भिन्नता रूपात्मक सन्दर्भों में प्रवचनीय हो।

Select एवं reject धातु रूपों में —ed प्रत्यय जोड़ कर अतीतकाल का रूप षित किया जाता है, किन्तु put तथा cut धातुरूपों में अतीतकाल का रूप बनाते मय —ed प्रत्यय का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि अतीतकाल में इन धातुओं के रूप कोई प्रत्यय नहीं जोड़ा जाता। ढाँचे की एकरूपता के लिये, इन धातुओं में, अतीत-ल में, शून्य प्रत्यय का व्यवहार किया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह शून्य परूप कुछ स्वनात्मक कारणों में व्यवहृत नहीं होता है। यहाँ इतना ही कथन आवश्यक कि 'put', 'cut' आदि रूपों के साथ, अतीतकाल में शून्य उपरूप लगता है। इस शून्य व्यवहार व्याकरणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे ढाँचे की एकरूपता बनी हती है। रूपात्मक सन्दर्भों में प्रवचनीय यह शून्य प्रत्यय रूपिम या रूपिम का अंग है।

इसीप्रकार अंग्रेजी बहुवचन प्रत्ययों में ।–en।, ।–ren। तथा ।–ϕ। का भी थान है। यह भी रूपात्मक सन्दर्भों में प्रवचनीय है, यथा—।ox। के साथ ।–en।, child। के साथ ।–ren। और ।Sheep। के साथ ।–ϕ। रूपिम का निर्माण रते हैं।

५.४.४ सूत्र ४

किसी संरचना-श्रेणी (Structural Series) का प्रकट आकार-भेद एक वतन्त्र रूपिम बन सकता है जबकि यह प्रकट आकार-भेद तथा बाद वाला शून्य रचनात्मक भेद मिलकर रूप और अर्थ की भिन्नता की व्याख्या करते हैं।

इसका उदाहरण अंग्रेजी के बहुवचन प्रत्ययों में मिल जाता है। उदाहरणार्थ, oot—feet में (u-i) संरचना-श्रेणी का आकार-भेद है। इसके साथ-साथ अन्त में कोई बहुवचनसूचक प्रत्यय नहीं लगता। इसप्रकार यह आकार-भेद महत्त्वपूर्ण बन जाता है। वास्तव में यह आकार-भेद शून्य संरचनात्मक भेद से मिलकर रूप और अर्थ की भिन्नता का आधार बन जाता है। इस स्थिति में संरचनात्मक श्रेणी का आकार-भेद u—i एक रूपिम का निर्माण करता है।

अंग्रेजी के run—ran तथा sing—sang इसके उदाहरण हैं।

ग्रीक pe'da—poda तथा वैदिक नपात्—नप्ती एवं अरबी क् त् ब् से व्युत्पन्न किताब, कतुब, कातिब में भी यह सूत्र कार्यरत है।

५.४.५ सूत्र५

समस्वनात्मक (homophonous) रूपों को अग्रलिखित सन्दर्भों के आधार पर एक या भिन्न रूपिम माना जाता है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(i) सर्वथा भिन्न अर्थवाची समस्वनात्मक रूप दो भिन्न रूपिम माने जा... यथा, हिन्दी में 'कनक' धतूरे तथा सोने के अर्थ में दो भिन्न रूपिम हैं। 'पीली धो... 'ई' तथा बंगाली-मारवाड़ी की 'ई' समस्वनात्मक होते हुए भी दो भिन्न रूपिम हैं।

(ii) ऐसे समस्वनात्मक रूप जो अनेकार्थी हैं तथा उनके अर्थ सन्द... प्रवचनीय (Definable) हों, वे एक ही रूपिम के उपरूप होंगे।

जैसे— उसे मार।
उसे मार पड़ी।

इन दोनों में 'मार' शब्द क्रमशः 'क्रिया' और 'संज्ञा' है तथा संदर्भगत प्रव... है। किन्तु इसके विपरीत वे रूप जो अनेकार्थी और संदर्भरहित हैं, अलग... रूपिम होंगे—

उदाहरण के लिए—'कनक अच्छा नहीं होता' वाक्य लिया जा सक... इसमें 'कनक' रूप द्वयर्थी (कनक=सोना और धतूरा) है। इसके दोनों रूप... रूपिम होंगे।

५.४.६ सूत्र ६

निम्नलिखित सन्दर्भगत रूप स्वतन्त्र रूपिम होंगे—

(क) स्वतन्त्र शब्द—यथा राम, गाय, पशु, चल।

(ख) स्वतन्त्र शब्दों के साथ प्रयुक्त होने वाले आवद्ध रूप (उपसर्ग, वि... प्रत्यय आदि)

यथा— पंडिताई, सुन्दरता
पढ़ाई, प्रधानता
लिखाई, कठिनता

इन शब्दों में प्रयुक्त आई, ता आबद्ध रूप, रूपिम होंगे।

(ग) संयुक्त शब्दों के रूप में सम्बद्ध होने वाले वे शब्द भी 'रूपिम' (अ... किसी एक शब्द के साथ ही संयुक्त होते हैं। अंग्रेजी में ऐसे तीन उदाहरण मिलते हैं...

Cran–berry, Cray–fish, Rasp–berry.

इनमें cran और rasp केवल berry शब्द के साथ तथा cray केवल fi... साथ ही आते हैं।

५.५ रूपिम और शब्द

५.५.१ 'रूपिम' भाषा की न्यूनतम अर्थवान् इकाई है। इसका निर्माण ... भाषा के एक या एकाधिक स्वनिमों को एक विशेष क्रम में रखने से होता है। ... शब्द व्याकरणीय वर्ग है और इसका निर्माण एक या एकाधिक रूपिमों को विशेष क्र... रखने से होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'रूपिम' में एक या ... से अधिक स्वनिमों का विशिष्ट क्रम रहता है, किन्तु शब्द में एक या एक से अ...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पिमों का क्रम रहता है। एक शब्द में कम से कम एक या एक से अधिक रूपिम हो सकते हैं, किन्तु एक 'रूपिम' एक से अधिक शब्द नहीं हो सकता।

निम्नलिखित प्रकार से रूपवर्गों से शब्द निर्मित होते हैं—

१. मुक्त रूप—राम, घोड़ा, लड़का

२. मुक्त रूप+आबद्ध रूप—दासता, घोड़े

[दास्+ता]
[घोड़+ए]

३. आबद्ध रूप+मुक्त रूप—कुपुत्र, अपमान

[कु+पुत्र]
[अप+मान]

४. मुक्त रूप+मुक्त रूप—गृहदाह, डाकघर

[गृह+दाह]
[डाक+घर]

५. आबद्ध+आबद्ध रूप—तारतम्य

[तार+तम्य]

५.६ शब्दकोटियाँ

'निरुक्त' में 'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातश्च' अर्थात्

नाम (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण), आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात (अव्यय), इन चार प्रकार के शब्दों का उल्लेख हुआ है। वाक्यीय व्यवहार तथा रूपान्तरण की दृष्टि से भाषाविदों ने निम्नलिखित पाँच शब्दकोटियाँ मानी हैं—

१. संज्ञा
२. सर्वनाम
३. विशेषण
४. क्रिया
५. क्रियाविशेषण

निपात, उपसर्ग, योजक आदि का क्रियाविशेषण में समावेश हो जाता है।

५.७ व्याकरणिक कोटियाँ

शब्दकोटियों के अन्तर्गत कतिपय व्याकरणिक दृष्टि से वर्गबन्धन होते हैं जिन्हें व्याकरणिक कोटियाँ (Grammatical Categories) कहते हैं। लिंग, वचन, पुरुष, कारक, काल, प्रकार या पक्ष (Aspect) तथा वृत्ति या अर्थ (Mood) आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याकरणिक कोटियाँ हैं। सभी भाषाओं में इन कोटियों की संख्या समान नहीं है। किसी शब्द में जिस व्याकरणिक कोटि के संयोजन में अलग से रूपिम जोड़ना पड़े विभक्तिपरक या रूपायित कोटि (Inflectional Category) तथा जहाँ प्राति- अपने अपरिवर्तित रूप में व्याकरणिक कोटि के सहित होते हैं, वहाँ चयनात्मक (Selective Category) कहते हैं।

नीचे हिन्दी के सन्दर्भ में इन कोटियों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है

५.७.१ लिंग—संज्ञारूपों में व्यापकता से मिलता है। हिन्दी में यह रू- तथा चयनात्मक दोनों रूपों में उपलब्ध है।

जैसे— ।लड़क् –।+।ई। = लड़की

रूपायित—। घोड़् –। +।—ई। = घोड़ी

पु० स्त्री

चयनात्मक—भात् रात्

कान् नाक्

बूट् लूट्

५.७.२ वचन—इस कोटि का सीधा सम्बन्ध संख्या से है। हिन्दी में एक- और बहुवचन होते हैं।

५.७.३ पुरुष—हिन्दी में यह कोटि केवल सार्वनामिक रूपों में मिलती उत्तम मध्यम तथा अन्य, ये तीन पुरुष मान्य हैं।

५.७.४ कारक—हिन्दी में इस कोटि का विशेष सम्बन्ध संज्ञा और सर्व- रूपों से है। अभी तक इन कारकों की संख्या परम्परा से आठ मानी जाती रही है, वस्तुतः हिन्दी में दो ही कारक—विकारी और अविकारी रूपों में—मिलते हैं।

५.७.५ काल—यह कोटि केवल क्रियारूपों में मिलती है। काल साम- तीन—भूत, वर्तमान और भविष्य होते हैं।

५.७.६ पक्ष या प्रकार—इस कोटि का भी सम्बन्ध क्रिया से है। यह क्रिया सूचित कार्य की पूर्णता-अपूर्णता का संकेत करती है।

५.७.७ वृत्ति या अर्थ—यह भी क्रियाओं में मिलने वाली व्याकरणिक कोटि वृत्तियाँ अनेक होती हैं। इनमें आज्ञा, संकेतार्थक आदि उल्लेखनीय हैं।

५.७.८ वाच्य—यह कोटि भी क्रियाओं में प्राप्त होती है। सामान्यतः दो—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य होते हैं।

रूपिमों तथा उपरूपों का अंकन

भाषा-विश्लेषण के अन्तर्गत भाषिक रूपों के अंकन का बड़ा महत्व होता रूपिमों तथा उपरूपों के अंकन के लिए क्रमशः { } तथा । । कोष्ठकों का उप- किया जाता है। जैसे—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

{ रात् }
[रातें] { रात् } { –एँ }
शून्य उपरूप — | φ |

अंग्रेजी बहुवचन प्रत्ययों में [Z I] को रूपिम मानकर उसके उपरूपों का
न इस प्रकार होगा—

{ Z } | – S |, | -Z |, | – +Z |, | – en |, | – ren |

वाक्यविज्ञान

६.० अभी तक के विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि भाषा की व्यवस्था के प्रमुख
व स्वनिम तथा रूपिम हैं। किन्तु श्रोता को किसी प्रकार की सूचना कथन के माध्यम
ही दी जाती है। यह कथन भी वाक्य या वाक्यों पर आधारित होता है। और—

६.१ "वाक्य रूपिमों का वह अनुक्रम है जो किसी कथ्य या कथ्यांश के पूर्ण अर्थ
प्राप्ति कराता है।"

भाषा-अध्ययन के सन्दर्भ में रूपिमों के इस सार्थक क्रम, जिसे वाक्य कहते हैं,
व्यवस्थित अध्ययन को वाक्यविज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुत:
क्य एक संघटन है और इस संघटन के संयोजक तत्व संघटक कहलाते हैं। किसी
टन के समस्त संघटकों का पारस्परिक सम्बन्ध एक जैसा नहीं होता। उनमें से
तिपय एक दूसरे से सुसम्बद्ध होते हैं। इन सुसम्बद्ध संघटकों को समीपी या निकटस्थ
टक (Immediate Constituents) कहते हैं।

उदाहरण के लिए यह वाक्य लिया जा सकता है—

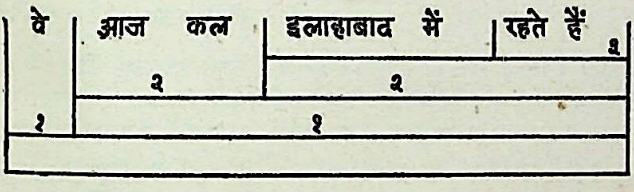

यह पूरा वाक्य एक संघटन है जिसमें तीन समीपी संघटक हैं :

१. 'वे'+आज-कल इलाहाबाद में रहते हैं।
२. 'आज-कल'+इलाहाबाद में रहते हैं।
३. इलाहाबाद में—रहते हैं।

वस्तुत: ये सभी समीपी संघटक आपस में उपसंघटनों का निर्माण करते हैं।

६.२ वाक्यविज्ञान के अन्तर्गत इस प्रकार के विवेचन से लाभ यह है कि अध्येता
अनुसंधेय भाषा की वाक्य-व्यवस्था तथा वाक्याधारित अर्थ की प्राप्ति सरलता से
जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कभी-कभी किसी संघटन (वाक्य) में निहितार्थ सन्देहयुक्त होता है। संघटकों के निर्धारण में इस प्रकार के सन्देह का निवारण हो जाता है या कारण ज्ञात हो जाता है।

उदाहरण के लिए यह वाक्य लें—'राम और श्याम के सभी बच्चे'। इ को निम्नलिखित समीपी संघटकों में दर्शाया जा सकता है—

१—

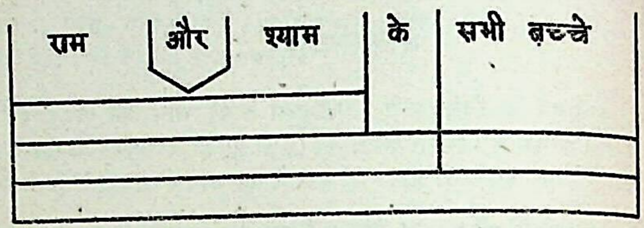

२—

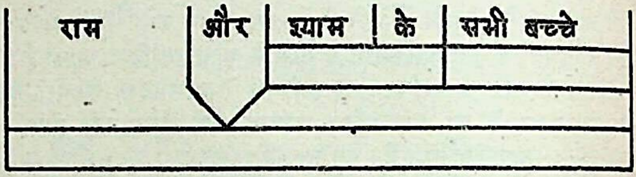

उपर्युक्त दोनों रूपों में 'समीपी संघटक' हो सकते हैं और इस प्रकार की प्राप्ति में सन्देह की स्थिति है। वस्तुतः यह सन्देह की स्थिति भाषा में ही होती है इस स्थिति का निवारण सन्दर्भ या प्रसंग से हो जाता है।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वितीय खण्ड

. हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन
. हिन्दी में रूपग्रामिक विश्लेषण की कुछ समस्याएँ
. भाषा-भूगोल
. भाषिक आदान
. अंतस् तथा बहिस्तलीय संरचना का आधार
. संसार की भाषाओं का वर्गीकरण
७. तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव
८. बहुभाषिकता और हिन्दी भाषा-समाज
९. लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण का संक्षिप्त इतिहास
१०. लिप्यंतरण—सिद्धांत तथा प्रयोग
११. अर्थ तत्त्व संबंधी विवरण
१२. अर्थतत्त्व और कोशविज्ञान

१

हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन

—रामायणप्रसाद गर्ग

["हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन" लेख में श्री गर्ग ने हिन्दी के ध्वनिग्रामिक ध्ययन विषय पर लिखे हुए डॉ० जैन एवं डॉ० महरोत्रा की प्रामाणिक पुस्तकों पर नात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनों तियों में केवल खण्डध्वनि (स्वर एवं व्यंजन ध्वनिग्राम) का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत या गया है।] सं०

हिन्दी के ध्वनिग्रामिक अध्ययन विषय पर, हिन्दी में, डॉ० जैन एवं डॉ० महरोत्रा प्रामाणिक एवं उत्कृष्ट कार्य किया है। उनकी सम्बन्धित कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) डॉ० महावीर सरन जैन—"परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन" बलपुर विश्वविद्यालय की प्रथम डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत ('परिनिष्ठित न्दी का वर्णनात्मक विश्लेषण' शीर्षक शोध-प्रवन्ध का प्रथम खण्ड (लोक भारती काशन, १५-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद—१ द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ-संख्या २१६, ल्य २५.०० रुपये।

(२) डॉ० रमेशचन्द्र महरोत्रा—"हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी" सागर श्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत अंग्रेजी शोध-प्रवन्ध का हिन्दी पान्तरण-(मुंशी मनोहरलाल, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित), पृष्ठ संख्या २६१, य २५.०० रुपये।

उपर्युक्त दोनों कृतियों की विवेचना के आधार पर हिन्दी के स्वर एवं व्यंजन निग्रामों की समस्याओं का विवेचन-विश्लेषण किया जा रहा है।

डॉ० महरोत्रा की विवेचना का आधार भाषा के लिखित एवं उच्चरित, दोनों ार के, रूप हैं। डॉ० जैन की विवेचना का आधार केवल उच्चरित (कथ्य) रूप ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ० महरोत्रा ने व्यापक साँचे के आधार पर विवेचन किया है। "इसमें हिन्दी-भा का सम्पूर्ण स्वरूप देने का प्रयास किया गया है तथा समस्त विरोधों को अपेक्षित दिया गया है, चाहे उनमें से कुछ विरोध बहुत से अन्य हिन्दी-भाषियों की बोली विद्यमान हों, और चाहे कोई विरोध सिद्धान्ततः केवल एक बार घटित हुआ हो प्रकार यह अध्ययन किसी विशेष स्वबोली पर आधारित न होकर अनेकानेक स्वबो के सामान्यत्व पर आधारित है।"[1]

डॉ० जैन ने समान साँचे के आधार पर विवेचन किया है—"समान सां आधार पर निर्धारित हिन्दी के ध्वनिग्राम ही उसकी असली प्रकृति को द्योतित हैं तथा अन्य अनेक दृष्टियों से उनका ही सर्वाधिक महत्त्व है। इस समान साँचे से क्षेत्रीय एवं/अथवा हिन्दीतर भाषाओं के उच्चारणों से प्रभावित व्यक्तियों की बो में किसप्रकार की उच्चारणात्मक भिन्नताएँ आ जाती हैं, कौन-कौन से ध्वनिग्राम प्रकार के भाषियों की बोलियों में स्थिर हो उठते हैं, इन सबका अध्ययन टिप्पणियों में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विशिष्ट विशेषता युक्त ध्वनियाँ अथवा ध्वनिग्राम किसी व्यक्ति-विशेष की बोली या कुछ व्यक्ति बोली के स्तर पर ही महत्त्वपूर्ण हैं, समस्त परिनिष्ठित हिन्दी भाषा की उच्च व्यवस्था के स्तर पर नहीं। एतदर्थ, यहाँ परिनिष्ठित हिन्दी के उन ध्वनिग्राम प्रस्तुत किया जा रहा है जो परिनिष्ठत हिन्दी के उच्चारण करने वाले पश्चिमी के क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति की बोली में समानरूप से निहित हैं।"[2]

विवेचन-दृष्टि की इसी भिन्नता के कारण डॉ० महरोत्रा ने हिन् ध्वनिग्रामों की संख्या (खण्ड एवं खण्डेतर) ७० मानी है जबकि डॉ० जैन ने ध्वनि की संख्या (खण्ड एवं खण्डेतर) ४५ मानी है।

महरोत्रा ने स्वर ध्वनिग्रामों की संख्या १५ मानी है जिसकी तालिका प्रकार से हैं—

/ई		ऊ
इ		उ
ए ए'		ओ
ऍ	अ	
ऐ ऐ'		'ऑ' ऑ'
		ऑ
	आ[3]	

जैन ने स्वर-ध्वनिग्रामों की संख्या ११ मानी है। उन्होंने स्वर-ध्वनिग्रा निर्धारण मानस्वर एवं रचना सम्बन्धी दृष्टिकोण से किया है—

---

१. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, प्राक्कथन, पृ० ६।
२. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ५—६।
३. ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० १।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वर ध्वनिग्राम—मानस्वर के सन्दर्भ में

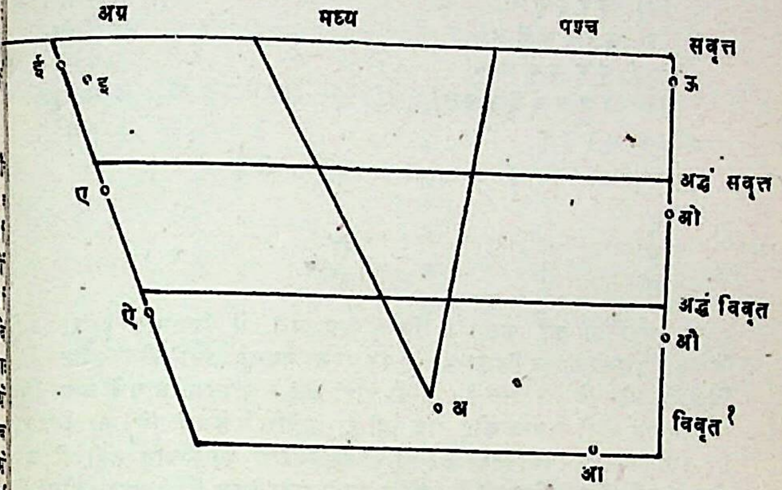

रचना-सम्बन्धी संगति की दृष्टि से (स्वर ध्वनिग्राम)

	अग्र	मध्य	पश्च
उच्च–	ई		ऊ
अर्द्ध उच्च–	इ		उ
मध्य–	ए	अ	ओ
निम्न–	ऐ	आ	औ[2]

उपर्युक्त प्रकार से महरोत्रा एवं डॉ० जैन ने स्वर ध्वनिग्रामों का निर्धारण किया नों के स्वर ध्वनिग्रामों/की समानता निम्न प्रकार से है—

अग्र	मध्य	प्रश्च
ई		ऊ
इ	अ	उ
ए		ओ
ऐ	आ	औ

स्वर-ध्वनिग्रामों का अन्तर इस प्रकार है—(१) जैन ने स्वर ध्वनिग्राम के ण में मानस्वर एवं रचना सम्बन्धी दृष्टिकोण से मध्य /इ/ को /इ/ से पृथक् ाम माना है। उनका विवेचन इसप्रकार है—

"/इ/ एवं /इ/ के स्वल्पान्तर युग्म उपलब्ध नहीं हैं। /इ/ का वितरण बहुत है। यह शब्द की केवल मध्य स्थिति में व्यंजन + व्यंजन /र्/ तथा व्यंजन के ाता है। इसी परिवेश में /इ/ भी आता है। /इ/ एवं इ के उप-स्वल्पान्तर युग्म ध हैं—

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ६।
२. वही, पृ० ७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

/इ/ /क् र् इ य् आ/ = क्रिया
/ऋ/ /क् र् इ प् आ/ = कृपा जैन
/इ/ /प् र् इ न् स् अ/ = प्रिन्स
/ / /प् र् ऋ थ् अ क्/ = पृथक्
/इ/ /व् य् अ व् ह् र् इ त्/ = व्यवहृ...
/ऋ/ घ् र् इ त् = घृत...

महरोत्रा ने निम्न ध्वनिग्रामों की स्थापना की है—

ए'
ॲ' औ'
ऐ' ऑ'

महरोत्रा का कथन है कि—"अग्र क्षेत्र में विद्यमान दूसरा ... विरोध, जिसको समान जिह्वा-ऊँचाई पर परखा गया है, ध्वनिकीय दृष्टि ... भिन्न /ऐ/ और /ऐ'/ के बीच है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के पश्चिमी भाग के अनेक ... के लिए इन दोनों के बीच कोई भेद नहीं है, क्योंकि वे केवल /ऐ/ का व्यव... हैं; इसीप्रकार, उन व्यक्तियों के लिए भी इस विरोध की स्थिति नहीं है ... क्षेत्र के पूर्वी भाग के निवासी हैं, क्योंकि उनके द्वारा केवल /ऐ'/ प्रयुक्त होता ... अतिरिक्त, पूर्वी क्षेत्र से सम्बद्ध एक तीसरा वर्ग है जो इन दोनों ध्वनिग्रा... भेद करता है, यथा /बैठक्/ 'बैठक' बनाम /वै'भव्/ 'वैभव' में।"[२]

"पश्चिमी क्षेत्र में उपलब्ध समान जिह्वा-ऊँचाई पर परखा गया ... ध्वनिकीय दृष्टि से पर्याप्त भिन्न /औ/ और /औ'/ के मध्य है।"[३]

"/ॲ/ /ऐ/ की अपेक्षा कुछ उच्चतर और दृढ़तर है। अनेक व्यक्ति... व्यवहृत /बॅल्/ 'वेल (घंटी)' बनाम /बैल्/ 'बैल' तथा /चॅक्/ 'चैक' बनाम ... जैसे शब्दों से इस विरोध की सत्ता सिद्ध हो जाती है।"[४]

"/ए'/ तथा /ॲ/ स्वरों का व्यवहार अत्यल्प शब्दों और बहुत सीमि... में होता है।"[५]

"/ऑ/, /औ/, तथा /औ'/ कुछ ही भाषियों के लिए पृथक् हैं, अ... विरोध सामान्य है, यद्यपि एकभेदी विरोध भी असामान्य नहीं है। जो ... एवं /औ'/ में भेद नहीं करते और केवल /औ'/ का व्यवहार करते हैं, उन... /ऑ/ /ऑफिस्/ 'ऑफ़िस,' /हॉल्/ हाल्,' /कॉलेज्/ 'कॉलेज्,' /शॉ/ 'शॉ' ... व्यवहृत होता है, लेकिन जो व्यक्ति /औ/ तथा /औ'/ में भेद न करके केवल ... प्रयोग करते है, वे निश्चिततः /औ/ तथा /ऑ/ में भी भेद नहीं करते।"[६]

---

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ७–८।
२. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० २२–२३।
३. वही, पृ० २३।
४. वही, पृ० २३।
५. वही, पृ० २३।
६. यही, पृ० २५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महरोत्रा ने व्यंजन ध्वनिग्रामों की संख्या /व/ और /य/ सहित ४२ मानी जैन ने /व/ /य/ सहित ३० मानी है।

महरोत्रा ने व्यंजन ध्वनिग्रामों की तालिका निम्नप्रकार से प्रस्तुत की है--

४२ व्यंजन (दो अर्द्धव्यंजनों /व्/ और /य्/ सहित)

प्	त	ट्	च्	क्	क़्
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्	
ब्	द्	ड्	ज्	ग्	
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्	
म्	न्	ण्	ञ्	ङ्	
म्ह्	न्ह्				
	र्	ड़्			
	ह्	ढ़्			
	ल्				
	ल्ह				
फ़्	स्		श्	ख़्	
व्	ज़्		य्	ग़्	ह्[1]

जैन ने व्यंजन ध्वनिग्रामों की तालिका अग्रांकित प्रकार से प्रस्तुत की है—

१. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० १–२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दी व्यंजन ध्वनियाँ

अवरोध प्रकृति	उच्चारण प्रयत्न	स्वर-तंत्रियों के आधार पर	प्राणत्व के आधार पर	उच्चारण-स्थान								
				द्वयोष्ठ्य	दंत्योष्ठ्य	दंत्य	वर्त्स्य	तालु-वर्त्स्य तालव्य	मूर्द्धन्य	कंठ्य	अलिजिह्वीय	काकल्य
पूर्णतः अवरोधी	1. स्पर्श	अघोष	अल्पप्राण	प्		त्		ट्	ट्	क्	(क़्)	
			महाप्राण	फ्		थ्		ठ्	ठ्	ख्		
		सघोष	अल्पप्राण	ब्		द्			ड्	ग्		
			महाप्राण	भ्		ध्			ढ्	घ्		
		अघोष	अल्पप्राण					च्				
			महाप्राण					छ्				
	2. स्पर्श संघर्षी	सघोष	अल्पप्राण					ज्				
		सघोष					(ज़)			(ग़)		

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

		सघोष					(ज़्)			(ग़्)		ह्
	4. नासिक्य	अल्पप्राण सघोष		म्	म)	न्[	न्	ञ्	ण्	ङ्		
	5. पार्श्विक	अल्पप्राण सघोष					ल्					
आंशिक अवरोधी	6. लुंठित	अल्पप्राण सघोष					र्	र्'				
	7. अर्द्धस्वर	अल्पप्राण सघोष		.व्	व्			य्				
	8. उत्क्षिप्त	सघोष	अल्पप्राण						ड़्			
			महाप्राण						ढ़्[1]			

नोट—कोष्ठक में दी गई ध्वनियों में से (क़्) (ख़्) (ग़्) केवल अरबी-फारसी शब्दों में तथा (ज़्) एवं (फ़्) अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के विदेशी शब्दों में ही प्रयुक्त होती हैं। इस रूप में इनका उच्चारण केवल अरबी-फारसी आदि के उच्चारण के प्रति सजग एवं सचेष्ट व्यक्ति ही करते हैं।

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ४४-४५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दी-व्यंजन ध्वनिग्रामों के प्रधान सहस्वनों का ध्वन्यात्मक दृष्टि से वर्गीकरण

अवरोध प्रकृति	उच्चारण प्रयत्न	स्वर तंत्रियों के आधार पर	प्राणत्व के आधार पर	उच्चारण-स्थान						
				ओष्ठ्य	दंत्य	वर्त्स्य	वर्त्स्य-तालव्य कठोर तालव्य	मूर्द्धन्य	कोमल, तालव्य कंठ्य	काकल्य
पूर्णतः अवरोधी	१. स्पर्श	अघोष	अल्पप्राण	प्	त्			ट्	क्	
			महाप्राण	फ्	थ्			ठ्	ख्	
		सघोष	अल्पप्राण	ब्	द्			ड्	ग्	
			महाप्राण	भ्	ध्			ढ्	घ	
	२. स्पर्श संघर्षी	अघोष	अल्पप्राण				च्			
			महाप्राण				छ्			
		सघोष	अल्पप्राण				ज्			

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

आंशिक अवरोधी	३. नासिक्य		अल्पप्राण सघोष	म्		न्				
	४. संघर्षी		अघोष			स्	श्			
			सघोष							ह्
	५. पार्श्विक		अल्पप्राण सघोष			ल्				
	६. लुंठित		अल्पप्राण सघोष			र्				
	७. अर्द्धस्वर		अल्पप्राण सघोष	व्			य्			
	८. उत्क्षिप्त		अल्पप्राण सघोष					ड़्[1]		

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ४६-४७ ।

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2
RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैन ने व्यंजन ध्वनिग्रामों का पुनर्वर्गीकरण निम्नप्रकार से किया है—

प्	त्	ट्	च्	क्	
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्	
व्	द्	ड्	ज्	ग्	
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्	
म्	न्				
	स्		श्		ह्
	ल्				
	र्				
	ड़्				
व्			य्		

इस तालिका में एक ओर दन्त्य और वर्त्स्य व्यंजनों को तथा दूसरी ओर
एवं स्पर्श-संघर्षी व्यंजनों को एकत्ररूप में देखा गया है। [१]

जैन एवं महरोत्रा ने जिन व्यंजन ध्वनिग्रामों को समानरूप से माना है
निम्नांकित हैं—

प्	त्	ट्	च्	क्
फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्
व्	द्	ड्	ज्	ग्
भ्	ध्	ढ्	झ्	घ्
म्	न्			
	स्		श्	ह्
	ल्			
	र्			
	ड़्			
व्			य्	

निम्न ध्वनिग्रामों की स्थापना के संवंध में जैन एवं महरोत्रा की विवे
में मतभेद हैं—

(१) ण् ङ्
(२) म्ह् न्ह् ल्ह् र्ह्
(३) क़् ख़् ग़् ज़् फ़्
(४) ढ़् [२]

ण्—/ण्/ ध्वनिग्राम के विषय में महरोत्रा के विचार निम्नप्रकार हैं—

/ण्/ उल्टित स्पर्शों के पूर्व अस्फुट रहता है, जैसे /कण्ठी/ 'कंठी'
/अण्डा/ 'अंडा' में, और उल्टित नासिक्य के पहले भी, जैसे /पुण्ण्यात्मा/ 'पुण्यात्

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ४-८।
२. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० १-२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(~/पुन्न्यात्मा/ 'पुन्यात्मा') (कभी-कभी पहले नासिक्य के उपरान्त संधिज) और /अरण्ण्य/ 'अरण्य' (~/अरन्न्य/ 'अरन्य' में।[1]

उन्होंने /ण्/ ध्वनिग्राम की संध्वनि भी माना है। उनका कहना है कि /ण्/ की दो विशेष संध्वनियाँ हैं। पहली [ण्], पश्च-वर्त्स्य उल्टित नासिक्य स्पर्श है जो उल्टित स्पर्शों के पूर्व, जैसे /घण्टा/ 'घंटा' में, तथा उल्टित नासिक्य के पहले और बाद में, जैसे /अक्शुण्ण्/ 'अक्षुण्ण', और /पुण्ण्य्/ (~/पुन्न्य्/) 'पुण्य, पुन्य' में मिलती है।"[2]

/ण्/ की दूसरी विशेष संध्वनि उल्टित नासिक्य उत्क्षिप्त अर्थात् [ड़ँ] है।"[3]

जैन ने ण् के संबंध में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं—

[ण्]—मूर्द्धन्य नासिक्य। इसका वितरण भी अत्यन्त सीमित है। यह केवल शब्द की मध्य स्थिति में व्यंजन-गुच्छों में अपने वर्गीय (टवर्गीय) व्यंजन ध्वनिग्रामों के पूर्व आता है।

"इस स्थिति में [ण्] सहस्वन /न्/ के [न्] के साथ मुक्त-वितरण की स्थिति में वितरित है।"[4]

"देवनागरी वर्ण ण् से लिखित शब्दों में ण् टवर्ग के पूर्व नासिक्य के रूप में उच्चरित होता है, अन्यत्र नासिक्य उत्क्षिप्त के रूप में। इसप्रकार इन दो ध्वनियों का वितरण इसप्रकार है—

[ण्]—व्यंजन-गुच्छों में टवर्गीय व्यंजनों के पूर्व।

[ड़ँ]—अन्यत्र।

यदि हम [ण्] एवं [ड़ँ] दोनों को ध्वनिग्राम /ण्/ के सदस्य के रूप में वर्गबद्ध करते हैं, तो /ण्/ निश्चितरूप से एक भिन्न ध्वनिग्राम है तथा /न्/ एवं /ण्/ के स्वल्पान्तर युग्म भी दिए जा सकते हैं। यथा—

/न्/ : /ण्/

/अनुवाद/	/बान्/
/अणुवाद/	/बाण्/

यदि हम [ड़ँ] को एक स्वतंत्र ध्वनि इकाई न मानकर, ध्वनिग्रामिक स्तर पर /ँ/ एवं /ड़ँ/ ध्वनिग्रामों में विभक्त करते हैं, तो 'ण्' /न्/ का एक सहस्वन बना रहता है।"[5]

ङ्—महरोत्रा ने /ङ्/ ध्वनिग्राम के विषय में निम्न विचार प्रस्तुत किए हैं—

---

१. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० ९१।
२. वही, पृ० १०५।
३. वही, पृ० १०५।
४. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ७०।
५. वही, पृ० ७१–७२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"व्यंजनों में सर्वाधिक सीमित वितरण /ङ/ का है, जो उन स्थितियों के अतिरिक्त कि जहाँ यह नहीं आता, अंतिम स्थिति में भी केवल / — ङ ग/ तथा /ˋगं/ के साथ मुक्त-भेद में आता है, निजी रूप में पृथकतः कभी नहीं आता।"[1]

डॉ० महरोत्रा का कथन है कि—

"/ङ/ की तीन विशेष संध्वनियाँ हैं। /य्/ के पूर्व [य्]—अनुरंजित अग्रीकृत कोमलतालव्य नासिक्य आता है।"

"/ह्/ के पहले [ह्]--अनुरंजित पश्चीकृत कोमलतालव्य नासिक्य आता है।"

"इन दो संध्वनियों की मात्रा अन्य नासिक्यों की /य/ और /ह्/ के पूर्व आने वाली संध्वनियों तथा /ङ/ की अन्य व्यंजनों के पूर्व आने वाली संध्वनि से अधिक रहती है।"[2]

जैन ने ङ् को /न/ का एक सहस्वन माना है—

"[ङ्]—कंठ्य नासिक्य व्यंजन ध्वनि। यह शब्द की आदि स्थिति एवं अंतिम स्थिति में नहीं आती है। शब्द के मध्य में निम्नलिखित स्थितियों में आती है—

(क) व्यंजन-गुच्छों में अपने वर्गीय (कवर्गीय) व्यंजनों के पूर्व आती है—

[कङ्घा]	/कन्घा/	=	कंघा
[पङ्खा]	/पन्खा/	=	पंखा
[सङ्ग]	/सन्ग/	=	संग
[सिङ्घ]	/सिन्घ/	=	सिंह

(ख) कुछ वक्ता शब्द की मध्य स्थिति में /ह्/ के पूर्व भी इसका उच्चारण करते हैं। इस स्थिति में /न/ का [न्] मुक्त वितरण की स्थिति में वितरित होता है अर्थात् शब्द की मध्य स्थिति में /ह्/ के पूर्व जहाँ-जहाँ [ङ्] आता है, वहाँ [न्] का भी उच्चारण हो सकता है।

[सङ्हार्] — [सन्हार्] /सन्हार्/ = संहार

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि [सङ्हार्] का त्वरित उच्चारण [सङ्घार्] रूप में होता है।[3]

---

१. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० ८५।

२. वही, पृ० १०६–१०७।

३. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ७०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

म्ह्, ल्ह्, र्ह्, न्ह—महरोत्रा का कथन है कि—

"अधिक विवादास्पद /म्ह्, न्ह्, र्ह्, ल्ह्./ के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख आवश्यक है। इन चारों व्यंजनों के उन विरोधों के अतिरिक्त, जो /ह्./ से अनुगमित इनके अल्प्राण रूपों के साथ मिलते हैं, इनका वितरण अनिवार्यतः गुच्छों की अपेक्षा अकेले व्यंजनों के जैसा अधिक है।"[1]

"म्ह्./ और /न्ह्./ के इकाई-ध्वनिम होने के पक्ष में एक और तर्क यह दिया जा सकता है कि जब ये किसी अंतिम स्वर के पूर्व होते हैं, तो उसे उसीप्रकार सानुनासिक बना देते हैं जिसप्रकार उसे अल्पप्राण नासिक्य व्यंजन, जो कि निर्विवाद रूप से इकाई-ध्वनिम हैं, सानुनासिक बना देते हैं।"[2]

"/ल्ह्./, उदा० /अल्ल्हड़/ 'अल्हड़' में / ल् / के बाद आता है जिसकी तुलना, उदा० /गल्लड़./ 'गल्लड़' के द्वितीय /ल/ से की जा सकती है। इसकी कार्यकारिता इस दृष्टि से /म्ह्, न्ह्, र्ह्./ सहित सभी महाप्राण व्यंजनों के समान है।"[3]

जैन का मत है कि—

"स्पर्श व्यंजनों के सन्दर्भ में अल्पप्राण व्यंजन; अल्पप्राण व्यंजन+/ह्./ एवं महाप्राण व्यंजनों के मध्य व्यतिरेक के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु /र्, ल्, म्, न्/ के सन्दर्भ में /म्/ /म्ह्./ एवं /म्+ह्./ तीनों के मध्य व्यतिरेक नहीं मिलता है।"[4]

"अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं जिनमें /म्/ /न्/ /ल्/ /र्/ के बाद किंचित् हकारत्व का उच्चारण होता है, किन्तु उस हकारत्व का ध्वनिग्रामिक महत्त्व नहीं है।"[5] यथा—

/बार्ह्वाँ/ /~बार्वाँ/ सोल्ह्वाँ ~सोलवाँ/

/किन्ही~किनी/ चूल्हा~चूला/ इत्यादि।

इस कारण ध्वन्यात्मक स्तर पर कुछ शब्दों में /म्ह्./, /ल्ह्./, /न्ह्./, /र्ह/ भले ही /क्ह्./ एवं /ख्/ की मध्यवर्ती स्थिति में अर्थात् अल्पप्राण ध्वनि+/ह्./ के[6] 'गुच्छ' एवं अल्पप्राण ध्वनि +हकार के 'अविभाज्य इकाई रूप' की बीच की स्थिति में उच्चरित होते हों, किन्तु ध्वनिग्रामिक स्तर पर जहाँ ह्कारत्व गुच्छरूप से भिन्न स्थिति में होता है, वहाँ /म्ह्./ /ल्ह्./ /न्ह्./ /र्ह्./ को /म्/ /ल्/ /न्/ /र्/ के रूप में 'रिड्यूस्ड' किया जा सकता है। शेष शब्दों में /म्ह्./ /न्ह्./ /ल्ह्./ /र्ह्./ इकाई की भाँति नहीं, गुच्छ के रूप में ही उच्चरित हैं।

---

१. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० ६९-७०।

२. वही पृ० ७०-७१।

३. वही पृ० ७२।

४. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ३६।

५. वही पृ० ३६।

६. वही पृ० ३६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चूंकि /म्/ /म्ह्./ एवं /म्+ह्./ तीनों स्थितियों के बीच व्यतिरेक नहीं पा जाता है, इसकारण या तो /म्~म्ह्./ की स्थिति मानी जा सकती है अथ /म्ह्.~म्+ह्./ की स्थिति मानी जा सकती है। इसप्रकार व्यतिरेक की दृष्टि /म्ह्./ /न्ह्./ /र्ह्./ /ल्ह्./ को 'ध्वनिग्रामिक इकाई' के रूप में मानने की अनिवार्य समाप्त हो जाती है।

'न्ह्' 'ल्ह्', 'र्ह्' की ध्वन्यात्मक स्थितियों एवं महाप्राण स्पर्श व्यंजनों यथा--/ख्, घ्, थ्, ध्, फ्, भ्/ की ध्वन्यात्मक स्थितियों में स्पष्ट अन्तर लक्षि होता है।

दूसरे शब्दों में /ख्/ के उच्चारण में 'हकार' अलग से सुनाई नहीं पड़ता, श्वा के साथ मिश्रित रूप से सुनाई पड़ता है, किन्तु /किन्हीं/ /अर्हर्/ /कुल्हाड़ी/ में /न्ह्/ /र्ह/ /ल्ह्./ में 'ह्' ध्वनि अलग से सुनाई पड़ती है। इस प्रकार उच्चारण की दृष्टि [ख] [घ] आदि स्पर्श महाप्राण ध्वनियाँ /अल्पप्राण ध्वनि+ह्./ का क्रम नहीं, प्रत्यु दोनों का पूर्ण अविच्छेद्य, अविभाज्य मिलन है; किन्तु /म्ह्., न्ह्., ल्ह्., र्ह्./ आदि हम ध्वनि+ह्. के गुच्छरूप में मान सकते हैं।

/ख्/ को इकाई एवं /म्ह्./ को गुच्छरूप में मानने के सम्बन्ध में एक अ विचारणीय तथ्य आक्षरिक विभाजन संबंधी है।"[1]

क़् ख़् ग़् ज़् फ़्--महरोत्रा का कथन है कि--

"ऐसे बहुत से भाषी हैं, जो /क़् फ़् ख़् ज़् ग़्/ का व्यवहार कभी नहीं करते और उन्हें क्रमशः /क् फ् ख् ज् ग्/ से स्थानांतरित कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति भी कम नहीं जिनकी बोली में /क़् ख़् ग़्/ को छोड़कर शेष सभी व्यंजन मिलते हैं। कुछ ऐसे भी जो केवल क़् का प्रयोग नहीं करते।"[2]

किन्तु फिर भी महरोत्रा ने इन्हें ध्वनिग्राम माना है।

जैन का कथन है कि--

" 'फ़्' ध्वनि से युक्त शब्द का उच्चारण करते समय अधिकांश हिन्दी भाषी आदि स्थिति एवं मध्य स्थिति में 'फ़्' ध्वनि को 'फ्' रूप में ही उच्चरित करते हैं हिन्दी प्रदेश के ऐसे व्यक्ति, जो अरबी-फारसी उच्चारण से प्रभावित हैं, या उर्दू अनुसार अरबी-फारसी शब्दों के तदनुरूप उच्चारण पर बल देते हैं, 'फ़्' का उच्चार करते हैं। 'फ़्' दन्त्योष्ठ्य, अघोष, संघर्षी ध्वनि है।"[3]

" 'ज़्' युक्त शब्द का उच्चारण करते समय अधिकांश हिन्दी भाषी 'ज़्' सघोष, अल्पप्राण, वर्त्स्य-तालु स्पर्श संघर्षी ध्वनि 'ज्' रूप में उच्चरित करते हैं

---

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ३७।
२. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० ६३।
३. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ३६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अरबी-फारसी उच्चारण पर बल देने वाले 'ज़्' का उच्चारण करते हैं। यह वत्स्य सघोष संघर्षी ध्वनि है तथा अरबी-फारसी उच्चारण के प्रति सजग व्यक्ति 'तमीज', 'कमीज' इत्यादि शब्दों का उच्चारण एवं लेखन 'तमीज़', 'कमीज़' रूप में करते हैं।"[१]

"अघोष महाप्राण कंठ्य संघर्षी व्यंजन ध्वनि 'ख़्' एवं संघोष अल्पप्राण कंठ्य संघर्षी व्यंजन ध्वनि 'ग़्' का संघर्षी उच्चारण वही व्यक्ति करते हैं जो अरबी-फारसी उच्चारण के प्रति सजग हैं। साधारणतः हिन्दी-भाषी इन संघर्षी 'ख़्' एवं 'ग़्' का उच्चारण स्पर्श 'ख्' एवं 'ग्' की भाँति ही करते हैं।

अरबी-फारसी उच्चारण के प्रति सजग व्यक्ति विदेशी शब्दों का उच्चारण करते समय अघोष अल्पप्राण अलिजिह्वीय स्पर्श व्यंजन ध्वनि 'क़्' का उच्चारण करते हैं। अधिकांश हिन्दी भाषी इसका उच्चारण अलिजिह्वीय स्थान से न करके कंठ्य से ही करते हैं, अर्थात् 'क़्' का उच्चारण 'क्' की भाँति ही करते हैं। इसप्रकार समान ढाँचे के आधार पर हिन्दी में इस स्थान से किसी ध्वनि का उच्चारण नहीं होता है।"[२]

ढ़्—महरोत्रा ने ढ़् को अलग ध्वनिग्राम मानते हुए भी यह प्रतिपादित किया है कि—

"बहुत ही कम वक्ताओं की [ढ] और [ढ़] एक ध्वनिम के अन्तर्गत हैं। उनकी बोली में इनका वितरण इस प्रकार है—

[ढ्] प्रारंभ में, जैसे /ढोल्/ 'ढोल' में;
/ण्/ के बाद, जैसे /ठण्ढा/ 'ठंढा' में; ......
/ड्/ के बाद, जैसे /बुड्ढा/ 'बुड्ढा' में;
/स्वँ०—स्व०/ में, जैसे /मूँढा/ 'मूँढा' में......[३]
/स्वँ—व्यं०/ में, जैसे ढूँढ़ना/ 'ढूँढना' में......
/स्वँ०/ के बाद अन्त में, जैसे /ढूँढ्/ 'ढूँढ' में......

[ढ़्] /स्व०/ के बाद अन्त में, जैसे /बाढ़्/ [बाढ्] 'बाढ़' और /मेढ्/ [मेंढ़्] 'मेढ़' में......

स्वर-मध्यग स्थिति में, जब पहला स्वर-ध्वनिम सानुनासिक न हो, जैसे /लोढा/ [लोढ़ा] 'लोढ़ा'......

व्यंजन के पूर्व, जैसे /लुढ्की/ [लुढ्की] 'लुढ़की' में।"[४]

---

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ४०।
२. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ४१।
३. हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी, पृ० ६३।
४. वही, पृ० ६४।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant 2

जैन ने ढ़् को सहस्वन मानते हुए कहा है कि—

" /ढ्/ [ढ्] [ढ़्]

[ढ्]—सघोष महाप्राण कठोर तालव्य स्पर्श

[ढ़्]—सघोष महाप्राण कठोर तालव्य उत्क्षिप्त"[1]

"[ढ्]—यह आदि में तथा शब्द की मध्य स्थिति में व्यंजन-गुच्छ के सदस्य के रूप में आता है—

#—V = /ढोलक्/ /ढाल्/
C—V = /चड्ढी/ /गड्ढा/

[ढ़्]—शब्द की मध्य स्थिति में व्यंजन गुच्छ के प्रथम सदस्य के रूप, द्विस्वरान्तर्गत तथा शब्द की अंतिम स्थिति में आता है—

V—C
V— क् =[लुढ़्काना]
V— त् =[आढ़्तिया]
V— न् =[पढ़्ना] [ओढ़्ना] [चढ़्ना] [कुढ़्ना]
V— व [कढ़्वाना]
[गढ़न्त, बढ़ई, डढ़ियल, चढ़ाना,...]

V—# =रीढ़्, गढ़्, चढ़्, कोढ़्, मूढ़्

अनुनासिक स्वरों के पश्चात् दोनों सहस्वन मुक्त वितरण में आते हैं। V—C; V—V; V—# स्थितियों में तो [ढ़्] ही आता है; [ढ] नहीं किन्तु Ṽ—, CṼ—V, Ṽ—# स्थितियों में [ढ्] एवं [ढ़्] मुक्त वितरित होते हैं—

Ṽ—C =[मेंढ्की ~ मेंढ़्की]
Ṽ—V =[मेंढक् ~ मेंढ़क्]
Ṽ—# =[ढूंढ्~ढूंढ़्]"[2]

इसप्रकार 'हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन' विषय पर जैन एवं भ की कृतियों का केवल खण्ड ध्वनि (स्वर एवं व्यंजन ध्वनिग्राम) का तुलनात्मक अ प्रस्तुत किया गया है।

---

१. परिनिष्ठित हिन्दी का ध्वनिग्रामिक अध्ययन, पृ० ६६।

२. वही पृ० ६७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२

हिन्दी में रूपग्रामिक विश्लेषण की कुछ समस्याएँ

महावीर सरनजैन

["हिन्दी में रूपग्रामिक विश्लेषण की कुछ समस्याएँ' शीर्षक लेख में डॉ० जैन ने रूपग्रामिक विश्लेषण के संदर्भ में आने वाली समस्याओं (किसी उच्चार में कौन-सा अंश व्युत्पादक प्रत्यय है एवं कौन-सा विभक्ति है, आदि?) का समाधान करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'अधिकारी कारक एकवचन संज्ञारूपों को (विशेषण एवं सर्वनाम कोटि के रूप भी) विभक्तिरहित रूप में स्वीकार करना अधिक संगत है]—सं०

हिन्दी का रूपग्रामिक विश्लेषण करते समय सर्वप्रथम समस्या यह उठती है कि किसी उच्चार में कौन-सा अंश व्युत्पादक प्रत्यय है एवं कौन-सा अंश विभक्ति है। इस समस्या का कारण यह है कि कुछ उच्चारों का रूपग्रामिक विश्लेषण भिन्न प्रकार से सम्भव है और प्रत्येक विकल्प के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे सामने निम्नलिखित उच्चारों की तालिका है—

हाथ्	काठ्	रंग	काम्
हथौड़ा	कठौता	रंगीला	कमेरा
हथौड़ी	कठौती	रंगीली	कमेरी

प्रश्न यह है कि इन उच्चारों में विभक्ति प्रत्यय है या नहीं। और यदि है तो व्युत्पादक प्रत्यय एवं विभक्ति प्रत्यय की सीमाएँ कौन-सी हैं।

(1) **विश्लेषण की पहली विधि :**

{हाथ्–}	{–औड़–}	{–आ}	{–ई}
{काठ्–}	{–औत्–}	{–आ}	{–ई}
{रंग–}	{–ईल्–}	{–आ}	{–ई}
{काम्–}	{–एर्–}	{–आ}	{–ई}

इस विवेचन के अनुसार मूल रूपग्राम में व्ययुत्पादक प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न-रूप साधित होते हैं। उनमें पुंल्लिग विभक्ति प्रत्यय {–आ} के योग से पुंल्लिग एवं स्त्रीलिंग विभक्ति प्रत्यय {–ई} के योग से स्त्रीलिंग रूप बनते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपात्मक दृष्टि से इसप्रकार के विश्लेषण में कोई त्रुटि नहीं है किन्तु इसप्र की विधि में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि विभक्ति प्रत्ययों को अलग कर देने से रूप बचता है, वह भाषा में उच्चरित नहीं होता है। /हथौड़–, कठौत्–, रंगी कमेर् / जैसे रूपों का कभी प्रयोग नहीं होता है। {काठ्–} में {–औत्} लगकर {कठौत्–} मानें तो व्युत्पादक धरातल पर व्युत्पन्नता की व्याख्या करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(२) दूसरी विधि :

{हाथ्–}	{–औड़ा}	{–ई}
{काठ्–}	{–औता}	{–ई}
{रंग–}	{–ईला}	{–ई}
{काम्–}	{–ऐरा}	{–ई}

इस विवेचन के अनुसार मूलरूप में व्युत्पादक प्रत्यय के योग से पुंल्लिग रूप रचना होती है। उसमें स्त्रीलिंगद्योतक प्रत्यय के योग से स्त्रीलिंग रूप की रचना है। उदाहरणार्थ, {हाथ–} मूल रूपग्राम में {–औड़ा} व्युत्पादक प्रत्यय के योग {हथौड़ा} पुंल्लिग रूप व्युत्पन्न होता है। {हथौड़ा–} में {–ई} स्त्रीलिंग प्रत्यय के से {हथौडी} की रचना होती है।

एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि {–ई} परप्रत्यय को व्युत्पादक परप्र मानें या विभक्ति प्रत्यय? कुछ विचारक {–ई} को विभक्ति प्रत्यय मानते इस मान्यता की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि पुंल्लिग रूपों को व्युत्पादक प्रत्यय के से निष्पन्न मानने पर स्त्रीलिंग रूपों को विभक्ति प्रत्यय के योग से निष्पन्न मा असंगत है। इसका कारण यह है कि यदि हम 'हथौडा' को एक रूपग्रामिक शब्द स्थानापन्न कर सकते हैं तो 'हथौड़ी' को भी कर सकते हैं। यह 'हथौड़ा है', 'यह लि तो 'यह हथौड़ा है' एवं 'यह रात है'। इस कारण इस सम्बन्ध में संगत यही है कि को भी व्युत्पादक परप्रत्यय के रूप में स्वीकार किया जाये।

इसीप्रकार की समस्या उन रूपों के विश्लेषण की भी है जो किसी मु मूलरूपग्राम से व्युत्पन्न नहीं होते हैं यथा :—/लड़्का, लड़्की/

समस्या यह है कि /लड़का/ को एक रूपग्रामिक शब्द माना जाये या इसके दो विकल्प हैं—

(१) /लड़का/ एवं /लड़्की/ में /लड़क्–/ को मूलरूप मानें तथा अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति {–आ} के योग से /लड़्का/ अविकारी कारक एकवचन स्त्रीलिंग विभक्ति {–ई} के योग से /लड़्की/ रूप निष्पन्न मानें।

(२) /लड़्का/ को ही मूल रूप मानें और उसमें {–ई} के योग से /लड़ रूप को निष्पन्न मानें।

उपर्युक्त दो विकल्पों में से कौन-सा विकल्प अधिक वैज्ञानिक, संगत एवं जनक है, इसकी विवेचना आवश्यक है। इसलिए सर्वप्रथम हम दोनो के मा महत्त्व पर विचार करेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(1) मूल रूप /लड़क्–/

हिन्दी के परम्परागत व्याकरणों में मूलरूप /लड़का/ को स्वीकार किया गया है। /लड़का/ को मूलरूप मानकर कारक एवं वचन के रूपान्तर को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है––

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी कारक	ϕ	–ए
विकारी कारक	–ए	–ओं

गठनात्मक पद्धति से अध्ययन करने पर यह विश्लेषण उचित प्रतीत नहीं होता। सन् 1960 में मैंने हिन्दी संज्ञाओं का रूपग्रामिक विश्लेषण करते हुए /लड़क्–/ को मूलरूप माना था, /लड़का/ को नहीं।[१] इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए गए थे––

(१) पुंल्लिग आकारान्त प्रातिपदिक नहीं है। यदि 'लड़का' पुंल्लिग आकारान्त प्रातिपदिक है तो 'छोरा' भी पुंल्लिग आकारान्त प्रातिपदिक है, किन्तु दोनों संज्ञा प्रातिपदिकों के दो भिन्न उपवर्गों के सदस्य हैं।

(२) वस्तुतः प्रातिपदिक 'आकारान्त' न होकर व्यंजनान्त है। व्यंजनान्त प्रातिपदिक में 'आ' विभक्ति संयुक्त होती है।

(३) यदि 'लड़का' प्रातिपदिक है, एवं 'ए' तथा 'ओं' विभक्तियाँ उसमें जुड़ती हैं, तो इस दृष्टि से संज्ञा विभक्तिमय पदरूप (शब्द) 'लड़काए' एवं 'लड़काओं' बनेंगे, 'लड़के' अथवा 'लड़कों' नहीं।[२]

उसी लेख में /लड़का, लड़के, लड़कों, लड़की, लड़कियों/ इत्यादि रूपों का रूपग्रामिक विश्लेषण करते हुए निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की गई थी––

	पुंल्लिग		स्त्रीलिंग	
कारक	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	–आ	–ए	–ई	–इयाँ
विकारी	–ए	–ओं	–ई	–इयों
सम्बोधन	–आ	–ओ	–ई	–इयो

१. महावीर सरन जैन : 'हिन्दी संज्ञा आराकान्त शब्द : पदग्रामिक विश्लेषण एवं वर्गबन्धन' : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, वर्ष ६६, अंक २-३-४ सम्वत् २०१८।

२. महावीर सरन जैन––"हिन्दी के आकारान्त संज्ञा शब्द पदग्रामिक विश्लेषण एवं वर्गबन्धन' : नागरी प्रचारिणी पत्रिका मालवीय शती विशेषांक, पृष्ठ ४७०, वर्ष ६६, अंक २-३-४ संवत् २०१८। पुनर्प्रकाशित––भाषाशास्त्र की रूपरेखा, डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० २०४, लीडर प्रेस इलाहाबाद।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्त्रीलिंग रूप में /ई/ को व्युत्पादक प्रत्यय मानने का विकल्प भी प्रस्तुत किया गया था—

"इस वर्ग के दूसरे निदान में केवल 'ई' को ही व्युत्पादक प्रत्यय के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। यथा—

लड़्क्—प्रातिपदिक—+—ई—व्युत्पादक प्रत्यय लड़्की = प्रातिपदिक व्युत्पन्न।"[1]

इसके बाद परिनिष्ठित हिन्दी के 'व्याकरण' अथवा 'संज्ञा' पर जितने कार्य हुए हैं, उनमें से अधिकांश में इसी पद्धति को अपनाया गया है।

/लड़्का, लड़्के, लड़्कों, लड़्की, लड़्कियों/ इत्यादि रूपों का जब कोई विश्लेषणकर्ता रूपग्रामिक विश्लेषण करने के लिए उद्यत होता है तो समस्त उच्चारों में प्राप्त समानरूप /लड़्क्—/ को ही पाता है। इसके आगे अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति {—आ} के योग से /लड़्का/, अविकारी कारक बहुवचन पुंल्लिग विभक्ति {—ए} के योग से /लड़्के/, विकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति /—ए/ के योग से /लड़्के/, विकारी कारक बहुवचन पुंल्लिग विभक्ति {—ओं} के योग से /लड़्कों/ इत्यादि की व्याख्या भी स्पष्टरीति से कर पाता है। इसकी पुष्टि के लिए अन्य तर्क भी दिए जा सकते हैं—

जब /लड़्कों/ में विकारी कारक बहुवचन पुंल्लिग विभक्ति {—ओं/} तथा /लड़्के/ में विकारी कारक एकवचन पुल्लिग विभक्ति {—ए} अथवा अविकारी कारक बहुवचन पुंल्लिग विभक्ति {—ए} को स्वीकार करते हैं, तो /लड़्का/ में अविकारी कारक एकवचन पुल्लिग विभक्ति {—आ} को स्वीकार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त /लड़्का, घोड़ा/ में अर्थगत समानता इस दृष्टि से है कि दोनों उच्चार अविकारी कारक, एकवचन, पुल्लिग संवर्ग के हैं। अतएव दोनों के समान अर्थक अंश का विश्लेषण करने के लिए दोनों में प्राप्त समान ध्वनिग्रामिक आकार अन्त्य {—आ} का विश्लेषण करना होगा। इस दृष्टि से भी लड़्का/ एवं /घोड़ा/ में एक रूपग्राम से अधिक रूपग्राम हैं।[2]

---

१. महावीर सरन जैन—"हिन्दी के आकारान्त संज्ञा शब्द : पदग्रामिक विश्लेषण एवं वर्गबन्धन' : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, पृ० ४७२ पुनर्प्रकाशित—भाषाशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २८५।

२. मिलाइए :

"To find the meaning of Morpheme 'A' and Morpheme 'B' we may be forced to deal with the sequences A+X and B+X, and we often wonder that the Morpheme X contributes to the total meanings of these sequences—the meanings from wich we expect to abstract the separate meanings of A and B."—C. F. Voegelin—Distinctive Features and Meaning Equivalence", Language XXIV (1948)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि /लड़्क्–/ एवं /घोड़्/ का अपना कोई अर्थ नहीं है, अर्थात् ये स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होने की क्षमता नहीं रखते हैं। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि रूपग्रामिक विश्लेषण की अर्थ-निरपेक्ष विधि के अनुसार रूपग्रामों का निर्धारण उनकी वितरणगत विशेषताओं के आधार पर होता है। विश्लेषणकर्ता सामग्री का निरीक्षण करता चलता है तथा उसे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि किन समान अनुक्रमों अथवा ध्वनिग्रामों के गुच्छों की पुनरावृत्ति होती रहती है। वह समय-समय पर वितरण के आवर्त्तक व्यवधानों को अंकित करता चलता है। शून्य तत्त्वों संहित आवर्तक अंश ही भाषा के रूपग्राम होते हैं।[1]

वस्तुतः रूपग्रामों का कोई साधारण भाषी विश्लेषण नहीं कर पाता है। 'रूपग्राम शब्द अथवा वाक्य प्रकार की इकाइयों में से एक इकाई नहीं हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने सहज बोध से पहचान लेता है।[2]

(२) मूल रूप /लड़्का/

"पूर्व विवेचनानानुसार /लड़्का, लड़्के, लड़्कों/ आदि का विश्लेपण करने पर मूल रूप /लड़्क्—/ माना गया है। /लड़्क्–/ को मूल रूप मानते हुए, /लड़्का/ के {–आ} को 'अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति' तथा /लड़्की/ के {–ई} को /अविकारी कारक एकवचन स्त्रीलिंग विभक्ति' माना गया है। इस दृष्टि से {–आ} एवं {–ई} दोनों अविकारी कारक एकवचन को द्योतित कर रही हैं, दोनों का अन्तर 'लिंग' का अन्तर है।

यथार्थतः लिंग, वचन तथा कारक व्यायाकरणिक संवर्गों में से {–आ} को केवल पुंल्लिग तथा {–ई} को केवल स्त्रीलिंग विभक्ति के रूप में वर्णित नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि /लड़्का एवं /लड़्कों/ में {–आ} एवं {–ओं} का अन्तर 'लिंग' की दृष्टि से न होकर, वचन एवं कारक की दृष्टि से है। /लड़्क/ एवं /लड़्की/ का विश्लेपण करने पर {–आ} एवं {–ई} का अन्तर 'लिंग' के कारण तथा /लड़्का/ एवं /लड़्कों/ का विश्लेषण करने पर {–आ} एवं {–ओं} का अन्तर 'वचन एवं कारक' की दृष्टि से है। ऐसी स्थिति में {–आ} को या तो केवल लिंगद्योतक या फिर वचन एवं कारक द्योतक विभक्ति मानी जा सकती है। या तो वचन एवं कारक के लिए या लिंग के लिए शून्य परप्रत्ययों की कल्पना करनी होगी। इसप्रकार /लड़्क्–/ को मूलरूप स्वीकार करने पर अनेक शून्य परप्रत्ययों की कल्पना करनी होती है। तथा वर्णन में अनेक जटिलताएँ आ जाती हैं।"

अविकारी कारक एकवचन संज्ञारूपों को विभक्तिमय मानने पर विभक्ति रूपग्रामों के सहरूपग्रामों के वितरण की जटिल समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है। इसका कारण यह है कि /लड़्का/ को मूलरूप न मानकर यदि लड़्क्—/ को मूल रूप स्वीकार करते हैं तो इस पद्धति से अधिकांश संज्ञा प्रातिपदिक व्यंजनान्त

---

1. Trager and Smith—An Outline ot English Structure, p. 53.

2. C. L. Ebeling—Linguistic Units (1960), p. 107.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो जाते हैं। डॉ० उप्रेती द्वारा प्रस्तुत हिन्दी संज्ञा का विश्लेषण इसका उदाहरण है जिसमें /लड़का, कोड़ा, दस्ताना, भतीजा, वगीचा, घस्यारा, गाना, चरवाहा, रुपया/ इत्यादि में {–आ} को विभक्ति मानकर संज्ञा मूल प्रातिपदिक क्रमशः /लड़क्–, कोड़्–, दस्तान्–, भतीज्–, वगीच्–, घस्यार्–, गान्–, चरवाह्–, रुपय्–/[1], दादा, काका, मुखिया, सुदामा, राजा / इत्यादि में {–आ} को विभक्ति, मानकर मूल प्रातिपदिक/ दाद्–, काक्––, मुखिय्–, सुदाम्–, राज्–/[2], धोबी, विद्यार्थी, तपस्वी, सनकी, भिखारी, भंगेड़ी/ इत्यादि रूपों में {–ई} विभक्ति स्वीकार करके मूल प्रातिपदिक क्रमशः /धोब्–, विद्यार्थ–, तपस्व्–, सनक्––, भिखार्-भंगड़्–/[3],/ खालू, डाकू, साधू, साढ़ू, भालू, गेहूँ/ इत्यादि जैसे रूपों में {–ऊ} को विभक्ति मानकर मूल प्रातिपदिक क्रमशः /खाल्–, डाक्–, साध्–, साढ़्–, भाल्–, गेह्–/ [4]जैसे व्यंजनान्त रूपों को माना गया है। विश्लेषण की इस पद्धति को अपनाने से स्त्रीलिंग मूल प्रातिपदिक भी अधिकतर व्यंजनान्त हो जाते हैं।[5]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि अविकारी कारक एकवचन में प्रयुक्त होने वाले संज्ञारूपों को विभक्तिमय मानकर, उनमें से अविकारी कारक एकवचन द्योतक विभक्ति रूपों के विश्लेषण करने पर आकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त इत्यादि अन्त्य शब्दरूप मूल व्यंजनान्त रह जाते हैं। इस स्थिति में एक तो अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति रूपग्राम के रूप में अनेक सहरूपग्रामों को स्वीकार करना पड़ता है, दूसरे इन सहरूपग्रामों का वितरण प्रस्तुत करना एक समस्या हो जाती है। पुंल्लिग संज्ञा शब्दों के ही अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग विभक्ति के निम्नलिखित सहरूपग्राम हो जाते हैं––

{ /–ϕ/,–ϕ^2/, –आ^1, –आ^2, आ^3, –ओ, –ई, –ऊ/}

इन सहरूपग्रामों का वितरण ध्वन्यात्मक प्रतिबंधित अथवा रूपग्रामिक प्रतिबंधित रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, केवल शब्दकोशीय धरातल पर ही इन्हें प्रविंधित किया जा सकता है, अर्थात् प्रत्येक सहरूपग्राम के वितरण के लिए शब्दों की एक लम्बी चौड़ी सूची प्रस्तुत करनी आवश्यक हो जाती है। इसी कारण, कुछ भाषाशास्त्री /लड़का/ को ही मूलरूप मानने की दिशा में सहमत हैं। यथा–– डॉक्टर रमेशचन्द्र महरोत्रा ने एक पत्र में अपनी सहमति व्यक्त की––

"ठीक है जी। एकदम सुविधा हो जाती है अविकारी एकवचन संज्ञा में से विभक्ति प्रत्यय न निकालकर। वरना हिन्दी के अच्छे-खासे रूपों की रेड़ लग जाती है, कट-छँट कर, और मातृभाषी के मन पर करारी चोट भी पड़ती है। यह तो जिद है 'स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स' की कि उदा० 'लड़का' को 'बेस फार्म' नहीं मानने

---

१. हिन्दी में प्रत्यय विचार, पृ० २१५।

२. वही, पृ० २१७।

३. वही, पृ० २१८।

४. वही, पृ० २१८-१९।

५. वही, पृ० २२१-२३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देते...।" /लड़क्–/ को मूल रूप मानने की विधि से विश्लेपण में कोई सुविधा नहीं होती, उल्टे अनावश्यक एवं अवांछनीय विस्तार का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसप्रकार के विश्लेषण से न तो भाषा-शिक्षण में किसीप्रकार की सहायता मिल सकती है और न भाषा-गठन को समझने में सुविधा ही हो सकती।[1]

भाषा-विश्लेषण का उद्देश्य व्यवहृत भाषा-सामग्री को संक्षिप्त, सारगर्भित एवं नियमबद्ध रूपों में प्रस्तुत करना होता है जिसको पढ़कर अध्येता भाषा के स्वरूप एवं उसके गठन से सहज परिचित हो सकें।[२]

वस्तुतः अविकारी एकवचन संज्ञारूपों में से विभक्ति प्रत्यय निकालने पर शेष रूपों में न तो कोई स्वतन्त्र अस्तित्व-द्योतक अर्थ गर्भित होता है और न वाक्य में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयुक्त होने की क्षमता ही होती है, अर्थात् उस स्थिति में मूल प्रातिपदिक आबद्ध अंश ही होता है।

संज्ञा कोटि के व्यावहारिक महत्त्व को दृष्टिपथ में रखते हुए यह आवश्यक है कि उसका मूल प्रातिपदिक मुक्तरूप हो, जिसको शब्दकोशीय अर्थ दिया जा सके। /लड़्का/ में /–आ/ को तो हमने अविकारी कारक एकवचन पुल्लिग व्यायाकरणिक अर्थ प्रदान कर दिया, किन्तु प्रश्न यह है कि शेष रूप /लड़क्–/ को क्या अर्थ दें ?

अविकारी कारक एकवचन संज्ञारूपों को विभक्तिमय मानने पर एकरूपग्राम-युक्त शब्दों, यथा—'राम्, घर्' में भी शून्य परप्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है। यदि हम इन शब्दों में शून्य परप्रत्यय की कल्पना नहीं करते हैं तो हमें /लड़्का/ को भी विभक्तिरहित मानना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि रचना में /लड़्का/ को /घर्/ द्वारा स्थानापन्न किया जा सकता है। यथा—

/यह् लड़्का अच्छा है/
/यह् घर् अच्छा है/

इसप्रकार /घर्/ एवं /लड़्का/ एक ही रूपतालिका का निर्माण करते हैं। इसप्रकार यदि /लड़्का/ को विभक्तिमय मानते हैं तो /घर्/ जैसे रूपों को भी विभक्ति-मय मानना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि /घर्/ को एकरूपग्रामयुक्त शब्द मानते हैं तो /लड़्का/ को भी विभक्तिरहित रूप में स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि विभक्ति-मय रूप अपने ही वर्ग के किसी एकरूपग्रामिक शब्द द्वारा स्थानापन्न नहीं किया जा सकता।

---

१. ५ अक्टूबर, १९६५ को सागर से प्रेषित श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा के पत्र से उद्धृत।

२. मिलाइए—ब्लूमफील्ड के विचार :

"Those who occupy themselves with structural Linguistics are concerned to reduce the welter of data derived from discourse, the stream of speech, to neat, economical and self-consistent statements."

—Bloomfiled—Language, p. 105.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही कारण है कि /लड़का/ को विभक्तिमय मानने के कारण, विश्लेषण कर्ताओं को /बालक्–; सुनार्–, कवि–, मुनि–, प्रभु–/ जैसे एकरूपग्रामयुक्त शब्दों को भी द्वयरूपग्रामिक शब्द मानना पड़ता है।[1] /बालक्, बालक्, बालक्, बालकों/ इत्यादि की रूपतालिका में केवल अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग के लिए ही शून्य {–ϕ} प्रत्यय की कल्पना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत अविकारी कारक बहुवचन पुंल्लिग, विकारी कारक एकवचन पुंल्लिग संवर्गों के लिए भी शून्य प्रत्ययों की कल्पना करनी पड़ती है। भाषा के जिस वर्ग में व्यतिरेकी स्थिति नहीं है, जिस व्याकरणिक संवर्गों के अनुरूप रूप वैभक्तिक नहीं हैं, उन्हें भी शून्य प्रत्यय की कल्पना द्वारा बनाना पड़ता है। इसप्रकार का अध्ययन भाषा के प्रकृत्यानुरूप न होकर, पूर्वनिर्धारित साँचों में भाषा के रूपों को बैठाने की प्रवृत्ति पर आधारित है।

सिद्धान्ततः विभक्तियुक्त शब्द से व्युत्पन्न रचना नहीं होती है। व्युत्पादक प्रत्ययों के आगे विभक्ति प्रत्यय आ सकते हैं, विभक्ति प्रत्ययों के बाद व्युत्पादक प्रत्यय नहीं आते हैं।[2] इस दृष्टि से भी हिन्दी के अविकारी एकवचन संज्ञारूपों को विभक्तिमय मानना संगत प्रतीत नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि अविकारी कारक एकवचन पुंल्लिग रूप /साधू/ को विभक्तिमय मानते हैं, तो /साधू/ के आगे किसी व्युत्पादक प्रत्यय का योग नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि /सधुक्कड़/ जैसे शब्दों का विश्लेषण किसप्रकार किया जाय? प्रकृततः यह /साधू/ मूल प्रातिपदिक में /–अक्कड़/ व्युत्पादक परप्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है, इसप्रकार या तो /साधू/ को विभक्तिरहित रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा उस नियम की संगति नहीं बैठेगी कि विभक्ति प्रत्यय के आगे व्युत्पादक प्रत्यय नहीं आते हैं। यदि हम /साधू/ में /ऊ/ विभक्ति मानते हैं[3] तथा /सधुक्कड़/ को /साधू/[4] मूल प्रातिपदिक से व्युत्पन्न मानते हैं, तो सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध है।

---

१. हिन्दी में प्रत्यय विचार, पृ० २१३।

२. मिलाइए :

(क) "यहाँ विभक्ति तथा व्युत्पादक प्रत्ययों के अन्तर को भली भाँति समझ लेना चाहिए। वास्तव में विभक्तियुक्त प्रत्यय के बाद कोई अन्य प्रत्यय संयुक्त नहीं हो सकता, किन्तु व्युत्पादक प्रत्यय के बाद अन्य प्रत्यय संयुक्त हो सकते हैं।"
—डॉ० उदयनारायण तिवारी—भाषाशास्त्र की रूपरेखा', पृ० १७१।

(ख) "विभक्तियों तथा व्युत्पादक प्रत्ययों के अन्तर की दूसरी बात यह है कि विभक्तियाँ के लगने पर व्युत्पादक प्रत्ययो का व्यवहार नहीं होता।"
—डॉ० मुरारीलाल उप्रेंति :—हिन्दी में प्रत्यय-विचार, पृ० २६।

(ग) "विभक्ति प्रत्यय जिन मूल प्रातिपदिक, व्युत्पन्न प्रातिपदिक अथवा धातु में जुड़ते हैं, उनके सदैव अन्त में ही आते हैं। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि विभक्ति प्रत्ययों के आगे व्युत्पादक प्रत्यय कभी नहीं आ सकते, व्युत्पादक प्रत्ययों के आगे विभक्ति प्रत्यय आ सकते हैं।"
—डॉ० महावीर सरन जैन—'आधुनिक भाषाशास्त्र के सन्दर्भ में प्रत्यय'—हिन्दुस्तानी भाग २५, अंक १–४, जनवरी–दिसम्बर, १९६४, पृ० ३६४, इलाहाबाद।

३. हिन्दी में प्रत्यय विचार, पृ० २१८–२१९।

४. हिन्दी में प्रत्यय विचार, पृ० ९५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंग्रेजी भाषा के अध्येताओं ने व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से एवं असंगतियो बचने के लिए बहुत से ऐसे शब्दों को, जिनका विशुद्ध रूपात्मक एवं अर्थ-निरपेक्ष ष्टि से विश्लेषण होना चाहिए, एकरूपग्राम युक्त शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। था—

(क) हाकिट ने अर्थगत कारणों से /SISter/ को /Si St/ एवं /er/ में विभाजित हीं किया है।[1]

(ख) नाइडा ने flare' को एकरूपग्रामयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार किया है। सा कि मार्तिने ने संकेत किया हैं, 'flare' का रूपग्रामिक विश्लेषण सम्भव है, किन्तु ावहारिक सुविधा की दृष्टि से 'flare' को एकरूपग्रामयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार रना संगत है। 'flare' का विश्लेषण करने पर उसके विभाजित तत्त्वों से अर्थ की सीप्रकार प्रतीति नहीं होती जिसप्रकार /लड़्का/ का विभाजन करने पर /—लड़्क्/ नहीं होती। इसी कारण से, एर्वलिंग भी, 'flare' का रूपग्रामिक विश्लेषण नहीं रते हैं।[३]

---

१. "The words sister, brother, father, mother, daughter are all inship terms. which means that they share some feature of meaning; n this basis one might want to extract the element—er as a Morpheme carryine this shared fetaure of meaning. How-ever to do so eaves us not only with a/si' st/which in this meaning—seems not to ecur, but also with similarly forlorn elements/br ɔ' ↑ /, fa ↑ /, n'ɔ ↑ /, and/d'ɔt/. Thus it seems reasonable to conclude that sister houid not be regarded as a combination of smaller forms sist and er.

No other way of cutting sister Into smaller pieces seems to have even the partial justification which we have found above for the ut into sist-and er. We therefore decide to accept sister as a single morpheme."

—C. F. Hockett, "A Course in Modern Linguistics", p. 125.

२. A Martinet—'Review of Nida Morphology'l Word VI, (1950), pp. 84-87.

३. "By starting the search of Morphemes after having subjected the semantic constitution of the forms to a verifiable investigation, we change this doubt into a certainty. We find in the stem of 'flare' only one semantic minimum. Consequently, we observe only one form-meaning correspondence in this word."

—C. L. Eheling—"Linguistic Units', p. 114.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ग) इसी प्रकार एकलिंग 'hammer' का रूपग्रामिक विश्लेषण नहीं करते

इसीप्रकार /लड़का/ को एकरूपग्रामयुक्त शब्द के रूप में स्वीकार करना है। इस विधि से विश्लेषण की सार्थकता सिद्ध होती है क्योंकि भाषा-विश्लेषण उद्देश्य से अनुप्राणित होना चाहिए कि वह भाषा के बारे में सरलतम पद्धति अधिकाधिक सुनिश्चित् एवं सुव्यवस्थित् नियमों का निरूपण कर सके एवं उससे निष्कर्ष अधिकाधिक तथ्यात्मक एवं सूचनापरक हों।

दोनों विकल्पों का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्गबन्ध सुविधा, वितरणगत स्थितियों की स्पष्टता एवं सुनिश्चितता आदि अनेक दृष्टि अविकारी कारक एकवचन संज्ञारूपों को (विशेषण एवं सर्वनाम कोटि के रूप विभक्तिरहित रूप में स्वीकार करना अधिक संगत है।

---

१. "The demand of analogous distribution precludes disintegration of words like hammer and the identification of dancer and hammer——consequently the two elements- er do have analogous distribution and hammer cannot be broken into Morphemes. This case shows that the Morphemic Analysis cannot completed—until the arrangement of the semantic minimums been studied."

—C. L. Ebeling—"Lingoistic Units" (1960), p. 1

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३

भाषा-भूगोल

कैलाश चन्द्र भाटिया

['भाषा-भूगोल' शीर्षक अपने लेख में डॉ० भाटिया ने विवेच्य विषय पर
क दृष्टि कोणों से विचार किया है। भाषा-भूगोल की सार्थकता के सन्दर्भ में अनेक
त्वपूर्ण अभिव्यक्तियों के साथ आपने यह भी लिखा है कि 'शब्द के अर्थ निश्चित
में भूगोल सहायक सिद्ध होता है।' इन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि 'बोली-
ल' 'भाषा-भूगोल' और क्षेत्रीय भाषाविज्ञान एक ही विषय के तीन नाम हैं जिनके
भाषिक रूपों, लक्षणों एवं उनकी विभिन्नताओं के क्षेत्रीय वितरण का अध्ययन
ा जाता है। बृहत् सर्वेक्षण के बाद डॉ० भाटिया ने इस लेख में यह इंगित किया
क 'भाषा-भूगोल का भविष्य हिन्दी तथा उनकी उपभाषाओं के सन्दर्भ में बहुत
ज्वल है।] —सं०

भाषा का अध्ययन ही भाषाविज्ञान है। इस शास्त्र की सहायता से भाषा के
ों और उसके अंग-उपांगों, स्वन, स्वनिम, अक्षर, रूपिम, पदबन्ध, वाक्य आदि का,
लेपण करके विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वैसे तो भाषाशास्त्र का व्याकरण
हित्य, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र आदि, अनेक शास्त्रों
म्बन्ध है, परन्तु भूगोल से इसका विशेष सम्बन्ध है। इसप्रकार, आभ्यन्तर तथा
ह्य, दोनों प्रकार से, भूगोल का भाषाशास्त्र से अभिन्न सम्बन्ध है।

किसी क्षेत्र-विशेष में उपबोलियों, बोलियो और भाषाओं की सीमाएँ कैसे बन
ती हैं, इस प्रश्न के समाधान में भूगोल का ज्ञान विशेष सहायक सिद्ध होता है।
ान में दूर-दूर तक सम्पर्क रखना सरल है, अतएव बोली में एकरूपता बनी रहती
जबकि पहाड़ी प्रदेश में आने-जाने की सुविधा कम होने के कारण भाषा में अनेक-
ता का आ जाना स्वाभिक है; फलतः पर्वतीय क्षेत्र में बोलियों-उपबोलियों की
या काफी अधिक होती है।

देश की जलवायु का प्रभाव वहाँ के रहने वालों पर पड़ता है। शरीर का
ाव भाषा के उच्चारण पर भी पड़ता है। संसार के विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं की
ता के पीछे भौगोलिक परिस्थितियाँ भी हैं। हेनरिख बेन्फे ने तो ध्वनि-परिवर्तन
सिद्धान्त ही भूगोल के आधार पर बनाया था। मुहावरों और विशेष प्रयोगों के
ग में जलवायु का प्रभाव पड़ता है। जलवायु का प्रभाव पशु-पक्षी एवं पेड़-पौधों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर पड़ता है और प्रकारान्तर से मनुष्य की भाषा पर भी पड़ता है। किसी भाषा का दूर तक विस्तार क्यों होता है और कोई भाषा छोटी-सी सीमा में घिरी रह जाती है, इसका समाधान अन्य विषयों के साथ-साथ भूगोल करता है।

शब्दों के अर्थ निश्चित करने में भूगोल सहायक सिद्ध होता है। वस्तुओं के नामों पर अनेक प्रकार के नाम पड़ जाते हैं। भूगोल देशों, नगरों, गाँवों आदि के स्थान-नामों के निर्धारण में पर्याप्त प्रभाव डालता है।

भाषाविज्ञान को प्रमुखतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. वर्णनात्मक या संरचनात्मक भाषाविज्ञान।

२. व्यावहारिक या अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान।

दूसरे व्यावहारिक क्षेत्र में भाषाविज्ञान की उन शाखा-प्रशाखाओं को मिलता है जो भाषा को व्यावहारिक रूप देने में सहायता देती हैं—

(अ) अर्थविज्ञान, लेखविज्ञान, शब्दार्थविज्ञान आदि।

(आ) भाषा-भूगोल, शैली-विज्ञान, समाजभाषा-विज्ञान।

(इ) भाषा-शिक्षण, विशेषतः द्वितीय भाषा के रूप में।

(ई) अनुवाद-कार्य, स्पीचथेरपी आदि।

भाषाओं के अध्ययन में काल का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। एक में एक भाषा का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते समय तीन संकालिक स्थितियाँ हो सकती हैं : भौगोलिक स्थिति, शैलीगत स्थिति और सामाजिक स्थिति।

भौगोलिक परिवेश में जब किसी भाषा का अध्ययन किया जाता है, भाषा-भूगोल कहलाता है। भाषा-भूगोल से तात्पर्य उस शाखा से है जो व्यापार की भौगोलिक स्थिति तथा परिसीमाओं का अध्ययन तथा वर्गीकरण करती है, अर्थात् इस शास्त्र की सहायता से किसी भी क्षेत्र-विशेष की स्थानी या बोलियों में स्वन, स्वनिम, सुर, शब्द-समूह, रूप, वाक्य-रचना आदि की वि का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है; साथ ही यह भी देखा जाता है कि उपर्युक्त में कहाँ-कहाँ क्या-क्या अन्तर है। क्षेत्र-विशेष की बोली के अध्ययन के कारण ही क्षेत्र-भाषाविज्ञान (Area Linguistics) या क्षेत्रीय भाषाविज्ञान (Linguistics) भी कहते हैं; साथ ही बोली का अध्ययन होने के कारण यही विज्ञान (Dialectology) या भाषिक भूगोल (Dalect Geography) भी क है। ये सभी नाम एक दिशा की ओर ही ले जाते हैं जिनमें क्षेत्र तथा बोली का प्रतिपादित होता है। 'बोली' के अध्ययन पर बल होने के कारण 'बोली-विज्ञा जाता है और जब 'क्षेत्र' को महत्त्व दिया जाता है, तब यही अध्ययन 'बोली- कहलाता है।

सन्धिविज्ञान या सन्धिशास्त्र (Liaison science) में वे विज्ञान की प्रशाखाएँ सम्मिलित होती हैं जो दो क्षेत्रों की सीमारेखाओं का स्पर्श करती जिनके सम्मिलन से एक नवीन शास्त्र का जन्म होता है, जैसे जीवरसाय सामाजिक मनोविज्ञान, भू-भौतिकशास्त्र, जीवभौतिकशास्त्र, जीवभाषा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार के शास्त्रों में ही 'सामाजिक भाषाविज्ञान' तथा 'भाषा-भूगोल' को सम्मिलित किया जाता है।

'बोली-विज्ञान' का प्रयोग भी प्रायः भाषा-भूगोल के समानार्थक कर लिया जाता है। अगर किसी प्रकार इसको भाषाविज्ञान की पृथक् शाखा स्वीकार भी कर लिया जाय, तो भी यह भाषा-भूगोल के क्षेत्र को आंशिक रूप से आच्छादित कर लेती है। दोनों विषयों के अन्तर्गत आने वाली मूल सामग्री तथा कार्य-पद्धति में उतना अन्तर नहीं, जितना दृढ़ता तथा व्याख्या में। बोली-विज्ञान अपने विस्तृत परिवेश में सामाजिक तथा क्षेत्रीय, दोनों प्रकार की, बोलियों के अध्ययन को समाहित कर लेता है जबकि 'भाषा-भूगोल' का क्षेत्र केवल क्षेत्रीय बोली तक सीमित है।

'बोली-भूगोल' की पद्धति से हम किसी निश्चित भाषा-समुदाय के अन्तर्गत बोलीगत अन्तरों—विभिन्नताओं तथा समानताओं के फैलाव तथा वितरण का अध्ययन करते हैं। 'भाषा-समुदाय' से तात्पर्य उस क्षेत्र-विशेष की बोली से है जिसमें सहजरूप से पारस्परिक बोधगम्यता बनी रहती है।

एक समुदाय के व्यक्तियों की बोली में एक ही गाँव के निवासी होने के कारण या एक ही सामाजिक वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण प्रयोगों में कुछ समानता प्राप्त होती है, किन्तु इसके विपरीत उन लोगों की बोली में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है जो एक-दूसरे के सम्पर्क में बहुत कम आते हैं। बोली-भिन्नताएँ भी अनेक कारणों पर आधारित होती हैं।

कभी-कभी एक ही भाषा-समुदाय के दो छोरों पर रहने वाले व्यक्तियों की बोली में सहज बोधगम्यता नहीं रहती, पर इस अबोधगम्यता के प्रारंभ में कोई सीमा-रेखा खींचना संभव नहीं है, दोनों के मध्य संक्रमण की स्थिति शनैः-शनैः बढ़ती है, जबकि दूसरे छोर पर स्थित भाषा से पड़ोसी भाषा की बोधगम्यता बनी रहती है; जैसे जर्मन-डच भाषाओं की सीमाओं पर बोधगम्यता बनी रहती है। यही स्थिति भारत में अनेक भाषाओं-उपभाषाओं की सीमा पर देखी जा सकती है। मैथिली-भाषी को बँगला अधिक बोधगम्य है।

इसप्रकार, 'बोली-भूगोल', 'भाषा-भूगोल' और 'क्षेत्रीय भाषाविज्ञान' एक ही विषय के तीन नाम हैं जिनके द्वारा भाषिक रूपों तथा लक्षणों एवं उनकी विभिन्नताओं के क्षेत्रीय वितरण का अध्ययन किया जाता है। इस शास्त्र का अध्ययन यूरोप में उच्च सीमा पर पहुँच चुका है। कुछ समय पूर्व तक फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, हालैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड, इटली, रोमानिया आदि देशों में बोलियों का अध्ययन पूर्ण हो चुका है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका तथा जापान इस दिशा में अग्रणी हैं।

भाषा-भूगोल तथा भाषा-सर्वेक्षण का अभिन्न सम्बन्ध है। सर्वेक्षण से प्राप्त सामग्री को व्यवस्थित ढंग से मानचित्र पर अंकित कर 'बोली-मानचित्रावली' का निर्माण किया जाता है। अगर पडोसी भाषाएँ या दूर देश की भाषाएँ एक ही मूल भाषा से सम्बद्ध हों, तो फिर भाषिक मानचित्रावली का राष्ट्रीय महत्त्व और भी बढ़ जाता है। सीमाओं के पार स्थित भाषा के साथ भाषिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों पर इन मानचित्रों की सहायता से प्रकाश पड़ता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोली के फैलाव से तात्पर्य है कि शब्द पड़ोसी बोली-क्षेत्र का अतिक्र रहा है। साथ ही, उस बोली के अनुसार उसमें परिवर्तन हो रहा है।

शब्द का रूप यह घोषित करता है कि वह कहाँ से आया, किस जिले और उसके आने का मार्ग क्या था? भाषा-भूगोल से प्राप्त सामग्री के परि भाषा का ऐतिहासिक विकास भली-भाँति समझा जा सकता है।

सर्वेक्षण से प्राप्त सामग्री को प्रस्तुत करने का पहला ढंग 'बोली-कोश' दूसरा बोली-मानचित्रावली। दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं।

बोली मानचित्रावली (डायलेक्ट एटलस) के निर्माण की पद्धति

सर्वप्रथम जिस क्षेत्र की बोली अथवा उपबोली की मानचित्रावली करनी हो, उस क्षेत्र का प्रारम्भिक सर्वेक्षण कई दृष्टियों से कर लेना चाहिए। क्षेत्र की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का अवलोकन करते परम्परा से प्राप्त बोली के मोटे-मोटे क्षेत्रीय रूपों का आकलन कर लेना क्षेत्रीय उपरूपों पर दृढ़ता के साथ बल नहीं देना चाहिए। क्षेत्रीय उपरूप आगे सर्वेक्षण के निष्कर्षों के आधार पर बदल भी सकते हैं। मोटे तौर पर यह क्षे चाहिए कि एक रूप कितना व्यापक है और किस क्षेत्र में प्राप्त रूप व्यापकता उन्मुख हो रहे हैं। अगर, किसी व्यक्ति ने विवेच्य क्षेत्र का पूर्ववत् सर्वेक्षण निष्कर्ष निकाल लिये हैं, तो सर्वेक्षण की दो प्रक्रियाएँ हो सकती हैं। पहली प्रक्रि अधिक वैज्ञानिक कही जा सकती है, के अनुसार विवेच्य क्षेत्र का नये सिरे सर्वेक्षण करना चाहिए और अन्त में पुराने सर्वेक्षण से मिलान करके भिन्न निष्क परिनिरीक्षण करना चाहिए। दूसरी पद्धति, जो अधिक सुविधापूर्ण है, के पूर्ववत् प्राप्त निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए सर्वेक्षण की प्रारम्भिक रूपरेखा चाहिए। पहला किया हुआ सर्वेक्षण पुराना पड़ जाने पर नये सर्वेक्षण की आव होती है और निश्चितरूप से नये सर्वेक्षण के नवीन परिणाम प्राप्त होते हैं। सम्भव है कि पहला सर्वक्षण अपर्याप्त हो, या अनेक साधनों के अभाव में सम्पन्न कि हो, अथवा दोनों बातें हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में ग्रियर्सन द्वारा कि भाषा-सर्वेक्षण लिया जा सकता है। इस सर्वेक्षण की प्रक्रिया तथा गुण दोष पर विस्तारपूर्वक लिखा जा सकता है।

इधर स्वतन्त्रता के बाद भारत की भाषाओं पर जितने कार्य हुए हैं अधिकांश में ग्रियर्सन के सर्वेक्षण से पर्याप्त सहायता ली गई है और निष्कर्ष सर्वेक्षण से भिन्न नये तथ्य तथा फल प्रस्तुत किये गये हैं अथवा उन्ही निष्कर्षों की गई है, जैसे ग्रियर्सन ने छत्तीसगढ़ी की हलबी का सम्बन्ध मराठी से स्थापि था, जबकि डॉ० भालचन्दराव तैलंग तथा कान्तिकुमार ने हलबी को छत्तीसगढ़ी उपबोली स्वीकार किया है।

ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि के भी उदाहरण मि और जब वे भाषा-भूगोल सिद्धान्तों के अनुसार पुष्ट किये जाते हैं, तब दृढ़ हो जैसे डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ने मानभूम की कुरमाली को बँगला की नहीं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपबोली के रूप में स्वीकार किया है। ग्रियर्सन ने स्वयं भी पर्याप्त रूप से पुराने चले आ रहे छिटपुट कार्यों में व्याप्त भ्रमों को दूर किया था। जैसे डॉ० ग्रियर्सन के पूर्व परजी के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति थी कि स्टेनकोनो ने परजी को गोंडी भाषा की उपभाषा स्वीकार किया है। वस्तुतः परजी गौंडी की उपभाषा न व्याकरण की दृष्टि से और न शब्द-समूह की दृष्टि से है। काफी लम्बे समय तक द्रविड़ भाषा की इस स्वतन्त्र भाषा के सम्बन्ध में भ्रम बना रहा। डॉ० ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण को महत्त्व दिया जाना चाहिए जिसने परजी को सही स्थान दिया। परजी और भुतरा को एक-दूसरे का पर्याय न मानकर स्वतन्त्र भाषा मानने का कार्य सबसे पहले डॉ० ग्रियर्सन ने 'भाषा-सर्वेक्षण' में किया जिसकी आगे चलकर टी० बरो ने पुष्टि की।

पर्याप्त समय बीतने पर पुराने निष्कर्ष बदल जाते हैं। जर्मन-एटलस का निर्माण उन्नीसवीं शती में, १८७० ई० में एकत्र की गयी सामग्री (डाटा) पर आधृत है। सन् १९३० ई० में एटलस के कुछ भाग का पुनः सर्वेक्षण किया गया जिसके फलस्वरूप एटलस के कुछ भाग को पुनः बदला गया। इस सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आया कि पूर्व से पश्चिम की ओर आने वाली समभाषांश रेखाओं के समूह कुछ स्थानों में उत्तर की ओर हट गये हैं, जबकि दक्षिण दिशा की ओर कोई भी समभाषांश रेखा नहीं खिसकी। इसका निष्कर्ष यह निकला कि उच्च जर्मन (हाई जर्मन) के प्रयोग उत्तर दिशा की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

भाषा-भूगोल में, सर्वप्रथम, उस आधारभूत सामग्री को तैयार कर लेना चाहिए जिसका मानचित्रों में व्यापकरूप से उपयोग करना है। इस सामग्री को प्राप्त करने के लिए प्रश्नावली के और उसकी तैयारी के सम्बन्ध में पृथक् से विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस सामग्री के आधार पर ही सर्वेक्षण किया जा सकता है। सर्वेक्षण करने के पूर्व समस्त क्षेत्र में भौगोलिक दृष्टि से कुछ स्थान निश्चित कर लेने चाहिए। इन स्थानों पर प्रयोगों की जाँच का कार्य व्यापकरूप से किया जाना चाहिए। सर्वेक्षित स्थलों से नमूने एकत्र किये जाने चाहिए। भौगोलिक दृष्टि के अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि से भी कुछ स्थानों पर जाँच का कार्य किया जाना चाहिए।

क्षेत्रीय विभाजन तथा भौगोलिक स्थानों के निश्चय के पश्चात् सर्वेक्षण-कार्यकर्ता प्रत्येक स्थान पर जाकर और पूर्वनिर्धारितस्थानों परसूचकों के साथ वार्तालाप के माध्यम से प्रश्नावली के उत्तर तैयार करेगा। प्रत्येक स्थान पर एक या एक से अधिक सूचक हो सकते हैं। सूचक कौन हो और उसका चुनाव कैसे किया जाय, इस पर भी पृथक् से विस्तारपूर्वक चर्चा अपेक्षित है। एक प्रकार से सूचकों के माध्यम से प्राप्त सामग्री समस्त जनसमुदाय के कुछ प्रतिशत लोगों का ही प्रतिनिधित्व करती है, अतएव कुछ अन्य केन्द्रों पर प्राप्त सामग्री का परिनिरीक्षण कर देख लेना चाहिए कि सामग्री कहाँ तक समस्त क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है।

सिद्धान्ततः, प्रत्येक मानचित्र में किसी विशेष स्थान-समुदाय में सभी सूचकों से प्राप्त सामग्री को अंकित किया जाता है। प्रत्येक मानचित्र अपने में स्वतन्त्र इकाई है, अतएव तत्सम्बद्ध मानचित्र की अन्य सूच्य सामग्री कहीं-न-कहीं दे देनी चाहिए। जब कि दो-तीन मानचित्र आपस में सम्बद्ध न हों, एक मानचित्र की सामग्री का स्पष्टीकरण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगे-पीछे न ले जाना चाहिए। स्पष्टीकरण यदि मानचित्र पर सम्भव न हो सके पृथक् से दे देना चाहिए। एक दूसरे से सम्बद्ध मानचित्रों का दोनों स्थानो पर निर्देश होना चाहिए। सामान्यतः, एक स्वन /शब्द/ रूप का एक मानचित्र बनाया है, पर यदि किसी एक स्वन /शब्द/ रूप से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री अधिक हो, तो मानचित्र बनाये जा सकते हैं। इसके विपरीत सामग्री के अभाव में कई तथ्य एक मानचित्र में विभिन्न संकेतों से अंकित किये जा सकते हैं।

न्यू इंगलैण्ड के सामग्री-सर्वेक्षण में यह भी देखा गया है कि एक ही सूचक प्रवाह भाषण में एक भाव/ वस्तु के लिए अनेक शब्द और एक ही शब्द के उच्चारित रूप के अनेक उच्चारण दे देता है। सभी विभिन्न रूप मानचित्र में करना सम्भव नहीं है। सर्वेक्षण द्वारा सुझाया गया रूप भी कभी सूचक स्वीकार लेता है, अतएव इसप्रकार की सूचनाओं को यथासम्भव विभिन्न संकेतों से अंकित जाता है।

सूचक या सूचकों से प्राप्त सामग्री के आधार पर तत्काल मानचित्र में, विशे मोटे तौर पर अंकित की जा सकती हैं जो बाद में मानचित्र द्वारा स्पष्ट तथा व्यव बनाये जा सकते हैं। प्रयत्न यह करना चाहिए कि बातचीत के मध्य धाराप्रवाह में प्राप्त रूपो को ही अंकित किया जाय, और शेष रूपों को उनसे पृथक् निर्देशित जाय।

समुदायों/ स्थानो को विभिन्न संख्याओं से मानचित्र में अंकित किया जात मानचित्रावली के प्रारम्भ में ही एक मानचित्र केवल समुदायों/ स्थानों को सूचित हेतु बनाया जा सकता है। बोलीगत अध्ययनों में भी ऐसे मानचित्र की आवश्यकता है। इसप्रकार के सभी अध्ययनों तथा मानचित्रावलियों के प्रार ऐसा किया गया है। 'न्यू इंगलैण्ड' तथा 'बुन्देली' की मानचित्रावली के प्रारम्भ में मानचित्र दिये गये हैं।

इन संख्याओं के समीप ही किसी भी विशिष्ट संकेत से उन सूचकों का भी किया जा सकता है जिनको सुसंस्कृत समझा गया है। अगर प्रत्येक समुदाय से प्रकार के सूचक (वृद्ध, कम शिक्षित, प्रौढ़ /शिक्षित/ तथा सुसंस्कृत) लिए गये उनसे प्राप्त सूचनाएँ मानचित्र पर तीन-पंक्तियों में अंकित होनी चाहिए जिनका इसप्रकार हो—पहले जनसामान्य में चलने वाला बहुप्रयुक्त रूप, दूसरे स्थान पर प्रौढ़ का कम प्रयुक्त तथा फिर तीसरे स्थान पर सुसंस्कृत का क्वचित् प्रयोग। यह ही सर्वत्र पूरी मानचित्रावली में रहेगा। अगर सभी स्थानों से दो-तीन प्रकार के लिये गये हैं, तो प्रत्येक मानचित्र में एकरूपता होनी चाहिए। न्यू इंगलैण्ड के एटल यही व्यवस्था की गई है।

कुछ ऐसे भी क्षेत्र हो सकते हैं जहाँ के सूचक/सूचकों के उच्चारण नि भिन्न या ग्राम्य हों, जिनको मानक ही नहीं, मानक के निकट भी नहीं स्वीकार कि सकता। अतएव, इन क्षेत्रों अथवा किसी क्षेत्र-विशेष के सूचक को विशेष सं मानचित्र पर अंकित करना चाहिए, जैसे 'न्यू इंगलैण्ड मैन' तथा 'न्यू हैम्पशायर' बहुत ही ग्राम्य तथा पुरातनपन्थी हैं। बुन्देली में भी एक स्थान के सूचक से प्राप्त प्रत्येक मानचित्र में विशिष्ट रूप प्रदर्शित करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अगर भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं ने मानचित्रों का निर्माण किया है, तो उनका भी निर्देश मानचित्र पर होना चाहिए। इसके विपरीतयदिएकही व्यक्ति ने सम्पूर्ण मानचित्रों को बनाया है, तो इसकी आवश्यकता नहीं है। केवल मानचित्र बना देने से उद्देश्य पूरा नहीं होता, उसके साथ उस मानचित्र का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। सम्भव हो, तो साथ-ही-साथ अथवा किसी एक स्थान पर मानचित्र-संख्या का निर्देश करते हुए यह किया जा सकता है। इस स्पष्टीकरण में प्रश्न करने का ढंग, उत्तर प्राप्त करने की प्रणाली, शब्दों की सामाजिक स्थिति आदि का भी निर्देश यथासम्भव होना चाहिए।

सामग्री में से स्वनगत, शब्दगत, रूपगत, अर्थगत और वाक्यगत क्षेत्रीय विशेषताओं को छाँटकर मानचित्रों पर अंकित करना चाहिए। प्रत्येक विशेषता को पृथक् मानचित्र में अंकित करना चाहिए।

मानचित्र में, सामग्री में प्राप्त रूप को हू-ब-हू अंकित किया जा सकता है अथवा किसी संकेत-चिह्न द्वारा। हो सकता है, शब्द का उच्चारण सूक्ष्म ध्वन्यात्मक प्रतिलेखन में किया गया हो। इसप्रकार के मानचित्र जर्मन, फ्रांस, इटली आदि में बनाये गये हैं। स्वनिक अन्तरों के लिए एक ही शब्द के विभिन्न उच्चारण मानचित्र पर अंकित किये जाते हैं। वैसे शब्दों तथा रूपों से सम्बद्ध मानचित्रों में भी स्वनिक सामग्री पर्याप्त मिल जाती है।

मानचित्र के प्रकार

स्वनिक मानचित्र—जब किसी एक समुदाय के सूचकों से प्राप्त एक ही शब्द के उच्चारण में भिन्नता हो या विभिन्न स्थानों से प्राप्त अनेक सूचकों से प्राप्त सामग्री में एक ही शब्द के उच्चारण में भिन्नता हो और इन भिन्नताओं को ही मानचित्र पर प्रस्तुत किया जाय, तो वे मानचित्र 'स्वनिक मानचित्र' कहलाते हैं। उच्चारण-भिन्नता व्यक्तिगत न होकर जब क्षेत्रीय रूप में विभक्त हो जाती है, तब भिन्न-भिन्न ध्वनियों को प्रदर्शित करने वाली स्वनिक समभाषांश रेखाएँ खींची जा सकती हैं। अनेक स्थानों पर इसप्रकार की स्वनपरक समभाषांश रेखाएँ ही बोलियों की सीमा का निर्धारण करने में सहायता प्रदान करती हैं। जैसे, उच्च जर्मन तथा निम्न जर्मन।

कई भाषाओं तथा बोलियों में किये गये इसप्रकार के अध्ययन के कुछ मानचित्र प्रदर्शित किये गये हैं जिनमें से 'बुन्देली-क्षेत्र के ध्वनिगत विभेदो की चित्रावली' से कुछ मानचित्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

इंगलैण्ड में 'She' के विभिन्न उच्चारित रूप मानचित्र में प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

शब्दपरक मानचित्र—जब किसी वस्तु या भाव के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं और उनको मानचित्र पर उसी स्थान पर अंकित कर लिया जाता है, तब ये 'शब्द-मानचित्र' कहलाते हैं और इसप्रकार का अध्ययन 'शब्द-भूगोल के' अन्तर्गत आता है।

एक ही भाव या विचार के लिए अनेक शब्दों का वितरण जब क्षेत्रीय आधार पर सम्भव हो, तब शब्दों के क्षेत्रीय वितरण के आधार पर समभाषांश रेखाएँ खींची जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकती हैं। 'शब्द-भूगोल' के अन्तर्गत, मुख्यतः तुलनात्मक दृष्टि से, क्षेत्र-विशेष की शब्दावली का अध्ययन किया जाता है। मैक्इण्टोश महोदय ने इसको ही 'डायटापिक' (Diatopic) शीर्षक दिया है।

मानचित्रों के निर्माण की भी दो विधियाँ सम्भव हैं। जो शब्द जिस स्थान पर उच्चरित होता हो, उसको वहाँ उसी रूप में लिख दिया जाय अथवा विभिन्न रूपों के लिए कुछ संकेत निश्चित कर लिये जायँ और उन संकेतों को ही स्पष्टरूप से अंकित किया जाय। संयुक्तराज्य अमेरिका को ईस्टर्न स्टेट्स की शब्दावली के आधार पर 'शब्द-मानचित्रावली' तैयार की गई है। इस एटलस में इसप्रकार के संकेत ही अपनाये गये हैं। उदाहरणार्थ, 'वकेट पेले' आदि शब्दों का व्यवहार जिस क्षेत्र में किया जाता है, वहाँ वे ही संकेत-चिह्न दिखाये गये हैं। इस एटलस के कई मानचित्र आदर्श माने जा सकते हैं।

एक ही वस्तु/भाव के लिए विभिन्न शब्द पड़ोसी क्षेत्र में भी प्रयोग में आ सकते हैं, जैसे डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन के अनुसार 'पौहा' के लिए अलीगढ़ की टप्पल तहसील में 'डंगर' का प्रयोग होता है, तो बुलन्दशहर की खुर्जा तहसील में 'ढोर'। भैंस के बच्चे के लिए अलीगढ़ की कोल और हाथरस तहसील में 'पड़रा', खैर (खुर्जा में भी) में 'पड्डा' और टप्पल में 'कटरा' का प्रयोग होता है। फटे दूध के लिए खैर-इगलास तहसील में 'कोला', हाथरस-कोल तहसील में 'पेवसी' और खुर्जा में 'खीस' प्रयोग में आता है। खेत को चौरस करने वाले लकड़ी के चौड़े तख्ते के लिए इगलास तहसील में 'पटेला', खैर-खुर्जा में 'साहिल', तो सादावाद तहसील में 'हासिर' प्रयोग में आता है।

रूपप्रक्रियात्मक मानचित्र—किसी एक व्याकरणिक इकाई के लिए एक विशिष्ट स्थिति में जब अनेक रूप प्रचलित हों (एक समुदाय में अथवा भिन्न-भिन्न समुदायों में) और उन रूपों को मानचित्र पर अंकित कर लिया जाय, तब ऐसे मानचित्र 'रूपप्रक्रियात्मक मानचित्र' कहलाते हैं। जब इन विभिन्न व्याकरणिक रूपों का क्षेत्रीय वितरण भी सम्भव हो, तब उनके क्षेत्र को प्रदर्शित करने के लिए रूप-समभाषांश रेखाएँ मानचित्र पर अंकित की जाती हैं। जब किसी क्षेत्र में कोई विशेष रूप प्रचलित होता है, तब उसके आधार पर बोली का नामकरण भी कर दिया जाता है।

डॉ० रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल ने बुन्देली को समभाषांश रेखाओं के आधार पर ही विभक्त किया है। इसप्रकार, विभक्त होकर जितने सुगठित क्षेत्र बनेंगे, उतने ही उस भाषा के क्षेत्रीय रूप कहे जा सकते हैं। इस प्रवृत्ति को आधार बनाकर देखने से ही हम समूचे बुन्देलखण्ड को तीन भागों में बँटा हुआ पाते हैं: उत्तर-पूर्वी, उत्तर-पश्चिमी और दक्षिणी। हमने इन्हें भाषा-प्रवृत्ति के आधार पर ही नामांकित करने का प्रयत्न किया है, यथा क्रमशः खाँ,को, खों बोलियाँ। बुन्देली के विवरण के साथ इस मानचित्र को उद्धृत किया जा सकता है।

रूपात्मक मानचित्र संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण क्रिया आदि, सभी के, सम्भव हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ बुन्देली का एक क्रियापरक मानचित्र लिया जा रहा है, जिसमें भविष्यत्कालिक प्रत्यय प्रदर्शित किये गये हैं।

भविष्यत्कालिक अर्थ की अभिव्यंजना के लिए कुछ क्षेत्र में '-ग' प्रत्यय जोड़ा जाता है। इस प्रत्यय की प्रकृति अन्य कृदन्तीय प्रत्ययों से भिन्न कही जा सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें संदेह नहीं कि अन्य प्रत्ययों के सदृश यह लिंग-वचनद्योतक प्रत्यय है, पर यह प्रत्यय सीधे धात्वंश में न जुड़कर तिङन्तीय पदों में जुड़ता है। 'ग' के साथ 'ह' रूप भी मिलता है।

एकवचन उत्तमपुरुष करिहौं—करहौं+गो—करहौंगी—करोंगी।

अर्थसुरक्षा के लिए पुराने भविष्यत्कालिक रूपों ने अपने साथ सं० गतः से विकसित गो, गी, गे आदि रूपों को सहायक क्रिया की भाँति अपना लिया होगा, जो धीरे-धीरे उक्त रूपों के अभिन्न अंग बन गये।

बुन्देली में विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न रूप अनेक मानचित्रों में प्रदर्शित हैं। 'भाषिक भूगोल' के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति को जहाँ एक ओर भाषाविज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं, विशेषकर स्वनविज्ञान (ध्वनिविज्ञान) का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, वहीं दूसरी ओर भूगोल के सामान्य सिद्धान्तों से भी पारिचित होना अत्यवश्यक है। यदि भूगोल के इन सामान्य सिद्धान्तों से वह स्वयं परिचित न हो, तो उसकी एक प्रशिक्षित सर्वेक्षण-मानचित्रकार (Geo-cartographer) को अपने साथ रखना चाहिए, जो एक अच्छा सर्वेक्षण, मानचित्र-निर्माण की तकनीक का ज्ञाता और भूगोल-विद् हो, क्योंकि भौगोलिक मानचित्रों की निर्माणकला में इन तीनों विधाओं का सहज समावेश हो जाता है—सर्वेक्षण, मानचित्र-निर्माण की तकनीक तथा भूगोल। अच्छा यही रहेगा कि भाषिक सर्वेक्षणकर्त्ता को इन शास्त्रों का भी थोड़ा बहुत परिचय हो। यदि एक ही व्यक्ति इसप्रकार का कार्य करता है, तो मेरी दृष्टि में सफल 'भाषा-भूगोल' का शोधार्थी होने के लिए उसे साठ प्रतिशत भाषाविद्, बीस प्रतिशत भूगोलविद्, पाँच प्रतिशत कलाकार, पाँच प्रतिशत मानचित्रकार, पाँच प्रतिशत गणितज्ञ तथा पाँच प्रतिशत में शेष सब कुछ होना चाहिए। गणित के इस फार्मूले में थोड़े बहुत हेर-फेर की गुंजाइश है, अधिक की नहीं।

मानचित्र, पृथ्वी के सम्पूर्ण अथवा उससे सम्बद्ध किसी भाग की सतह को ऊपर से देखने से प्राप्त स्वरूप की अभिव्यक्ति है। वास्तव में, पृथ्वी एक त्रिविमीय (Three-dimensional) आकृति है जिसका अंकन साधारणतः अत्यधिक जटिल है, अतएव अधिकांशतः हम अपने कार्य को द्विविमीय आरेख में ही प्रस्तुत करते हैं।

पृथ्वी या उससे सम्बद्ध किसी भाग को मानचित्र पर प्रस्तुत करने के लिए हम यह प्रयत्न करते हैं कि वह यथासम्भव ठीक हो। मानचित्र, पृथ्वी की सतह का सानुपातिक चित्रण है, अतः उन्हें किसी निर्धारित मापनी (स्केल) से ही प्रस्तुत किया जाता है। मापनी वह अनुपात है जो मानचित्र पर किन्हीं दो बिन्दुओं के बीच की दूरी और वास्तविक क्षेत्र पर उन्हीं के संगति-स्थलों के बीच की दूरी में है। यही स्केल वास्तविक क्षेत्र की दूरियों के मानचित्र की दूरियों का अनुपात प्रकट करता है। मानचित्र सदा वास्तविक क्षेत्र से छोटा होता है, फिर भी जितना अधिक स्केल होगा, अर्थात् एक सेंटीमीटर से जितनी कम-से-कम मीटर की दूरी प्रदर्शित की जाएगी, सापेक्षिक दृष्टि से वह उतना ही अधिक उस स्थल का वास्तविक रूप प्रस्तुत करेगा। मानचित्र में मापनी (स्केल) का अत्यधिक महत्व है जिसको भुलाया नहीं जाना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समभाषांश सीमारेखा (Isogloss)

किसी भी क्षेत्र में अनेक भाषायी विशेषताएँ एक निश्चित स्थान पर एक अलग होती हुई नहीं दिखायी देतीं। बोली की सीमारेखा से तात्पर्य मानचित्र में रेखा से है जो दो बोली-रूपों के प्रयोग की पृथक्ता को स्पष्टरूप से घोषित करती है रेखाएँ एक ऐसे सामाजिक समूह को स्पष्ट करती हैं जो सामाजिक आदान-प्रदान आवृत्तियों द्वारा आपस में सम्बद्ध रहती हैं और यह क्षेत्र अपने इधर-उधर के क्षेत्र सम्प्रेषण की क्षीणता के कारण अलग रहता है। यह समूह का वाक्-समुदाय कहला और समभाषांश रेखाएँ ऐसे समूहों को स्पष्ट करती हैं।

भाषा-सर्वेक्षण के माध्यम से प्राप्त सामग्री की बोलीगत विशेषताओं विविधताओं को यदि बड़े पैमाने के मानचित्रों पर अंकित कर लिया जाय, तो विविधताओं का क्षेत्रीय रूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। बोली की विशेषताएँ विविधताएँ बोली-विज्ञान के अन्तर्गत आती हैं, पर जब उनका अंकन मानचित्रों विविध प्रकार से किया जाता है, तब बोली-भूगोल या भाषा-भूगोल कहा जाता मानचित्रों के निर्माण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। बोलियों की विशेषता युक्त मानचित्रों को ही बोली-मानचित्रावली, बोली-एटलस कहा जाता है और भा सन्दर्भ में यही भाषा-मानचित्रावली (भाषा-एटलस) है। इसप्रकार के अध्यय निष्कर्षों के फलस्वरूप ही बोलियों की सीमाओं तथा परस्पर सम्बन्धों को स्प किया जाता है; जिसका विस्तार से विवेचन किया जा चुका है।

बोली-विज्ञान के क्षेत्र में मानचित्रों के निर्माण का सुझाव सर्वप्रथम रायल' सोसायटी आव एण्टीक्वेरीज' को सन् १८१४ ई० में दिया गया था। फि मानचित्रों के निर्माण होते रहे। सन् १८७६ ई० में प्रिंस बोनापार्ट ने सर्वप्रथम इंग की बोलियों का विभाजन मानचित्र पर प्रस्तुत किया। सन् १८८७ ई० में ए० एलिस ने इंगलैण्ड की बोलियों पर पर्याप्त सामग्री इकट्ठी कर अपने अध्ययन इंगलिश प्रोनन्सियेशन, भाग 5' में प्रस्तुत की। मानचित्रावली के निर्माण के का जर्मन अग्रभी है जिसने डाक द्वारा प्राप्त प्रश्नावली के उत्तरों पर आधृत सन् १८ में जर्मन-एटलस का कार्य किया गया। एटलस के निर्माण का पृथक् से इतिहास है।

यहाँ तो विवेच्य विषय यह है कि मानचित्र-निर्माण में समभाषांश रेखा क्या महत्त्व है। किस विधि से मानचित्रों पर उनका अंकन किया जाय, इस सम यहाँ विचार किया गया है।

मौसम-विज्ञान के अन्तर्गत समान दवाव वाले स्थानों को जोड़ने वाली सम-दावरेखा (Isobar) और समान तापक्रम वाले स्थानों की रेखा समताप (Isotherm) कहलाती है; उसी प्रकार समान भाषिक लक्षण वाले स्थानों को वाली रेखा समभाषांश रेखा (आइसोग्लॉस) कहलाती है। समभाषांश रेखा का अधिक दृढ़ तथा संकुचित नहीं होता है, क्योंकि शब्दों से छिटपुट प्रयोग की सीमा उस पार भी प्रयोग मिलते रहते हैं।

आइसोग्लॉसेज या आइसोग्लॉस लाइन के स्थान पर आइसोग्लासो लाइन का प्रयोग अधिक उचित था, क्योंकि ग्लॉसोम (Glossome) का अर्थ हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुहावरेदार रूप। सुप्रसिद्ध भाषाविद् सस्यूर ने तो इसके लिए परिवर्तित लहर (Innerating waves) का प्रयोग अधिक उचित ठहराया था।

आइसोग्लॉस के लिए हिन्दी-पर्याय कौन-सा अपनाया जाय, यह भी पर्याप्त विवादास्पद रहा है। बहुत पहले डॉ० सुकुमार सेन ने 'भाषार इतिवृत्ति' में बंगला-भाषा में 'शब्दरेखा' तथा श्रीवासुदेव गोपाल परांजपे ने 'मराठी भाषेचा इतिहास' में 'सम-भाषांश-रेखण' को अपनाया था। इस आधार पर ही पटना-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'भाषाविज्ञान पारिभाषिक शब्दकोश' में 'शब्दरेखा' तथा 'समभाषिक रेखा' को अपनाने का सुझाव दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस शब्द में 'Iso' तथा 'gloss' दो शब्द हैं। 'Iso-' के पर्याय को हमें अन्य शब्द के साथ भी अपनाना होगा। साथ ही, यह निर्विवाद है कि 'Iso-' के लिए 'सम' उपयुक्त पर्याय है। इससे पूर्व भी हिन्दी में बहुप्रचलित प्रयोग 'समवाक् रेखा' या 'सभभाष रेखा' में भी 'सम' का ही प्रयोग होता था। यही कारण है कि भारत सरकार के वैज्ञानिक तकनीकी शब्द-आयोग द्वारा इसके लिए 'समभाषांश सीमारखा' शब्द निश्चित किया गया है। मैं समझता हूँ कि एकरूपता की दृष्टि से हमें आयोग द्वारा स्वीकृत 'समभाषांश' को ही मान्यता देनी चाहिए। 'संवाक्' का प्रयोग हम व्यापक तथा विस्तृत अर्थ में कर सकते हैं, क्योंकि 'वाक्' 'स्पीच' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इसी आधार पर आगे Isophone, Isomorphn, Isotone आदि के लिए क्रमशः समस्वन, समरूप और समतान शब्द निर्मित किये गये हैं। डॉ० देवीशंकर द्विवेदी द्वारा इनके लिए किये गये 'स्वनिक समच्छवि', 'मर्पिम समच्छवि', 'मर्षस्वानिमिक समच्छवि' आदि शब्दों के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने केवल आइसों के लिए 'समच्छवि' शब्द अपनाया है, 'ग्लॉस' (Gloss) के लिए नहीं।

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसके लिए 'लक्षण-समुच्चय' नाम सुझाया है। 'आइसोग्लॉस' के लिए 'लक्षण' का प्रयोग भी बड़ा सार्थक है, क्योंकि सामूहिक रूप में संकेतित रेखाएँ वस्तुतः भाषिक लक्षणों को ही प्रदर्शित करती हैं। जिन लक्षणों के आधार पर रेखाएँ अंकित की जाती हैं, उनके साथ दूसरे लक्षण भी स्वतः ही अनुमित किये जाने चाहिए।

पर, यह कार्य सरल नही, क्योंकि अनेक आँकड़ो से युक्त नमूने के आधार पर भी निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। लक्षणों के समूह में अनेक विभिन्न क्षमताएँ सम्भव हैं।

'समच्छवि' पर टिप्पणी करते हुए डॉ० द्विवेदी लिखते हैं—"आइसोग्लॉस' के उत्तरांश 'ग्लॉस' का भाषा-विषयक अर्थ हिन्दी-प्रतिशब्द 'समच्छवि' के निमाण में आधार नहीं बनाया गया, क्योंकि उक्त 'ग्लॉस' का सम्बन्ध अर्थ से है और 'आइसोग्लॉस' केवल अर्थ-विषयक ही नहीं होते। 'संविभाजक रेखा' शब्द का प्रयोग कुछ लोगो ने 'आइसोग्लॉस' के लिए किया है, लेकिन प्रत्येक 'आइसोग्लॉस' का संविभाजकत्व तथा 'रेखा' का भावसंकोच (तत्व की उपेक्षा) लेखक को स्वीकार नहीं था। 'संवाक्-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रेखा' में 'वाक्' का प्रयोग है जो 'स्पीच' के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें तथा 'परि और 'दृश्यरेखा' में भी 'रेखा' की उपस्थिति है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का शब्द 'स अधिक स्वाभाविक तथा सहज है, किन्तु इसका प्रयोग भाषिकी में भी 'करेक्टरि के लिए होता है। समच्छवि एक व्यापक शब्द है जो इस तत्व के विविध प्रका लिए बिना अर्थहानि के प्रयुक्त हो सकता है। साथ ही, वह रेखा एवं उसके आ तत्व दोनों के लिए सुविधापूर्वक प्रयुक्त होने में समर्थ है। इस पृष्ठभूमि में 'ग्लॉस' का छवि अर्थ अपनाना अधिक उपयुक्त माना गया।"[1]

समभाषांश रेखासमूह (Bundle of Isoglosses)

जब विभिन्न प्रकार की भाषिक विशेषताओं को प्रदर्शित करने वाली अधिक रेखाएँ किसी भूभाग से होकर आसपास से जाती हैं, तब इनको 'समभा रेखासमूह' कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी रेखाएँ निश्चितरूप से एक के ऊपर या समीप से ही निकलें। यहाँ समूह से तात्पर्य केवल इतना ही है कि रेखाएँ निकटवर्ती क्षेत्र से गुजरती हैं तथा प्रत्येक रेखा के दोनों ओर संक्रमण-क्षेत्र है। इस संक्रमण-क्षेत्र की चौड़ाई घटती-बढ़ती रहती है। दोनों ओर स्थित छो रेखाओं के मध्य सभी रेखाओं को लेकर समूह बनता है।

यह आवश्यक नहीं है कि किसी देश में सम्पूर्ण रेखाओं का समूह पूरे-के-पूरे में समानरूप से एक ही दूरी पर या बराबर-बराबर चलता रहे है।

एक समभाषांश रेखा से बोली के क्षेत्र का निर्धारण करना उचित नहीं जितना 'समभाषांश रेखासमूह' से। यह समूह जितनी अधिक समभाषांश रेखा युक्त होगा, उतना ही अधिक स्पष्ट बोली-सीमा का निर्धारण संभव है। 'समभा रेखासमूह' बोली-क्षेत्र का निर्धारण करता है और निर्धारित क्षेत्र में व्याप्त उस का नामकरण किया जाता है।

यह नामकरण कई प्रकार से संभव है—

१. परम्परागत : जैसे उत्तरभारत में ब्रज, अवधी, पंजाबी आदि नाम। की रायल सीमा, तटीय क्षेत्र आदि।

२. क्षेत्र-विशेष पर आधृत : जैसे मेवाती, शेखावाटी, डोगरी आदि।

३. राज्यों-प्रान्तों पर आधृत : जैसे उड़िया, बंगला, यार्कशायरी बोली, स्क बोली।

४. दिशाओं पर आधृत : जैसे उत्तर-पूर्वी न्यू इंगलैंड, दक्षिण-पूर्वी न्यू इंगलैं दक्षिण-पश्चिमी न्यू इंगलैंड।

५. भाषिक प्रवृत्ति पर आधृत : जैसे मथुरा में पड़ी बोली, ठाड़ी बोली-क्षे

---

१. डॉ० देवीशंकर द्विवेदी : भाषा-सर्वेक्षण तथा समच्छवियों के प्रका 'परिषद्-पत्रिका', भाषा-सर्वेक्षणांक, पूर्णाङ्क ३१-३२, पृ० १२०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्य प्रकार से भी नामकरण संभव है—

६. समभाषांश रेखा पर आद्धृत : ससभाषांश रेखाओं से व्यक्त प्रमुख प्रवृत्ति पर नामकरण किया जा सकता है, जैसे शेखावाटी में सूँ-बोली, सैं-सैं बोली।

इसप्रकार बुंदेली का विभाजन डॉ० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल ने तीन भाग में किया है—खाँ बोली, कौं बोली तथा खौं बोली।

डॉ० गोविन्द मोहन त्रिवेदी ने 'गंगा के निचले दोआव' को वर्तमान सामान्यार्थ काल के मध्यपुरुष बहुवचन के रूपों के आधार पर विभाजित किया है—हौ क्षेत्र, हउ आहिउ क्षेत्र, हेउ आव क्षेत्र, हौ आव क्षेत्र, हउ आह् क्षेत्र तथा होअ क्षेत्र।

इसप्रकार के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है। इसके लिए विभिन्न विश्व-विद्यालय अपने समीपवर्ती क्षेत्र को ले सकते हैं जिसमें तत्संबंधी विश्वविद्यालय के भूगोल तथा भाषा-शास्त्र के शोधार्थी सम्मिलित रूप से कार्य कर सकते हैं।

भाषाभूगोल का संक्षिप्त विकास तथा इतिहास

वैसे भाषा और बोली के पारस्परिक सम्बन्ध तथा बोली/भाषा के क्षेत्र-निर्धारण का प्रयास अनेक विद्वानों ने शताब्दियों पूर्व किया था परन्तु 'बोली-विज्ञान' का सूत्रपात १८वीं शताब्दी में हुआ। जार्ज हिक्स ने एंग्लो-सैक्सन की 'अंग्रेजी-बोलियों' का अध्ययन किया और जेरोनियों ने पुर्तगाली बोलियों का। सन् १७५८ में बारट्रँड ने यूरोपीय प्रधान बोलियों को निश्चित करने के साथ-साथ जर्मन भाषा के साथ उनके सम्बन्ध को स्थापित करते हुए पहली बार पूर्वी स्विट्जरलैंड की बोली का स्वरूप निर्धारित किया।

इसके बाद बोली-अध्ययन के तीन मुख्य रूपों— बोली-कोश, बोली-मानचित्रावली, बोली-सर्वेक्षण—का अध्ययन तेजी से प्रारंभ हुआ। एक ओर नीदरलैंड पर सन् १७६७ ई० में 'बोली-कोश' प्रकाशित हुआ तो दूसरी ओर फ्रान्स की जनबोलियों की स्थिति का अध्ययन किया जाने लगा। एक प्रकार से इस अध्ययन में सन् १८०४ महत्त्वपूर्ण तिथि मानी जाएगी जब पेरिस में 'केल्टिक अकादमी' की स्थापना की गई।

डैनिश विद्वान् रास्क तथा जर्मन भाषाविद् ग्रिम के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है जर्मन विद्वान् एण्ड्रीज श्मेलर (J. A. Schmeller) जिसको इस शास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। आपने अपनी पुस्तक 'Die Mundarten Bayerns' में जनभाषा तथा शिक्षित भाषा की भिन्नता पर प्रकाश डाला, साथ ही स्वनिक चार्ट सम्पादित कराए। काकेशस के निवासियों के जीवन का अध्ययन करते हुए एशिया के इस क्षेत्र का बहुभाषी एटलस तैयार कराया गया। रूपों का इतिहास तथा भौगोलिक क्षेत्रों में उनका वितरण भी महत्त्व रखता है। इन दृष्टियों से श्मेलर का नाम तथा वर्ष १८२१ ई० महत्त्व रखता है।

इसके बाद आसेन ने नार्वे की बोलियों पर; विन्टलर, रीड, कीलर आदि विद्वानों ने जर्मन बोलियों पर, लेस्किन ने स्लाव, लिटाविया, जर्मन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर, गार्टनर ने रोमांस बोलियों पर उल्लेखनीय कार्य किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गिलेराँ तथा वेंकर के इस क्षेत्र में प्रवेश से 'भाषा-भूगोल' के क्षेत्र में क्रांति आ गयी। सन् १८८३ में 'बोली-विज्ञान' की पहली कान्फ्रेंस हुई। वेंकर की प्रश्नावली के उत्तर में प्राप्त प्रत्येक शब्द का मानचित्र तैयार किया गया। इस काल तक आते-आते यह अनुभव किया जाने लगा कि बोलियों का अध्ययन केवल राज्यों/प्रांतों तक सीमित न रखा जाए, वरन् जिलों-गाँवो तक ले जाया जाए। वेगन्द ने वेंकर की प्रश्नावली को ही रूमानिया की जनबोलियों में अनुवादित किया और ३२५ स्थानों पर बोली जाने वाली 'भाषा के उपरूप' प्रस्तुत किये। वेंकर के प्रयासों का फल है—'Deutsch Sprachatlas'। सन् १८७६ ई० में वेंकर ने राइन नदी के प्रदेश की स्थानीय बोलियों का सर्वेक्षण डुसेलडार्फ से प्रारंभ किया और धीरे-धीरे इसका विस्तार उत्तर तथा केन्द्रीय जर्मनी में किया जिसके फलस्वरूप पाँच वर्ष बाद सन् १८८१ ई० में इस क्षेत्र की 'बोली-मानचित्रावली' के रूप में अध्ययन की पहली खेप छह मानचित्रों के रूप में प्रकाशित हुई।

इनके साथ ही अंग्रेजी बोलियों की ध्वनि-प्रक्रिया (एलिस), सरदीनिया तथा कोर्सिका बोलियों का अध्ययन (गुअरनेरिओ), नीदरलैंड की लोकबोलियों का एटलस (विंकेल), आइरिश बोली का अध्ययन (फिंक), स्वाविया का भाषा-भौगोलिक अध्ययन (फिशर), डैनिश बोलियों का स्वनिक एटलस, रोमन बोली-विज्ञान (मिलार्डे) आदि कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं।

फ्रान्स की 'भाषिक मानचित्रावली' सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है जिसका प्रकाशन १९०२ से १९१० तक ३५ भागों में हुआ। लगभग ६३० कम्यूनों पर आधारित इस संपूर्ण मानचित्रावली में १९२० मानचित्र हैं। इस महान् कार्य का दायित्व गिय्यिअरों (गिलिएरोन) तथा एदमोन (J. Gillieron & E. Edmont) पर था। कालान्तर में इस कार्य का एक पूरक कार्य सन् १९२० में प्रकाशित हुआ। यह कार्य एक प्रक्षिशित स्वनशास्त्री द्वारा किया गया। ध्वनिनियमों के सम्बन्धों विवादों से उत्पन्न ये भाषा-मानचित्र भाषाविज्ञान के अध्ययन का नवीन दृष्टिकोण प्रकाश में लाये। काफी समय बाद अलवर्ट दाउजत ने फ्रांस का नया भाषा-मानचित्र भी बनाया। इस भाषा मानचित्रावली में फ्रांस और समीपवर्ती बेल्जियम, स्विट्जरलैंड, इटली के कुछ प्रदेशों के लगभग ६०० के स्थानों को अंकित किया गया। प्रत्येक स्थान पर एकमात्र सूचक द्वारा लगभग २००० शब्द और पदबन्धों की प्रश्नावली से सामग्री संकलित की गयी है। इसमें केन्द्रीय भाग से, जो अधिकांश: पेरिस है, विकसित होने वाले शब्द तथा उच्चारणों को भी कुछ मानचित्रों में प्रदर्शित किया गया है। अकेले एद्मोन महोदय ने ही साइकिल पर घूम-घूमकर ६३९ स्थानों से लगभग १० लाख शब्दरूपों को इकट्ठा किया। यह कोई सरल कार्य नहीं था। इस एटलस में मुख्य रूप से तीन प्रकार के मानचित्र हैं—

(क) सामान्य जनता की शब्दावली में प्रयुक्त कुछ शब्द।

(ख) कुछ शब्दों का क्षेत्रीय वितरण।

(ग) १०० साधारण वाक्य जिनमें रूपात्मक तथा वाक्यात्मक विशेषताएँ प्रदर्शित हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

फ्रांस के भाषिक एटलस के साथ भाषा-भूगोल के सिद्धान्तो पर महत्त्वपूर्ण कार्य 'E'tudes de geographie linguistique' प्रकाशित हुआ, जिसमें बड़े विस्तार से यह प्रदर्शित किया गया है कि भाषिक एटलस के मानचित्रों को कैसे वनाया जाए और उनकी व्याख्या कैसे की जाए। शाडेल ने ३२ भाषा-समुदायों का क्षेत्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया जिससे यह निष्कर्ष निकला कि राजनीतिक सीमाएँ दो वोलियों के मध्य की सीमा को प्रभावित नहीं करती हैं। सन् १६०७ में कटालाँ में एक संस्थान की स्थापना हुई जिसके तत्त्वावधान में भाषिक एटलसों के कार्यों का संयोजन हुआ। फ्रांस में, इस दिशा में वहुत से कार्य दिये गये, जिनमें से मिय्यारदे (George Millardet) द्वारा ६८००० प्रश्नों के आधार पर प्राप्त सामग्री का ५७३ चार्टों में प्रस्तुतीकरण, टेराचर की नारवेस्त से सम्बन्धित मानचित्रावली, ६३ कम्यूनों के छोटे से क्षेत्र पर आधारित ब्रूनू का कार्य, ब्लाश द्वारा २६ कम्यूनों पर आधारित ८१० मानचित्र, निवरनै का ३१३ कम्यूनों पर आधारित भाषिक कार्य, गार्देत्त का भाषा-भौगोलिक के साथ नृवंशीय पक्ष पर आधारित अध्ययन, आस्त (J. Haust) द्वारा सम्पादित वलोनी का भाषा-भौगोलिक अध्ययन, जो सेञ्जी (Jean Se'gny) द्वारा भाषा-सर्वेक्षण (प्रथम भाग—२१६ चार्ट, द्वितीय भाग—२२० से ५६२ चार्ट, तृतीय भाग—५६३ से १०६२ चार्ट) तथा पिएर नाउताँ (Pierre Nauton) का मैसिफ सेंट्रल का दो भागों में प्रस्तुत १२३४ चार्टों सहित अध्ययन उल्लेखनीय है।

कार्ल जैवर्ग (Karl Jaberg) ने 'भाषा-भूगोल' पर कई पुस्तकें लिखी हैं। सैद्धान्तिक पक्ष पर १६०८ में लिखी पुस्तक लघु होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरी पुस्तक सन् १६३५ में प्रकाशित हुई जिसमें भाषा एटलस, अर्थविज्ञान, रूपविज्ञान पर तीन विस्तृत अध्यायों के साथ १६ चार्ट भी है।

इटली तथा समीपवर्ती क्षेत्र गियिय्यअरों तथा एदमोन (J. Gillieron & E. Edmont), वोटिग्लियोनी और जैवर्ग तथा जुद के कार्य हैं। इनमें से तीसरे कार्य में इटली-स्विस क्षेत्र का भाषा-भौगोलिक अध्ययन है जो १६२८ से लेकर १६४० तक आठ खण्डों में प्रकाशित हुआ जिसका विवरण इस प्रकार है—

पहला भाग	–	मानचित्र सं०	१६८
दूसरा भाग	–	—	२१४
तीसरा भाग	–	—	२३०
चौथा भाग	–	—	२०६
पाँचवाँ भाग	–	—	१८६
छठा भाग	–	—	२०६
सातवाँ भाग	–	—	२४२
आठवाँ भाग	–	—	२१७

इनमें से अन्तिम भाग नृविज्ञान से सम्बन्धित है।

वेल्जियम में 'वोली-विज्ञान' का कमीशन सन् १६२७ में स्थापित किया गया। पौंतों राइसो का भाषिक एटलस भी इसी समय तैयार हुआ। बोटिग्लिओनी ने कोर्सिका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का भाषिक एटलस तैयार किया। वैगनर ने 'Deutsche Dialekgeographie' में तीस भाषिक मानचित्र प्रस्तुत किये। निकोले ने हंगरी के भाषिक एटलस पर मोनोग्राफ प्रकाशित किया। पेदरोत्ती तथा बर्तोल्दी ने पहली बार वनस्पतिशास्त्र, लोकतत्त्व तथा भाषाविज्ञान, तीन शास्त्रों को सम्मिश्रित रूप से प्रस्तुत किया। वाल्टर वेन्जल ने सन् १९३० में प्रकाशित अपने अध्ययन (१४४ पृष्ठों की सामग्री) में १० मानचित्र भी दिये। नार्वेजियन भाषा के लिए भी कमीशन की स्थापना की गई। पुर्तगाल के भाषिक एटलस के निर्माण के लिए लिस्बन में केन्द्र की स्थापना की गई।

पॉप (Sever Pop) की 'ला डायलेक्टोलोजी' फ्रेंच भाष. में प्रकाशित 'बोली-विज्ञान' के क्षेत्र में अकेली महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें ११३४ पृष्ठों में रोमन 'बोली-विज्ञान' (पृ० १-७३३) तथा 'रोमनेतर बोली-विज्ञान' (पृ० ७३४-११३४) पर विस्तार से लिखा गया है। इतनी भारी-भरकम कृति में भी भारत में किये गये कार्य पर मात्र ९ पृष्ठ हैं। यह कृति 'भाषा-भूगोल' से सीधे सम्बन्धित तो नहीं, पर 'बोली-विज्ञान' से सम्बन्धित होने के कारण पठनीय है।

इसीप्रकार विलियम स्कीट ने 'इंगलिश डायलेक्ट सोसायटी' की स्थापना की जिसके माध्यम से इंग्लैंड की बोलियों की सामग्री को संकलित किया गया। उनके मस्तिष्क में अध्ययन की भौगोलिक अवधारणा नहीं थी। स्कीट (W. W. Skeat) की देखरेख में ८० छोटे-मोटे कार्य प्रकाशित हुए जिसमें राइट (Joseph Wright) कृत 'विन्डहिल की बोली' सर्वाधिक वैज्ञानिक अध्ययन है। राइट महोदय ने ही अंग्रेजी बोली कोश (सन् १८९६ से १९०५) के निर्माण का कार्य अपने हाथों में लिया जो आठ भागों में प्रकाशित किया गया। परिशिष्ट में २४३१ शब्दों के १५९२४ बोली-रूप प्रस्तुत किये गये। राइट ने बहुप्रचलित शब्दों के विभिन्न क्षेत्रों में बोली-रूपों का पता लगाने के लिए एक लघु पुस्तिका तैयार की थी जिसको १२०० व्यक्तियों के पास भेजा गया जिसके आधार पर पाँच लाख स्लिपें तैयार की गईं। 'बोली-कोश' के क्षेत्र में यह महान् कार्य है। बाद में स्काटलैंड से विलियम ग्रांट के सम्पादकत्व में 'स्काटिश नेशनल डिक्शनरी' १० खण्डों में प्रकाशित की गई। अंग्रेजी बोलियों के नवीन सर्वेक्षण की चर्चा चलाने का श्रेय डीथ (E. Dieth) महोदय को है जिन्होंने विस्तार से प्रकाश डालते हुए भाषा-भूगोल के महत्त्व को प्रतिपादित किया। उनके साथ आर्टन महोदय ने कार्य किया। इस कार्य को ही पीटर राइट ने सम्हाला और इसमें स्टेनले एलिस, साइमन वैरी, गिब्सन, फैन्सिसे, कोल्व, प्लेफोर्ड, वर्न्टसन, पैरी ने सहायता दी। स्काटलैंड में भाषा-सर्वेक्षण का कार्य भी प्रारंभ हो चुका है। आइरिश भाषा का सर्वेक्षण वागनर महोदय ने सम्पादित किया। प्रकाशित एटलस के प्रथम भाग में (सन् १९५८) भूमिका के अतिरिक्त ३०० मानचित्र भी प्रस्तुत किये गये।

संयुक्त राज्य अमेरिका में 'भाषा-भूगोल' के क्षेत्र में विशेष कार्य किया गया है। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हन्स कुरथ (Hans Kurath) का 'ए वर्ड जॉगरफी ऑव द ईस्टर्न यूनाइटेड स्टेट्स' है जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी क्षेत्र का 'शब्द' स्तर पर भाषा-भौगोलिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अध्ययन 'अमेरिकन कौंसिल ऑव लर्नेड सोसाइटीज' के तत्त्वावधान में सन् १९३१ में प्रारंभ किया गया था। इस अध्ययन के माध्यम से इस क्षेत्र की 'लोकभाषा', 'सामान्य भाषा', तथा 'शिष्ट भाषा' के रूपों को प्रस्तुत किया गया है, साथ ही जनसंख्या के स्थानान्तरण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापारिक केन्द्र, सांस्कृतिक केन्द्र भी ज्ञात किये गये हैं और १२०० सूचकों के पास से प्राप्त ४०० विभिन्न शब्दो के क्षेत्रगत प्रयोगो के आधार पर मुख्यतः तीन भाषिक क्षेत्र-- उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी - निर्धारित किये गये हैं। इस शृङ्खला में 'क्रियारूपों (ई० बेग्वी एटवुड) तथा 'एटलान्टिक स्टेट्स में अंग्रेजी का उच्चारण' (कुरथ तथा मैकडेविड) महत्त्वपूर्ण हैं। 'संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा की भाषिक मान-चित्रावली' का कार्य अब काफी आगे बढ़ गया है। इस अध्ययन की पद्धति पर कुरथ ने 'हैंडबुक ऑव द लिंग्विस्टिक ज्योग्राफी ऑव न्यू इंगलैंड' (१९३९ ई०) में प्रकाश डाला है। न्यू इंगलैंड के एटलस का कार्य जनवरी, १९३१ में प्रारंभ हुआ था। हैंडबुक में काफी सामग्री--न्यू इंगलैंड की बोलियों का क्षेत्र, कार्य-पद्धति, न्यू इंगलैंड का प्रारम्भिक विकास तथा स्थापना, ध्वन्यात्मक लिपि-चिह्न; वर्कशीट्स तथा विभिन्न क्षेत्रों तथा सूचकों की सूचना आदि है। यह संपूर्ण कार्य न्यू इंगलैंड, मिडिल एटलांटिक स्टेट्स, साउथ एटलांटिक स्टेट्स, सेन्ट्रल स्टेट्स, साउथ वेस्ट स्टेट्स, मिडिल वेस्ट स्टेट्स, रोको माउन्टेन पैसीफिक कोस्ट स्टेट्स तथा कनाडा में विभाजित है जिनमें से काफी कार्य पूरा हो चुका है, जैसे सेंट्रल स्टेट्स, ग्रेट लेक्स एरिया आदि। अमेरिकन एटलसों की प्रगति का पूरा विवरण लेखक ने अपनी 'भाषा-भूगोल' पुस्तक में पृ० २११ में प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, दक्षिणी-पूर्वी एशिया, चीन आदि महाद्वीपीय देशों में भी कार्य हुए हैं। सर्वाधिक आदर्श कार्य जापान में हुआ है। यानागीता कूनिओ तथा ताचीबाना शोइचिने पहले ही इस दिशा में काफी काम किया था। मानचित्रों के साथ शब्द-सूचियाँ भी प्रकाशित की गईं। अन्य व्यक्तियों में उल्लेखनीय हैं--कोवायशीयोशीरारु (उत्तर-पूर्वी जापानी बोलियाँ), त्सूचीकावा मासाओ (नगानी, यमनशी क्षेत्र की बोलियाँ), इशीगूरी ताकेआती (तोत्तोरि बोली), ताकेऊची मासातो (एहिमे बोलाँ) तथा फ्यूजीवारा योइची (जापानी बोलियाँ) आदि। 'इतोइगावा की भाषा मानचित्रावली के निर्माण में शीवाता, ग्रूटेअर्स तथा तोकूगावा जैसे तीन सुप्रसिद्ध भाषाविद् लगे रहे। दूसरा सर्वेक्षण 'नागानो गीफू' सीमा प्रदेश से संबंधित है जो मासे महोदय के निर्देशन में सम्पन्न किया गया।

भारतवर्ष के प्रारम्भिक कार्यों में बीम, ग्रियर्सन, ब्लाख हार्नली के शोधों का महत्व है।

द्रविड़ परिवार की 'तमिल' में भाषा-सर्वेक्षण की दृष्टि से सभी क्षेत्रो की बोलियों पर कार्य हुआ है। राम सुब्बैया ने निम्न पेराक (मलाया) की तमिल बोलियों पर अध्ययन प्रस्तुत किया है। डॉ० सुब्रह्मण्यम् के निर्देशन में, केरल विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान के तत्वावधान में 'बोली-सर्वेक्षण योजना' को चलाया गया। यह कार्य भौगोलिक तथा जातीय दोनों आधारों पर किया गया है। अन्य विश्वविद्यालयों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिए। यह पहला कार्य है जिसमें एटलस का निर्माण किया गया है। कन्नड़ तथा तेलुगु की बोलियों पर कार्य किया गया है। तेलुगु भाषा के सर्वेक्षण का कार्य प्रो० भद्रिराजु कृष्णमूर्ति के निर्देशन में १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ था। तेलुगु तीन उपभाषाओं में विभाजित है--तेलंगाना, तटीय बोली तथा दक्षिण-पश्चिमी बोलियाँ। भाषा-भूगोल के सिद्धान्त पर बड़ी निपुणता से सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० कृष्णमूर्ति ने व्यापक सर्वेक्षण के आधार पुष्ट किये हैं। यह कार्य 'ए सर्वे ऑव तेलुगु डायलेक्ट वोके-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुलरी' शीर्षक से आंध्र प्रदेश साहित्य अकादमी हैदराबाद से प्रकाशित हुआ जिसमें ३३ मानचित्र प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से एक रंगीन भी है। २८ मानचित्रों के आधार पर पाँच मानचित्र समभाषांश रेखाओं के हैं।

भारतीय आर्य-परिवार की कई भाषाओं पर अच्छा कार्य हुआ है। डॉ० कालेलकर ने 'भाषा : इतिहास आणि भूगोल' में संक्षिप्त विवेचन किया है। डॉ० घटगे ने 'मराठी बोलियों के सर्वेक्षण' के अन्तर्गत कई बोलियों के अध्ययन को संपादित किया है जबकि किसी पुस्तक में कोई मानचित्र नहीं दिया गया है। गुजराती की बोलियों के कार्यों में प्रो० दवे, के० का० शास्त्री, भायाणी तथा डॉ० पंडित के कार्य उल्लेखनीय हैं। बगाली में डॉ० चाटुर्ज्या तथा डॉ० सेन के अतिरिक्त श्री एस० पी० चौधरी ने कार्य किया। उड़िया तथा असमिया में भी छुटपुट कार्य हुए हैं। 'पंजाबी' का भाषिक एटलस डॉ० गिल के निर्देशन में तैयार किया गया है जिसका प्रकाशन भी पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला ने किया है। किसी भी भारतीय आर्यभाषा को सम्पूर्ण एटलस तैयार करने का श्रेय प्रो० गिल को है। 'बोली-विज्ञान' की दृष्टि से अन्य कार्य भी हुए हैं जिनमें से डॉ० बाहरी तथा बहल के कार्य उल्लेखनीय हैं।

हिमालय की अनेक बोलियों पर डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने कार्य किया है। कुमायुँनी तथा गढ़वाली पर भी कई कार्य सम्पन्न हुए हैं।

अन्य प्रकाशित सर्वेक्षणों में सिंहभूम जिले के ढलभूम और मानभूम सब डिवीजनों का सर्वेक्षण डॉ० विश्वनाथप्रसाद के निर्देशन में सम्पन्न हुआ था जो बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् से प्रकाशित है। परिषद् के तत्वावधान में अन्य कार्य भी हो रहे हैं। पूर्व क्षेत्र की अन्य प्रमुख उपभाषाओं में मैथिली (सुभद्र झा), भागलपुरी (डॉ० कामेश्वर शर्मा), भोजपुरी (डॉ० विश्वनाथ प्रसाद, डॉ० उदयनारायण तिवारी आदि), मगही (डॉ० श्रीकान्त शास्त्री, श्रीमती सम्पत्ति अर्याणी), वज्जिका (डॉ० सियाराम तिवारी), आजमगढ़ी (डॉ० महेन्द्रनाथ दुबे तथा डॉ० कैलाशचन्द्र मिश्र), कुरमाली (डॉ० नन्द किशोर सिंह) आदि पर कार्य हुआ है।

राजस्थान क्षेत्र की लगभग सभी उपभाषाओं पर कार्य किये गये हैं जिनमें से भाषा-भूगोल की दृष्टि से 'मेवाड़ी' (डॉ० नरेन्द्र व्यास) तथा 'शेखावाटी' (डॉ० कैलाशचन्द्र अग्रवाल) कार्य महत्वपूर्ण हैं।

पूर्वी हिंदी पर डॉ० बाबूराम सक्सेना के 'अवधी' पर ऐतिहासिक कार्य के बाद बैंसवाड़ी (डॉ० देवीशंकर द्विवेदी), छत्तीसगढ़ी (कान्तिकुमार) हलबी, भतरी (डॉ० भालचंद्र राव तेलंग), अवधी (डॉ० टी० एन० सिंह) आदि बोलियों पर विशेष कार्य हुए हैं। भाषा-भूगोल की दृष्टि से डॉ० गोविन्दमोहन त्रिवेदी का 'गंगा के निचले दोआब का भाषा-सर्वेक्षण' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

पश्चिमी हिन्दी की उपभाषाओं पर अनेक कार्य हुए हैं। सर्वाधिक कार्य ब्रजभाषा तथा बुंदेली पर हुए हैं। ब्रजभाषा पर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अतिरिक्त मथुरा की बोली (डॉ० चन्द्रभान रावत), अलीगढ़ बुलन्दशहर की बोली (डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन), बुलन्दशहर की बोली (डॉ० महावीर सरन जैन), एटा की बोली (डॉ० रामरजपाल द्विवेदी), आगरा जिले की बोली (डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी) आदि कार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये जा सकते हैं। बुंदेली पर डॉ० रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल, पूरनचंद श्रीवास्तव, डॉ० एम० पी० जायसवाल, डॉ० भवानीदीन मिश्र ने शोधकार्य किये हैं। भाषिक एटलस की दृष्टि से डॉ० लता दुबे का कार्य महत्त्वपूर्ण है। 'बघेली' पर डॉ० हीरालाल शुक्ल का शोधग्रंथ 'बघेलखंड की शब्द-मानचित्रावली' प्रकाशित है जो अब तक हुए कार्यों में आगे हैं। डॉ० शुक्ल ने बस्तर क्षेत्र की बोलियों पर भी कार्य किया है।

संक्राति क्षेत्रों पर भी कई कार्य हुए हैं, जैसे अवधी-भोजपुरी (डॉ० अमर बहादुर सिंह), अवधी-कन्नौजी (डॉ० रामलखन गुप्त), ब्रज-खड़ीबोली (डॉ० मनोहर लाल गौड़), हरियाणवी-खड़ी बोली (संयुक्ता कौशल) आदि।

इसप्रकार 'भाषा-भूगोल' का भविष्य हिंन्दी तथा उसकी उपभाषाओं के संदर्भ में बहुत उज्ज्वल है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४

भाषिक आदान

रामलखन गुप्त,

['भाषिक आदान' शीर्षक लेख में डॉ० गुप्त ने मारीशस की भोजपुरी 'क्रिओल' तथा अन्य क्षेत्रीय बोलियों के उदाहरण द्वारा भाषिक आदान की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। इसमें लेखक ने आदान के प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए बोलीगत आदान के सन्दर्भ में अपना अभिमत इन शब्दों में व्यक्त किया है—'एकाधिक बोलियों के संक्रान्ति-क्षेत्र में इसप्रकार का आदान इतना गहन होता है कि उन बोलियों की सीमा का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता। इसके लिए पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के संक्रान्ति-क्षेत्र का परीक्षण किया जा सकता है।]—सं०

जब दो बोलियाँ या भाषाएँ उनके प्रयोक्ताओं के माध्यम से सम्पर्कित होती हैं तब उनमें से किसी एक या दो बोलियों के प्रयोक्ता एक दूसरी के भाषिक रूपों को अनजाने में ही ग्रहण करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक भाषा में इसप्रकार का गृहण होता रहता है तथा इस ग्रहण की कोई सीमा नहीं होती। इसप्रकार "किसी भाषा या बोली में परम्परा या विकास क्रम से चले आ रहे भाषिक रूपों से भिन्न रूपों का ग्रहण ही भाषिक आदान कहलाता है। यह आदान भौगोलिक एवं राजनैतिक स्थितियों के अनुसार सजातीय अर्थात् अपनी सहोदरा भाषाओं-बोलियों तथा विजातीय अर्थात् भिन्न-मूल की भाषाओं से होता है। हिन्दी के सन्दर्भ में उसकी बोलियों तथा बंगला, असमी, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि भाषाओं से होने वाला आदान सजातीय तथा तमिल तेलुगु, कन्नड़, अंग्रेजी, फ्रेंच, अरबी, फारसी आदि से भाषिक रूपों का ग्रहण विजातीय आदान कहलायेगा।

इसप्रकार के भाषिक ग्रहण के स्रोत होते हैं—व्यक्ति, वस्तुएँ, लेखन तथा ध्वनियाँ। इन स्रोतों के माध्यम से वक्ता अपनी बोली में दूसरी भाषा के रूपों को उस दशा में ग्रहण करता है जब वह—(१) गृहीत रूपों के अर्थ एवं उच्चारण से आंशिक या पूर्णरूपेण परिचित होता है, तथा (२) उन रूपों के ग्रहण करने के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा से अभिभूत हुआ हो। आदाता में यह प्रेरणा भी प्रमुखतया दो रूपों में होती है: प्रथम, सम्मानगत प्रेरणा और दूसरी है आवश्यकता की पूर्तिगत प्रेरणा। भाषिक आदान में ये प्रेरणाएँ किस प्रकार प्रभावित करती हैं, इसको किंचित् विस्तार से क्रमशः समझ लेना आवश्यक होगा।

सम्मानगत प्रेरणा—व्यक्ति जिसे प्रशंसा की दृष्टि से देखता है अथवा श्रेष्ठ मानता है, उसे प्रायः अपनाने के लिए प्रयत्नशील होता है। यही बात भाषा के सन्दर्भ में भी लागू होती है। यूरोप के विभिन्न भागों से सम्बद्ध, आज के संयुक्तराज्य अमेरिका में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नागरिक, अपने वाक्-व्यवहार में, अंग्रेजी भाषा को प्रधानता देते हैं। भारत का ही उदाहरण लें। हिन्दी आज की महत्त्वपूर्ण भाषा है। भारत के प्रायः सभी भागों के लोग, जिनकी मातृभाषा हिन्दी से भिन्न है, हिन्दी के शुद्ध उच्चारण तथा उसके रूपों को अपनाने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः बोलीगत आदान में यह प्रेरणा सतत प्रभावशील रहती है। इस प्रेरणा का एक अन्य रूप वहाँ मिलता है जहाँ विभिन्न भाषाओं के मध्य शासक वर्ग की भाषा अलग होती है। ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र या देश के विभिन्न भाषाभाषी, शासक वर्ग की भाषा को या भाषा-रूपों को ग्रहण कर अपने कथन के मध्य उनका व्यवहार करने में गौरव का अनुभव करते हैं। भारत में मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दी उसकी बोलियों तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अरबी-फारसी शब्दों का समावेश एवं अंग्रेजों के शासन-काल में, और आज भी अपने कथन के मध्य लोग अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, इसी प्रेरणा से अभिभूत होकर करते हैं।

कभी-कभी स्थिति यह होती है कि शासक वर्ग की भाषा अपनाने के लिए एक पूरा समाज ही इसप्रकार समर्पित हो जाता है कि उसके ग्रहण की तीव्रता से एक नई भाषा का उदय होने लगता है। मारीशस के हब्सियों द्वारा अपने शासकों की भाषा 'फ्रेंच' अपनाने में जिस रुचि एवं अभिभूतिजन्य होड़ का उपयोग किया था, उससे उनकी मातृभाषा समाप्त हो गई तथा एक नई भाषा 'क्रिओली' (भ्रष्ट फ्रेंच) विकसित होकर प्रयुक्त होने लगी। आज के मारीशस में 'क्रिओली' वहाँ की सम्पर्क-भाषा है।

आवश्यकताजन्य प्रेरणा—भाषिक आदान में आवश्यकताजन्य प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी क्षेत्र-विशेष में व्यापार या उद्योग से सम्बद्ध होकर विभिन्न भाषा भाषी जब लगातार सम्पर्कित होते हैं, तो उनके वाक्-व्यवहार में आवश्यकतानुसार एक-दूसरे के भाषा रूपों का समावेश होने लगता है। सैकड़ों वर्षों पूर्व अंग्रेज सामुद्रिक व्यापार के लिये चीन तक जाते थे। चीन सागर में प्रायः सामुद्रिक आँधियों आती रहती हैं। चीनी मल्लाह क्षितिज का रंग देखकर ही इस आँधी का अनुमान लगा लेते हैं तथा अपने साथियों को सावधान करने के लिए 'टायफून' शब्द बार-बार जोरों से उच्चरित करते हैं। कालान्तर में 'टायफून' शब्द अंग्रेज व्यापारियों द्वारा अंग्रेजी भाषा में गृहीत हो गया। इतना ही नहीं, आगे चलकर चीनी तथा अंग्रेज मल्लाहों की भाषाएँ इस हद तक सम्पर्कित हुईं कि उनके मध्य एक नयी सम्पर्क-भाषा विकसित हो गयी जिसे आज 'पिडगिन इंगलिश' के नाम से जाना जाता है। किसी देश या समाज की भाषा में नवीन शब्दों का समावेश प्रवासियों के कारण भी होता है। संयुक्तराज्य अमेरिका की आज की अंग्रेजी में स्पेनिश, फ्रेंच, डच, आदि अनेक भाषाओं के शब्द आवश्यकता की दृष्टि से प्रवेश कर गये हैं। मारीशस की भोजपुरी में आज सैकड़ों 'क्रिओली' शब्दों का समावेश हो गया है। मारीशस में प्रायः तीन-चार दशक पूर्व भोजपुरी ही वहाँ की सम्पर्क-भाषा थी। भारतीय यद्यपि वहाँ कुली के रूप में थे, किन्तु उनके भाषा रूपों का प्रयोग वहाँ के फ्रांसीसी महाप्रभु, क्रिओल, चीनी आदि सभी करते थे। इसका कारण यह था कि फ्रेंच लोगों को भारतीयों से काम लेने के मध्य, क्रिओलों को साथ-साथ काम करने तथा चीनियों को व्यापार चलाने के लिए भोजपुरी भाषा रूपों को ग्रहण करने की आवश्यकता हुई। धार्मिक स्थलों में व्यापार करने वाले इस तीव्रता से आदान करते हैं कि कुछ समय बाद वे बहुभाषी बन जाते हैं। दक्षिण भारत के तीर्थस्थल रामेश्वरम्, तिरुपति आदि में यह बात प्रत्यक्ष देखने को मिलती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विज्ञान और टेक्नॉलोजी के विकास के साथ-साथ आज भारत की प्रायः सभी भाषाओं में तत्सम्बन्धी अंग्रेजी शब्दावली का ग्रहण हुआ है जिसकी पृष्ठभूमि में आवश्यकताजन्य प्रेरणा का ही हाथ है। इसी क्रम में अंग्रेजी भाषा का भी परीक्षण किया जा सकता है जिसमें विज्ञान, धर्म, साहित्य से सम्बद्ध हजारों शब्द ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच, स्पेनिश, अरबी, हिन्दी आदि भाषाओं से लिए गये हैं।

बोलीगत आदान—किसी भाषा के अन्तर्गत आनेवाली बोलियाँ एक-दूसरे के भाषिक रूपों को ग्रहण करती हैं। प्रायः प्रमुख बोली से दूसरी बोलियों में इसप्रकार का आदान अधिक होता है। इस आदान की मात्रा सम्बन्धित बोलियों के प्रयोक्ताओं के सम्पर्कित होने की वारम्वारता पर निर्भर करती है। एकाधिक बोलियों के संक्रान्ति-क्षेत्रों में इसप्रकार का आदान इतना होता है कि उन बोलियों की सीमा का निर्धारण भी कठिन किया जा सकता। अवधी-कन्नौजी, ब्रजभाषा-खड़ीबोली, अवधी-भोजपुरी आदि बोलियों के संक्रान्ति-क्षेत्रों में बोलीगत आदान की तीव्रता का परीक्षण किया जा सकता है। एक समुदाय में भाषागत आदतों का ग्रहण, किसी सामान्य आदमी की नकल पर होकर लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्तियों से प्रभावित होता है। इन विशेष व्यक्तियों द्वारा ग्रहीत अन्य भाषारूप धीरे-धीरे प्रचलित हो जाते हैं। भारतीय समाज में बोलीगत आदान का सशक्त माध्यम नारियाँ भी हैं। किसी बोली से सम्बद्ध स्त्री विवाह के पश्चात् दूर भिन्न बोली क्षेत्र में जाती है, तो उसकी मातृभाषा के अनेक रूप उसके परिवार, पड़ोस यहाँ तक कि उस क्षेत्र में प्रचलित हो जाते हैं। छत्तीसगढ़ में छोटे लकड़ी के टुकड़ों को औरतें छिल्पी कहती हैं। यह शब्द अब बघेली में प्रवेश कर गया है। बोलीगत आदान में व्याकरणिक शुद्धता-अशुद्धता का प्रश्न नहीं होता, क्योंकि ग्रहणकर्त्ता अन्य बोली-रूपों को प्रारम्भ में सावधानी या गम्भीरता से नहीं लेता। बल्कि ये रूप प्रारम्भ में हँसी-मजाक के साथ ग्रहण किये जाते हैं।

सांस्कृतिक आदान—'बोलीगत आदान' में एक ही भाषा की विभिन्न बोलियाँ सम्पर्कित होने पर एक-दूसरे के भाषा रूपों का ग्रहण करती हैं, जबकि सांस्कृतिक आदान में एकाधिक भाषाएँ सम्पर्कित होने पर एक-दूसरे के भाषा रूपों को ग्रहण करती हैं। विभिन्न भाषा भाषी जन-समुदायों का, सांस्कृतिक दृष्टि से, एक दूसरे के क्षेत्रों में सतत आवागमन होता रहता है, तब इसप्रकार का भाषिक आदान होता है। यह आवागमन भिन्न-भिन्न भाषाक्षेत्रों के मध्य स्थित सांस्कृतिक धार्मिक केन्द्रों में होता रहता है। भारत में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक अनेक प्रसिद्ध सांस्कृतिक-धार्मिक स्थल हैं। इन सांस्कृतिक केन्द्रों से अनेक भाषा रूप विभिन्न भाषाओं में ग्रहीत हुए हैं। दक्षिण की भाषाओं में संस्कृत के हजारों शब्द हैं तो संस्कृत में भी द्रविड़ भाषाओं के सैकड़ो शब्दों का समावेश हुआ है। उत्तर की आर्य भाषाओं में भी दक्षिण भारतीय भाषाओं के अनेक शब्द प्रचलित हैं। यह सांस्कृतिक आदान का ही परिणाम है। योरप की विभिन्न भाषाओं में 'क्रिश्चियन' धर्म से संबद्ध विशिष्ट शब्दावली समानरूप से सभी भाषाओं में प्रवेश कर गयी है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हिन्दू संस्कृति एवं धर्म से सम्बन्धित शब्दावली समानरूप से मिलती है। हजारों वर्षों पूर्व भारत के बाहर लंका, तिब्बत, श्याम, थाई, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान आदि देशों में बौद्धधर्म के प्रसार के साथ-साथ तत्सम्बन्धी एक विशिष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्दावली वहाँ की भाषाओं में आज भी प्राप्त होती है। इन भाषाओं में सांस्कृतिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप संस्कृत के अनेक शब्द आज भी प्रचलित हैं। आज की स्यामी भाषा में 'टेलीफोन' के लिए 'थोरोसप' < दूर-शब्द, 'एरोप्लेन' के लिए आगातछान < आकाशयान, सिदांग < शतांश, आरात्र पथेत < आरण्य प्रदेश जैस शब्द व्यवहृत होते हैं।

सुमात्रा-जावा में सैकड़ों स्थानों के नाम संस्कृत के हैं, यथा : 'सूरकर्त < सूर्यकृत योग्यकर्त < अयोध्याकृत, ब्रोमो < ब्रह्मा, स्येरु < सुमरु, दिर्जसूव्रत < धैर्यसुव्रत, सुकार्नो < सुकर्ण आदि। चीनी भाषा में संस्कृत के शब्द गृहीत तो हुए हैं, किन्तु उनके अनुवाद चीनी भाषा में प्रचलित हो सके; जैसे धृतराष्ट्र दी-क्वो (= राजको पकड़ने वाला), रवीन्द्र = चेन-तान (= इन्द्र और सूर्य), धर्मसिंह = फा-शिह, (धर्म का सिंह) आदि शब्द सांस्कृतिक आदान की संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करते हैं।

घनिष्ठ आदान—इसके अन्तर्गत आदान एकतरफा होता है। राजनैतिक दृष्टि से जब कोई भाषा अत्यधिक प्रधानता पा जाती है, अथवा शासक-वर्ग अपनी भाषा के प्रचार-प्रसार में विविध प्रकार के आकर्षण प्रस्तुत करता है, तब इस प्रकार का भाषिक आदान होता है। प्राचीन भारत में संस्कृत का, मध्यकालीन भारत में अरबी-फारसी का तथा स्वतन्त्रता के पूर्व अंग्रेजी का प्रसार इसीरूप में हुआ है। घनिष्ठ आदान वहीं होता है जहाँ एकाधिक भाषाएँ भौगोलिक तथा राजनैतिक सम्बन्धों से एक ही क्षेत्र में बोली जाती हों तथा उनमें एक शासक की और शेष शासित वर्ग की भाषाएँ हों। इस आदान के अन्तर्गत किसी भाषा का दूसरे पर प्रभाव पड़ते-पड़ते ऐसी स्थिति आ जाती है कि प्रभावित या आदाता भाषा अपनी प्रकृति बहुत कुछ खो बैठती है। मारीशस की क्रिओली इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यहाँ अठारहवी शताब्दी में दक्षिणी अफ्रीका से लाए गए हब्शी आज अपनी भाषा पूर्णतया भूल चुके हैं तथा उसके स्थान में 'भ्रष्ट फ्रेंच' का उपयोग करते हैं जो आज 'क्रिओली' नाम से जानी जाती है। कभी-कभी निरन्तर आक्रमणों से आक्रान्त देश की भाषा में गृहीत रूप अत्यधिक मात्रा में प्रवेश पा लेते हैं। आज की अल्बानीज भाषा में कुछ सौ शब्द ही अपने हैं, शेष लैटिन, ग्रीक, स्लाविक तुर्की आदि भाषाओं के हैं।

आगत भाषिक रूपों के प्रकार
(Loan Words)

१. **आगत शब्द**—किसी भाषा में उसकी निकटवर्ती या दूरवर्ती भाषाओं से जिन भाषिक रूपों का अधिक आदान होता है, उनमें युक्त शब्दों की संख्या सर्वाधिक होती है। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वतन्त्र ध्वनि-व्यवस्था होती है। परिणामस्वरूप इन आगत शब्दों की अपनी मूल ध्वनि-व्यवस्था स्थिर नहीं रह पाती। ये शब्द आदाता भाषा की ध्वनि-व्यवस्था के अनुकूल उच्चरित होते हैं। अंग्रेजी से हिन्दी में गृहीत : लैण्टर्न; लांगक्लाथ, रिपोर्ट, कैप्टन, अलमिरा, बॉटल, आर्डरली आदि शब्दों का उच्चारण क्रमशः लालटेन, लंकलाठ, रपट, कप्तान, अलमारी, बोतल, अर्दली रूपों में होता है। मारीशस की भोजपुरी में फ्रेंच भाषा के—शेमे > सिमां (रास्ता), शेमीज > सिमिज (कमीज), मुशवार > मुसुवार (रूमाल) उच्चरित होते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि आगत शब्दों का आंशिक ध्वनि-परिवर्तन होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त कभी पय आगत शब्द अपना व्याकरणिक मूल्य भी खो बैठते हैं। अंग्रेजी का 'आइंली' हि में संज्ञारूप हो गया जो मूलतः विशेषण है।

२. आगत अर्थ-परिवृत्ति (Loan Shift)—एक भाषा जब दूसरी संस्कृ वाली भाषा से सम्पर्कित होती है; तब उनमें आपस में सांस्कृतिक आदान होता है। आदान की तहत गृहीत शब्द प्रायः अपनी मूल अर्थ-परिधि से बाहर होकर आदाता भाषा में प्रचलित होते हैं। वस्तुतः किसी भाषा से आए हुए शब्द जब अर्थ-परिवर्तन विभिन्न छायाओं के साथ गृहीत होते हैं तो 'वे आगत अर्थ-परिवृत्ति' की सीमा में हैं। पुर्तगाली शब्द 'लिव्रेरिया' (Livraria) घर में संगृहीत पुस्तक-भण्डार के प्रयुक्त होता है, किन्तु आप्रवासी उसे सार्वजनिक पुस्तकालय के अर्थ में प्रयोग करते फारसी से गृहीत शब्द 'मर्द' उत्तरी भारत में स्त्रियाँ 'पति' के अर्थ में प्रयोग करती जबकि सामान्य अर्थ में आदमी शब्द प्रचलित है। मारीशस में आप्रवासी भारतीयों मालाबार (मेहनती) कहा जाता है। उत्तर भारत के हिन्दी भाषाभाषी क्षे 'किरिस्तान' शब्द 'भ्रष्ट' (छुआछूत को न मानने वाला) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आगत मिश्र शब्द (Loan Blend)—आदाता भाषा में जब कोई शब्द प्रत्ययों या अन्य आबद्ध रूपों के साथ स्वीकृत न होकर मात्र मूलांश के मुक्त रूप में होता है तथा उसमें आदाता भाषा के ही प्रत्ययादि आबद्ध रूप जुड़ते हैं, उस दशा आगत मिश्र शब्द होते हैं। पुर्तगाली में अंग्रेजी शब्द Border का Bord अंश ही हुआ तथा उसमें पुर्तगाली का अपना 'O' प्रत्यय लगाकर Bordo रूप में प्रयुक्त है; इसप्रकार अंग्रेजी के रजिस्टर, थीसिस, फारसी के 'औरत', 'मर्द' आदि शब्द पुरी में क्रमशः रजिस्टरवा, थिसिसिया, औउरतिया, मर्दवा बन जाते हैं।

औच्चारणिक आदान—औच्चारणिक आदान में सम्मानगत प्रेरणा पृष्ठ का कार्य करती है। शासक वर्ग या सम्मानित जन-समुदाय की भाषा से गृहीत शब्द उच्चारण में आदाता अत्यधिक सावधानी बरतता है। कभी-कभी इसप्रकार की धानी से प्राप्त उच्चारण आदाता भाषा में तो लम्बे समय तक अक्षुण्ण रहता है, भाषा-विकास की प्रक्रिया में दाता भाषा में ही वह उच्चारण विलुप्त हो जाता है। हरण के लिए संस्कृत में द्रविड़ भाषाओं से गृहीत शब्दों की 'ट' वर्गीय ध्वनि उच्चारण एक लम्बे समय तक आदर्श रूप में होता रहा, जबकि द्रविड़ भाषाओं टवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण-स्थान बदल गया। इसीप्रकार संस्कृत की 'र' ध्वनि लम्बे समय तक द्रविड़ भाषाओं में मूलरूप में उच्चारित होती रही, किन्तु संस्कृत ध्वनि का उच्चारण स्थान बदल गया; वस्तुतः औच्चारणिक आदान प्रारम्भ में या सुविधा-सम्पन्न समुदाय के मध्य फैशन के रूप में प्रचलित होता है जो एक अवधि बाद उच्चारण-विस्तार पा लेता है। इसप्रकार का आदान एकाधिक भाषा प्रयोक्ताओं के मध्य भी होता है। सांस्कृतिक एवं धार्मिक केन्द्रों के नियमित दुका दारों में यह बात सरलता से परिलक्षित होती है। रामेश्वरम्, पुरी आदि स्थान शंखादि बेचने वाले दूकानदार हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली, तमिल आदि भाषा के भाषारूपों का उच्चारण बड़े सतर्क होकर करते हैं। मारीशस के नवशिक्षित भोज भाषा-भाषी फ्रेंच की 'र', 'ज' ध्वनियों का उच्चारण मूलरूप में बड़े यत्न करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५

अंतस् तथा बहिस्तलीय संरचना का आधार

जगदेव सिंह

[“अंतत् तथा बहिस्तलीय संरचना का आधार शीर्षक लेख में डा० सिंह ने ‘हिन्दी के वाक्य-साँचों’ की संरचना पर प्रकाश डाला है। इस संदर्भ में उनका अभिमत यह है—‘अंतस्तलीय संरचना मौलिक है और इसी से बहिस्तलीय रचना की उपलब्धि होती है। बहिस्तलीय रचना के अर्थ को समझने के लिए अंतस्तलीय संरचना का ज्ञान आवश्यक है’।]—सं०

भाषा के अध्ययन और विश्लेषण के संभवतः दो लक्ष्य स्पष्टरूप से निर्धारित किए जा सकते हैं—एक, किसी भाषा-विशेष की संरचना का विवरण प्रस्तुत करना तथा दूसरा, विश्व की विविध भाषाओं के अध्ययन के फलस्वरूप उन सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिस्थापन जो भाषा की प्रवृत्ति, स्वरूप तथा संरचना से सम्बन्ध रखते हैं। ये दोनों उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं। एक की सार्थकता दूसरे के बिना नहीं है। भाषा-विशेष के विवरण का औचित्य सामान्य सिद्धान्तों के संदर्भ में है और सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना, पुष्टि तथा निराकरण भाषाओं के विवरण पर आश्रित है।

१.० भाषा के अध्ययन के लिए प्रायः हम वाक्य को ही सबसे बड़ी इकाई मानकर चलते हैं। इसका विश्लेषण वाक्यांश, पद, प्रकृति, प्रत्यय, स्वनिम, स्वन तथा ध्वनिगुणों आदि में करते हैं। परन्तु सच बात तो यह है कि वाक्य को पूरी तरह समझने के लिए हमें उसे उस व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक तथा भाषायी परिप्रे य में देखना होगा जिसमें उसका व्यवहार हो रहा है। अतः नित्यप्रति के व्यवहार में आने वाली भाषा की इकाई वाक्य से बड़ी है। इसे हम कथन कह सकते हैं। इसमें एक या अधिक वक्ता-श्रोता भाग ले सकते हैं। यह एक या अनेक वाक्यों का संघटन है। इन वाक्यों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सम्बन्ध पाया जाता है। इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर कथन में वाक्यों का अनुक्रम, पारंपर्य आदि निश्चित किया जाता है। और इसीलिए किसी वाक्य की संरचना तथा अर्थ का उसके आगे-पीछे आनेवाले वाक्यों से प्रभावित हो सकना संभव है। एक उदाहरण लीजिए—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ए ! क्या कर रहा है ?

कुछ भी नहीं।

कुछ भी नहीं के बच्चे ! उतर नीचे। अभी ठीक किए देता हूँ।

नहीं, नहीं। फिर नहीं आऊँगा। आज छोड़ दीजिए।

यह एक संक्षिप्त कथन का नमूना है। इसको समझने के लिए इसके संदर्भ को को जानना आवश्यक है। इसमें दो वक्ता-श्रोता भाग ले रहे हैं। एक संभवतः छोटी आयु का और दूसरा प्रौढ़। छोटी आयु वाला प्रौढ़ के प्रांगण में स्थित किसी फलदार वृक्ष से फल चुराने के लिए वृक्ष पर चढ़ा हुआ है। प्रौढ़ ने उसे देख लिया है। इस परिस्थिति का ज्ञान होने पर ही इस कथन का अर्थ स्पष्ट हो सकता है। पहले वाक्य में प्रयुक्त 'ए' इस बात का द्योतक है कि वक्ता जिसे सम्बोधित कर रहा है, उसे हीन, छोटा तथा अपराधी समझ रहा है। यह भाषिक तत्त्व सम्मानहीनता का सूचक है। इसमें 'क्या कर रहा है' का कर्त्ता, तू, जो लुप्त है, वह भी इसी सामाजिक तथ्य की ओर संकेत करता है। यह सब कुछ जान लेने पर वक्ता का सम्बोधित व्यक्ति के प्रति जो रुख है, वह स्पष्ट हो जाता है। 'कुछ भी नहीं' वाक्य-गठन की दृष्टि से अधूरा जँचता है। इसकी पूर्ति के लिए इससे पूर्व आनेवाले वाक्य से उन अंशों का अध्याहार करना होगा जो इसमें लुप्त हैं। कुछ अंश संदर्भ से स्पष्ट होंगे। ऐसा करने पर वाक्य का स्वरूप होगा—(मैं) कुछ भी नहीं (कर रहा हूँ)। अब इसका रूपात्मक गठन संपूर्ण है तथा अर्थ भी स्पष्ट। इसी तरह 'कुछ नहीं के बच्चे' एक अर्थहीन, अस्पष्ट पद-शृंखला लगेगी, यदि हमें इसके संदर्भ का ज्ञान नहीं है। संदर्भ से ही इसका अर्थ स्पष्ट होगा।

१.१ यद्यपि ऊपर हमने यही स्थापना उपस्थित की है कि भाषा की इकाई वाक्य नहीं, कथन है तथापि भाषा के विश्लेषण के लिए हम वाक्य को ही इकाई मानकर चलते हैं। वाक्य की संरचना क्या है—इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि एक दृष्टि से वाक्य अंततोगत्वा उच्चारण-अवयवों की विभिन्न चेष्टाओं (व्यापार) से उत्पन्न ध्वनियों की शृङ्खलामात्र है। बोलने की क्रिया चूँकि कालाधीन है, इसलिए इन ध्वनियों में पौर्वापर्य का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इन ध्वनियों के अनुक्रम पर कोई रोकटोक नहीं है, कोई ध्वनि किसी ध्वनि के आगे-पीछे आ सकती है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। इनके क्रम में एक व्यवस्था पाई जाती है जिसे नियमों में बद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये ध्वनियाँ छोटे-बड़े ऐसे समूहों में बँटी हुई मिलती हैं जिनके या तो अलग-अलग अर्थ पाए जाते हैं या वाक्य की संरचना में उनका कोई प्रकार्य होता है। इन (सार्थक तथा प्रकार्ययुक्त) समूहों में परस्पर सम्बन्ध पाए जाते हैं जिनके आधार पर ये बृहत् वर्गों में राशीकृत होते हुए वाक्य में परिणत हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर (१) 'घोड़ा तेज दौड़ता है' वाक्य में/घ, ओ, ड़, आ, त; ए, ज, द, औ, ड़, त, आ,ह, ऐ/ध्वनियाँ प्रयुक्त हुई हैं। ये/घोड़, आ, तेज, दौड़, त, आ, ह, ऐ/सार्थक समूहों में बँटी हुई हैं। आगे चलकर इनके/घोड़ा, तेज, दौड़ता है / ये चार बड़े समूह बन गए। ये फिर 'घोड़ा' और 'तेज दौड़ता है' दो बृहत्तर वर्गों में बँट गए जिनसे इस वाक्य की रचना हुई है। वाक्य के इन दो अंशों को पुराने वैयाकरणों ने उद्देश्य और विधेय के नाम से पुकारा है। आज का भाषाविद् इन्हें पद विभाग के अनुकरण पर संज्ञा-वाक्यांश तथा क्रिया-वाक्यांश से नामांकित करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। खैर, कुछ भी हो, वाक्य की संरचना के दो छोर स्पष्ट हैं—एक सिरे पर यह ध्वनियों की माला-सी लगती है, तो दूसरे सिरे पर सुव्यवस्थित तथा सुगठित समर्थ घटकों की रचना।

२.० हिन्दी में वाक्य की मूलभूत संरचना क्या है तथा वाक्य कितने प्रकार के हैं? हम इस बात का विवेचन यहाँ नहीं करना चाहते। वाक्य की संरचना कुछ भी हो, हम यह मानकर चल रहे हैं कि उसकी संरचना के दो रूप हैं जिन्हें क्रमशः अंतस्तलीय और वहिस्तलीय संरचना कहा गया है। यह भी माना गया है कि अंतस्तलीय रचना मौलिक है। इसीसे बहिस्तलीय रचना की उपलब्धि होती है। वहिस्तलीय रचना के अर्थ को समझने के लिए अंतस्तलीय संरचना का ज्ञान आवश्यक है। ऊपर हमने 'घोड़ा तेज दौड़ता है' वाक्य की वहिस्तलीय रचना का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वस्तुतः वाक्य का जो उच्चरित रूप है, वह उसकी बहिस्तलीय संरचना से ही संबंध रखता है। यह सही है कि कुछ वाक्यों की अंतस्तलीय तथा वहिस्तलीय संरचनाओं में भेद नाममात्र का ही होता है, पर ऐसे वाक्य भी भाषा मे अनेक हैं जहाँ यह भेद पर्याप्त है। इन दोनों संरचनाओं के भेद को हम एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे—

(१) 'घोड़ा तेज दौड़ता है'—इस वाक्य की संरचना है, संज्ञा-वाक्यांश + क्रिया-वाक्यांश। 'घोड़ा' संज्ञा वाक्यांश है और 'तेज दौड़ता है' क्रिया-वाक्यांश। क्रिया वाक्यांश का विश्लेषण क्रियाविशेषण तथा क्रियापद में किया जा सकता है। 'तेज' क्रिया-विशेषण है और 'दौड़ता है' क्रियापद। यह इसकी वहिस्तलीय संरचना है और यही अंतस्तलीय। इन दोनों में कोई भेद नहीं। (इस लेख में हम वाक्यो के मूर्तरूपों का ही उल्लेख करेंगे, न कि अमूर्त का।) अव निम्न वाक्य को लीजिए—

(२) 'हमारी काली विल्ली कुत्ते से डरकर छत पर चढ़ गई'।

इस वाक्य की वहिस्तलीय संरचना पहले वाक्य के समान ही है। 'हमारी काली विल्ली' एक संज्ञा-वाक्यांश है और 'कुत्ते से डरकर छत पर चढ़ गई' क्रिया-वाक्यांश। क्रिया-वाक्यांश में 'कुत्ते से डरकर' तथा 'छत पर' क्रियाविशेषण हैं और शेष क्रियापद। प्रत्येक वाक्यांश का अलग से विश्लेषण हो सकता है; यथा—'हमारी काली विल्ली' संज्ञा-वाक्यांश में 'विल्ली' संज्ञा है और 'हमारी' तथा 'काली' विशेषण। इन संज्ञा तथा विशेषण पदों का भी विश्लेषण इनके रूपिमों में किया जा सकता है। 'काली' में जैसे दो रूपिम माने जा सकते हैं—'काल्' और 'ई'।

२.१ ऊपर दिये गये वाक्यों की वहिस्तलीय संरचना, जैसा कि पहले कहा गया है, समान है, पर उनकी अंतस्तलीय रचना भिन्न है। इन दोनो वाक्यों में वर्णित घटना के बारे में अनेक प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनका उत्तर भी इन्हीं वाक्यों में निहित है। उत्तर का क्या स्वरूप है, इससे इनकी अंतस्तलीय संरचना पर प्रकाश पड़ता है।

पहले वाक्य के बारे में हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं। इनके उत्तर भी दायीं ओर दिए गए हैं :

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३)—(क) तेज कौन दौड़ता है ? घोड़ा तेज दौड़ता है।
(ख) घोड़ा कैसे दौड़ता है ? घोड़ा तेज दौड़ता है।
(ग) घोड़ा क्या करता है ? घोड़ा तेज दौड़ता है।

प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में जो वाक्य प्रयुक्त हुआ है, उसका वही रूप है जो मूल वाक्य का। दूसरे शब्दों में मूल वाक्य के घटकों में बिना हेर-फेर किए ही हमें समूची सूचना मिल जाती हैं। न हमें किसी अंश का अध्याहार करना पड़ता है, न लोप।

अब दूसरे वाक्य के बारे में पूछे जाने वाले प्रश्न-उत्तरों को देखिए :

(४)—(क) 'बिल्ली' किसकी थी ? 'बिल्ली' हमारी थी।
(ख) 'बिल्ली' कैसी थी ? 'बिल्ली' काली थी।
(ग) 'बिल्ली' किससे डर गई ? 'बिल्ली' कुत्ते से डर गई।
(घ) कुत्ते से कौन डर गया ? 'बिल्ली' कुत्तेसे डर गई।
(ङ) 'बिल्ली' कहाँ चढ़ गई ? 'बिल्ली' छत पर चढ़ गई।
(च) छत पर कौन चढ़ गया ? 'बिल्ली' छत पर चढ़ गई।

इन विभिन्न प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें सूचना ग्रहण करने के लिए वाक्य के बाहर नहीं जाना पड़ता। सारी सूचना वाक्य में निहित है। परन्तु प्रश्नों के जो उत्तर (४) के अन्तर्गत दायीं ओर दिए गए हैं, वे ज्यों के त्यों वाक्य में नहीं मिलते। 'बिल्ली हमारी थी' के स्थान पर केवल 'हमारी' मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वाक्य के अन्दर (४ क) का प्रतिनिधित्व केवल 'हमारी' पद से हो रहा है। इसी तरह पूरे वाक्य हेर-फेर के साथ, अपने बदले हुए रूप में; वाक्य के अन्दर समाविष्ट हैं। पूरे वाक्य और प्रतिनिधित्व करने वाले अंश में जो संरचनात्मक और आर्थी सम्बन्ध है, आवश्यकता पड़ने पर, उसे स्पष्ट किया जा सकता है। वाक्यों में यह परिवर्तन मनमाना नहीं है। इसमें भी एक व्यवस्था है जिसे सुस्पष्ट नियमों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यहाँ हम उन नियमों की चर्चा नहीं करेंगे। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वाक्य (३) की संरचना से यद्यपि (४) के अन्तर्गत उत्तर में प्राप्त वाक्य ज्यों के त्यों नहीं मिलते, पर उनके इन रूपों का विधिपूर्वक उद्धार किया जा सकता है। एक से दूसरे तक पहुँचा जा सकता है, एक से दूसरे का पता लगाया जा सकता है। (बिल्ली) कुत्ते से डर कर वाक्यांश 'बिल्ली कुत्ते से डर गई' का ही परिवर्तित रूप है। इसप्रकार के प्रयोग हिन्दी के अनेक वाक्यों में मिलते हैं। 'मैं आपसे पूछकर जाऊँगा' 'में (मैं) आपसे पूछकर' वस्तुतः 'मैं आपसे पूछूँगा' वाक्य का परिवर्तित रूप है। हम कह सकते हैं कि (३) की संरचना नीचे दिए वाक्यों पर आधारित है :

(५)—(क) बिल्ली काली है।
(ख) बिल्ली हमारी है।
(ग) बिल्ली कुत्ते से डर गई।
(घ) बिल्ली छत पर चढ़ गई।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ये वाक्य इसकी अंतस्तलीय रचना के स्तम्भ हैं। इन वाक्यों में जो परस्पर
ाषायी तथा अभाषायी) सम्बन्ध पाए जाते हैं, उनके आधार पर इनका परिवर्तित रूप
लब्ध होता है। इसकी थोड़ी चर्चा करनी युक्तिसंगत होगी । इन चारों वाक्यों में
क ही बिल्ली की बात हो रही है। अतः ये वाक्य विषय की दृष्टि से एक ही सूत्र में
फित हैं। इनमें (५ ब) मुख्य है, शेष वाक्यों का सम्बन्ध मुख्य वाक्य के किसी न
सी भाषिक अंश के साथ है। इस नाते से इन वाक्यों को मुख्य वाक्य में उचित स्थान
र समाविष्ट किया जा सकता है, परन्तु ज्यों का त्यों नहीं, कुछ हेर-फेर के साथ ही।
परिवर्तन निश्चित व्यवस्था के अंग हैं। जब हम (५ क) को मुख्य वाक्य में समाविष्ट
रना चाहें तो उस समय उसका रूप केवल 'काली' पद में संक्षिप्त होकर रह जाएगा।
बिल्ली' शब्द मुख्य वाक्य में भी आता है, अतः उसकी आवृत्ति आवश्यक नहीं। क्रिया-
द 'है' के लोप से कोई सूचना नष्ट नहीं होती। इसका स्वतः ज्ञान हो जाता है। इसी
रह (५ ख) 'हमारी' और (५ ग) 'कुत्ते से डरकर' रूप में परिवर्तित होकर मुख्य
ाक्य में यथास्थान प्राप्त होते हैं।

३.० वाक्यों की संरचना के दो पहलू, अंतस् तथा बहिस्तलीय मानना तो युक्ति-
ुक्त है। वाक्य (२) के विश्लेषण से इसकी यथेष्ट पुष्टि भी हो गई है। अब विचार-
ीय प्रश्न यह है कि यदि कोई वाक्य दिया हुआ है तो उसकी अंतस्तलीय संरचना का
ता कैसे चलाया जाय; जिन वाक्यों में उसका विश्लेषण किया जाएगा, वह किस
ाधार पर होगा तथा उन वाक्यों में ऐसे कौन से तत्त्व होते हैं जो उसे बहिस्तलीय स्तर
र अभिव्यक्त होने वाले वाक्य के साथ बाँधते हैं? दूसरे शब्दों में क्या कोई भी वाक्य
(एक या अधिक) एक तीसरे वाक्य की बहिस्तलीय संरचना के आधार पर बन सकते
? यदि नहीं, तो क्यों? और यदि हाँ, तो किन अवस्थाओं में? नीचे दिए वाक्यों को
ीजिए :

(६) 'हमारा खेत नदी के पार है'।

(७) 'खाँड कुछ सस्ती हो गई है'।

क्या इन दोनों वाक्यों को किसी एक वाक्य की बहिस्तलीय संरचना का आधार
ाया जा सकता है? संभवतः कभी नहीं। क्यों? इन दोनों वाक्यों में किसी प्रकार के
म्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा कोई सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ
हीं जहाँ इन दोनों का प्रयोग किसी एक ही कथन में आगे-पीछे किया जा सके; और
ही इनमें कोई ऐसे भाषायी तत्त्व हैं जो दोनों में पाए जाते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसे दो
ा अधिक वाक्य जिनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध नहीं हैं और जो किसी कथन में साथ-
ाथ प्रयुक्त नहीं हो सकते, किसी जटिल संरचना का आधार नहीं बन पाएँगे। तो वे
ौन से तत्त्व हैं जिनकी उपस्थिति दो या अधिक वाक्यों को इस योग्य बना देती है कि
एक जटिल वाक्य की रचना में भाग ले सकते हैं? हम इस प्रश्न का समाधान करने
ी चेष्टा नहीं करेंगे। हमारा प्रयास केवल समस्या की गम्भीरता और जटिलता की
ोर ध्यान आकर्षित करने तक ही सीमित होगा। हमारे देखने में यह प्रश्न इतना सरल
हीं। रचनांतरण साहित्य में इस पर चर्चा अवश्य है, पर इस रूप में नहीं जिसरूप में हम
स प्रश्न को देख रहे हैं। हिन्दी से कुछ उदाहरण देखकर हम विषय को स्पष्ट करना
ाहेंगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३.१ वाक्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध मोटे तौर पर दो प्रकार के हैं—एक, जो भाषिक तत्त्वों पर आश्रित हैं; दूसरे, वे जो भाषा के अन्तर्गत न आकर भाषा के तत्त्वों से निर्दिष्ट बाह्य जगत् या वक्ता के अन्तर्गत के पदार्थों व भावों पर टिके हुए हैं। जटिल वाक्य की रचना में काम आने वाले सम्बन्ध शुद्ध भाषायी हो सकते हैं, या नितांत अभाषायी या दोनों ही प्रकार के।

निम्न वाक्य को लीजिए—

(८) मैंने देखा (कि) छत पर एक बंदर बैठा है।

यह एक जटिल वाक्य है। इसे हम निम्न वाक्यों से व्युत्पन्न मान सकते हैं:

(९) मैंने देखा

(१०) छत पर एक बंदर बैठा है।

(९) और (१०) में आपाततः कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता। इनमें ऐसे कोई भाषायी तत्त्व भी नहीं हैं जो दोनों में समानरूप से पाए जाते हों। पर थोड़ा विचार करने से पता चलेगा कि (९) अपूर्ण है। 'देख' सकर्मक धातु है। जिस वाक्य में इसप्रकार की धातुप्रयुक्त होती है, उनमें क्रिया वाक्यांश में क्रिया के अतिरिक्त एक और संज्ञा का होना आवश्यक है। यहाँ पर ऐसी कोई संज्ञा प्रयुक्त नहीं हुई है। उसी संज्ञा के स्थान पर यदि (१०) का प्रयोग करें तो (८) की उपलब्धि होगी : (१०) का (९) के साथ विशुद्ध व्याकरणिक सम्बन्ध है। (१०) 'देख' धातु का कर्म है। इसके स्थान पर कोई संज्ञा या संज्ञा का स्थानापन्न वाक्य आ सकता है। अतः इन दोनों वाक्यों में जो व्याकरणिक (भाषायी) सम्बन्ध 'देख' के कारण स्थापित होता है, वही इन्हें एक जटिल वाक्य की रचना में भाग लेने में समर्थ बनाता है। (९) की संरचना में कर्म के स्थान की पूर्ति करना ही इस सम्बन्ध का आधार है।

(१०) के रूप का परिवर्तन भी हो सकता है। यह वैकल्पिक है। वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। परिवर्तन की अवस्था में (१०) का रूप होगा—छत पर बैठा हुआ एक बंदर। यह परिवर्तित रूप चूँकि संज्ञा-वाक्यांश है, वाक्य नहीं, इसलिए कर्म के रूप में देखा से पूर्व आएगा। उस अवस्था में वाक्य का रूप होगा :

(११) मैंने छत पर बैठे हुए एक बंदर को देखा। इसी तरह

(१२) मैं चाहता हूँ (कि) आप हमारे पास ठहरें।

के घटक

(१३) मैं चाहता हूँ

(१४) आप हमारे पास ठहरें।

हैं। (१४) चाह का कर्म है। पूरा वाक्य होने के कारण क्रिया से पूर्व न आकर क्रिया वाक्यांश के पीछे कि (जिसका विकल्प से लोप हो सकता है) द्वारा संयोजित है। परन्तु

(१५) मैं चाहता हूँ

(१६) मैं आपको एक घटना सुनाऊँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से दो जटिल वाक्य व्युत्पन्न हो सकते हैं। इनका संरचनात्मक ढाँचा (१२) से कुछ भिन्न है। चूँकि इन दोनों वाक्यों में कर्त्ता एक ही है, इसलिए जटिल वाक्य में उसकी आवृत्ति न होकर केवल मुख्य वाक्य में ही उसका प्रयोग होगा। (१६) पहले की भाँति चाह का कर्म है। वाक्य होने से 'कि' संयोजक द्वारा क्रिया के वाद अंत में जोड़ा जा सकता है। इस हेर-फेर के वाद इसका स्वरूप निम्न होगा :

(१७) मै चाहता हूँ (कि) आपको एक घटना सुनाऊँ। (१६) को संज्ञा में भी परिवर्तित किया जा सकता है। संज्ञा वनाने के लिए धातु के आगे 'ना' प्रत्यय लगाया जाता है और संज्ञा वनने के उपरांत कर्त्ता में सम्वन्ध कारक का प्रयोग होगा। अतः (१६) का संज्ञा रूप वनेगा——मेरा आपको एक घटना सुनाना। यह संज्ञा 'चाह' का कर्म है और इसका स्थान क्रियापद से पूर्व है। इस स्थान में रखने के उपरांत 'मेरा' का लोप हो जाएगा, चूँकि कर्त्ता भी प्रथम पुरुष ही है। अतः वाक्य का रूप होगा :

(१८) मैं आपको एक घटना सुनाना चाहता हूँ।

ऊपर जिन वाक्यों की व्याख्या की गई है, उनकी अन्तस्तलीय संरचना में प्रयुक्त वाक्यों में केवल (विशुद्ध) व्याकरणिक सम्वन्ध पाए जाते हैं। उन्हीं के आधार पर वहिस्तलीय स्तर पर एक जटिल वाक्यों की रचना संभव हो सकी है। इसप्रकार के और भी व्याकरणिक संवंध हो सकते हैं।

३.२ लगता है मुख्य वाक्य में विशेषण तथा क्रियाविशेषण के स्थान पर आने वाले वाक्य भी इसी कोटि के अन्तर्गत आ सकते हैं। (स्मरण रहे कि विशेषण या क्रिया-विशेषण का प्रयोग वाक्य में वैकल्पिक है)। एकाध वाक्य लेकर उसका सविस्तार विश्लेषण करना चाहेंगे। नीचे लिखा वाक्य लीजिए :

(१९) वे वालक जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं जो निरन्तर परिश्रम करते हैं।

इस जटिल वाक्य का विश्लेषण निम्न वाक्यों में हो सकता है :

(२०) (क) वालक जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं।

(ख) वालक निरन्तर परिश्रम करते हैं।

इन दोनों में एक ही वालक के विषय में कुछ कहा जा रहा है। दोनों में उद्देश्य का साम्य है। (२० क) को मुख्य वाक्य माना गया है और (२० ख) (२० क) में आने वाले वालक की विशेषता का प्रतिपादन करता है। इस नाते इन दोनों वाक्यों में एक व्याकरणिक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है। दोनों वाक्यों के एकीकरण के समय कुछ संचरचनात्मक परिवर्तन करने पड़ते हैं। उनके परिणामस्वरूप जटिल वाक्य का जो रूप सिद्ध होता है, वह (१९) में ऊपर दिया है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि (२० क) को मुख्य तथा (२० ख) को विशेषण वाक्य मानने का आधार क्या है? क्या (२० ख) को मुख्य तथा (२० क) को विशेषण नहीं माना जा सकता? यदि हम दूसरे विकल्प को स्वीकार कर लें तो जटिल वाक्य का रूप होगा :

(२१) वे वालक निरन्तर परिश्रम करते हैं जो जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसका अर्थ कुछ अटपटा-सा लगता है। क्यों? वस्तुतः (२० क, ख) में संज्ञा-विशेषण के अतिरिक्त एक और सम्बन्ध भी है। वह है "कार्य-कारण" का। "परिश्रम" के कारण ही "सफलता" प्राप्त होती है। लगता है "कारण" युक्त वाक्य ही विशेषण बनने में समर्थ है। (२० क) को यदि कारण माना जाए तो यह बड़ा अस्वाभाविक लगता है। इसीलिए (२१) का अर्थ अटपटा-सा लगता है? अतः कौन वाक्य विशेषण का स्थान ग्रहण कर सकता है, इस बात का निर्धारण निरे भाषिक तत्त्वों के आधार पर नहीं किया जा सकता। अन्य निमित्तों को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

यह बात नहीं कि (२० क) विशेषण के स्थान में आ ही नहीं सकता। निम्न वाक्य को देखिए :

(२२) वे बालक धन्य हैं जो जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं।

यहाँ हम पूछ सकते हैं—कौन से बालक धन्य हैं? यहाँ 'धन्य' होना 'सफलता' का परिणाम है। इनमें भी वही कार्य-कारण का सम्बन्ध है।

अब कुछ अन्य वाक्यों को लीजिए जिनमें कोई वाक्य क्रियाविशेषण के स्थान पर आ रहा है :

(२३) (क) उसके पैर पर चोट लगी है, इसलिए वह लँगड़ाता है।

(ख) पैर पर चोट लगने के कारण वह लँगड़ाता है।

(२३) की अतस्तलीय रचना का आधार निम्न वाक्य माने जा सकते हैं :—

(२४) (क) वह लँगड़ाता है।

(ख) उसके पैर पर चोट लगी है।

इन वाक्यों में भाषिक तत्त्वों की समानता ना के बराबर है। (ख) में सम्बन्ध-सूचक सर्वनाम उसके (क) में प्रयुक्त वह से निष्पन्न है। बस यही तत्त्व दोनों में समान है। इसके अतिरिक्त (ख) लँगड़ाना की विशेषता बताने के कारण क्रियाविशेषण माना जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, क्रियाविशेषण का प्रयोग किसी वाक्य में अनिवार्य नहीं होता। इसका प्रयोग वक्ता की इच्छा पर निर्भर है। (ख) में वे कौन से भाषिक तत्त्व हैं जो इसे क्रियाविशेषण बनाने में समर्थ हैं। यह वाक्य वह क्यों लँगड़ाता है? इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ है, अतः इसका सम्बन्ध (क) से माना जा सकता है और यह सम्बन्ध लँगड़ाने के कारण पर प्रकाश डालता है। फलतः इन वाक्यों में कार्य-कारण का संबंध स्थापित होता है। कार्य-कारण का सम्बन्ध भाषिक तत्त्वों पर निर्भर नहीं है, बल्कि भाषिक तत्त्वों से अभिव्यक्त होने वाले बाह्य जगत् के पदार्थों से इसका वास्ता है। दो वाक्यों में क्या सम्बन्ध है—इसका निर्णय करने के लिए कभी-कभी हमें भाषा के क्षेत्र को छोड़कर बाह्य जगत् की शरण लेनी पड़ती है। बाह्य जगत् की घटनाएँ और उनके सम्बन्ध भाषा में अभिव्यक्ति पाते हैं—यह कोई नई बात नहीं है। परन्तु भाषा में अभिव्यक्ति पाकर ही वे परिसमाप्त नहीं हो जाते। कभी-कभी बाह्य जगत् की घटनाओं तथा उनके सम्बन्धों का प्रभाव वाक्यों की संरचना पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़ता है। (२४ क, ख) से एक जटिल वाक्य बनाया जा सकेगा, वह ठीक इस बात निर्भर है कि पैर पर चोट लगने से व्यक्ति को लँगड़ाकर चलने की संभावना है। यह होने के बाद इस वाक्य का मुख्य वाक्य में स्थान कहाँ होगा, यह भाषा के व्याकरणिक वि पर निर्भर होगा। हिंदी में यदि (२४ ख) को एक वाक्यांश में परिवर्तित कर दिया गए तो उसका स्थान क्रियापद से पूर्व होगा, अन्यथा अलग से। (२३ क, ख) में सका निर्देश कर दिया गया है।

निम्न जटिल वाक्य को लीजिए :

(२५) मैं गरीब हूँ, पर बेईमान नहीं।

इसकी अंतस्तलीय रचना का आधार नीचे दिए हुए वाक्य हैं।

(२६) (क) मै गरीब हूँ।
(ख) मैं बेईमान हूँ।

पूछा जा सकता है कि इन वाक्यों को किस आधार पर एक जटिल वाक्य में फित किया गया है। भाषिक समानता इनमें बहुत थोड़ा है। दोनों में उद्देश्य एक है। पर यह इनके एकीकरण का आधार नहीं बन सकता। पहले वाक्य में विधेय रीब है और दूसरे में बेईमान। भाषिक दृष्टि से ये दो पद हैं। इनके अर्थ भिन्न-भिन्न । उनमें भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। पर हिंदी समाज की यह न्यता है कि जो गरीब है, वह बेईमान भी है। जो इस सामाजिक मान्यता को स्वी-कार करते हैं, उनकी दृष्टि में इन दोनों वाक्यों में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। जटिल वाक्य की रचना इसी सम्बन्ध के आधार पर की गई है। का इस सामाजिक मान्यता का घोर विरोध करता है। यह तथ्य जटिल वाक्यों में र' (संयोजक) और 'नहीं' भाषिक तत्त्वों के द्वारा व्यक्त हो रहा है।

(२६ क) के रूपान्तर भी उपलब्ध हैं। अतः जटिल वाक्य के कई रूप हो सकते । यथा—

(२७) (क) गरीब होने पर भी मैं बेईमान नहीं हूँ।
(ख) गरीब होने के बावजूद मैं बेईमान नहीं हूँ।
(ग) यद्यपि मैं गरीब हूँ, तथापि बेईमान नहीं हूँ।

ऊपर दिय गए विवरण से स्पष्ट है कि इन वाक्यों में व्याकणिक सम्बन्ध संज्ञा-विशेषण; क्रियाविशेषण) तभी सम्भव है जब इन वाक्यों द्वारा वर्णित तथ्यों या घटनाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध विद्यमान हो। दो या अधिक वाक्यों में संकेत, विरोध, तुलना, आदि अन्य कई प्रकार के सम्बन्ध पाए जा सकते हैं जिनके आधार पर जटिल वाक्यों की रचना संभव हो सकती है।

३.३ अब नीचे लिखे वाक्यों को लीजिए :

(२८) (क) माँ दूध उबाल रही है।
(ख) दूध उबल रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२८) (क) की वहिस्तलीय संरचना स्पष्ट है: संज्ञा वा० + क्रिया वा०। क्रिया वा० का विश्लेषण संज्ञा वा० + क्रियापद में किया जा सकता है। इसकी अंतस्तलीय संरचना भी समान ही है। (२८ ख) की वहिस्तलीय रचना संज्ञा वा० + क्रिया है। इसकी अंतस्तलीय रचना भिन्न है। उसका आधार (२८ क) है। यहाँ अंतस्तलीय रचना में केवल एक ही वाक्य है। यह वाक्य (२८ ख) की व्युत्पत्ति का आधार किस तरह वना? इसे समझने के लिए हमें (२८ क) की व्याख्या थोड़ी गहराई के साथ करनी होगी। (२८ क) में निष्पन्न होने वाला व्यापार अर्थात् दूध का उवलना, माँ द्वारा किया जा रहा है। यदि वक्ता यह प्रकट करना चाहे कि दूध उवालने का आयोजन इतना अच्छा है कि दूध को उवालने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता महसूस नहीं होती। ऐसी अवस्था में वक्ता की इस भावना को भाषिक अभिव्यक्ति देने के लिए कर्त्ता का लोप कर दिया जाता है और यह समझ लिया जाता है कि दूध अपने आप उवल रहा है। वास्तव में दूध उवालने के लिए तो सदा ही किसी न किसी व्यक्ति की आवश्यकता वनी रहती है। (२८ ख) वक्ता के मन की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा है। वाह्य जगत् की स्थिति से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। इसे ही "कार्य-सौकर्य" की भावना कहा जाता है। यह एक दृष्टि से कोरी काल्पनिक है। पर दूसरी दृष्टि से उस हद तक वास्तविक है जिस हद तक दूध उवालने के साधनों को जुटाने की वात है। दूध उवालने की सभी सहूलियतें प्राप्त हैं। ऐसी अवस्था में कर्त्ता की आवश्यकता का अनुभव न होना स्वाभाविक है। ठीक इसी भावना को व्यक्त करने के लिए (२८ क) के कर्त्ता का लोप तथा उसके स्थान पर कर्म का कर्त्ता वन वैठना और धातु के रूप में परिवर्तन, उवाल-उवल आदि व्याकरणिक परिवर्तन संभव हो सके हैं। अतः (२८ क) से (२८ ख) की व्युत्पत्ति तभी संभव है जव वक्ता 'कार्य-सौकर्य' की अपनी भावना को व्यक्त करना चाहता है। स्पष्ट है कि वक्ता की भावना, काल्पनिक होते हुए भी, वहिस्तलीय संरचना का आधार है।

३.४ जव हम कुछ उदाहरण ऐसे प्रस्तुत करना चाहते हैं जिनकी संरचना में भाषिक तथा अभाषिक दोनों ही प्रकार के तत्त्वों को ध्यान में रखना पड़ता है। नीचे दिए दो वाक्यों को लीजिए:

(२९) (क) राम केले खाता है।
(ख) राम अंगूर खाता है।

दोनों वाक्यों में उद्देश्य व क्रियापद समान हैं। क्रिया वर्तमान काल की द्योतक है। यह रही भाषायी तत्त्वों की समानता की वात। क्या ये भाषायी आधार इन्हें एक जटिल वाक्य में रूपान्तरित करने के लिए पर्याप्त हैं? नहीं। इसके लिए और भी सूचना की आवश्यकता है। खाने की क्रिया स्पष्ट ही कालवश है। काल की दृष्टि से राम से सम्पन्न हो रहे खाने के व्यापार को कई रूपों में देखा जा सकता है। तीन संभावनाएँ तो स्पष्ट ही हैं: (१) समकालता, (२) पौर्वापर्य तथा (३) समकालीनता व पौर्वापर्य की निरपेक्षता। इन तीनों अवस्थाओं में वाक्यों का संयोजन भिन्न प्रकार से होगा। जटिल वाक्यों में काल की ये अवस्थाएँ पूरी तरह परिलक्षित होंगी। ये वाक्य आगे दिए जाते हैं:

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३०) (क) राम केलों के साथ अंगूर खाता है।
राम अंगूर के साथ केले खाता है।
राम केले और अंगूर साथ-साथ खाता है।
(ख) राम केले खाकर अंगूर खाता है।
राम अंगूर खाकर केले खाता है।
(ग) राम केले और अंगूर खाता है।
दो और वाक्य लीजिए—
(३१) (क) राम घर जाता है।
(ख) देव घर जाता है।

इन वाक्यों में विधेय समान हैं। व्यापार वर्तमान काल में हो रहा है। पर इन पायी तत्त्वों के आधार पर हम इनसे जटिल वाक्य की रचना करने में असमर्थ हैं। इनसे जो जटिल वाक्य बनेंगे, वे वक्ता के अभिप्राय पर आश्रित होंगे। वक्ता को क्या कहना अभीष्ट है, यह जानना बहुत आवश्यक है। अनेक संभावनाएँ हैं। काल की दृष्टि संभव है उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। उसके अतिरिक्त एक अन्य विकल्प भी भव है। यद्यपि राम और देव दोनों ही जाने का व्यापार एक ही समय में कर रहे हैं तो भी वक्ता इनमें से एक को प्रधानता दे सकता है। दूसरे के व्यापार को गौण, म महत्त्व का, मान सकता है। वक्ता के अभिप्राय के अनुसार निम्न जटिल वाक्यों की चना संभव है :

(३२) (क) राम और देव घर जाते हैं (कालक्रम-निरपेक्ष है तथा दोनों ही प्रधान हैं)।
(ख) राम और देव साथ-साथ घर जाते हैं (व्यापार समकालीन है, दोनों प्रधान हैं)।
(ग) राम देव के पीछे-पीछे घर जाता है (पौर्वापर्य, राम प्रधान)।
देव राम के पीछे-पीछे घर जाता है (पौर्वापर्य, देव प्रधान)।
(घ) राम देव के साथ घर जाता है (समकालीन, राम प्रधान)।
देव राम के साथ घर जाता है (समकालीन, देव प्रधान)।

एक और उदाहरण देकर हम इस चर्चा को समाप्त करेंगे। नीचे दिये वाक्यों लीजिए :

(३३) (क) राम चतुर है।
(ख) देव चतुर है।

दोनों में विधेय समान है। काल; वर्तमान है। इनसे कितने और किस प्रकार के टिल वाक्य बनेंगे, यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है। कुछ वाक्य नीचे दिए जा रहे शायद और भी बन सकें। आप बना कर देख लीजिए।

(३४) (क) राम और देव चतुर हैं। (सूचना मात्र देने वाला कथन)
(ख) राम देव जैसा चतुर है। (तुलना, देव उपमान है)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ग) राम देव जितना चतुर है। (तुलना, मात्रा की, देव उपमान है)
(घ) राम देव की तरह चतुर है। (तुलना, प्रकार की, देव उपमान है)
(ङ) राम और देव एक-जैसे चतुर हैं। (समभाव, साधारण कथन)
(च) राम जैसा चतुर है, देव भी वैसा ही चतुर है। (समभाव, बलपूर्वक)
(छ) राम चतुर है, देव चतुर है, दोनों ही चतुर हैं। (समभाव, अधि बलपूर्वक)

४.०. इस लेख में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वाक्य-रचना स्तर पर वाक्यों की अंतस्तलीय तथा बहिस्तलीय संरचनाओं में जो संबंध पाए जा हैं, वे दो प्रकार के तत्त्वों पर आधारित हैं : भाषिक तथा अभाषिक। अभाषिक तत्त्वों अन्तर्गत वक्ता का अभिप्राय तथा भाषा के घटकों द्वारा अभिव्यक्ति-प्राप्त बाह्य जगत विविध प्रकार के वृत्त (घटनाएँ) सम्मिलित हैं। वाक्य-रचना की व्याख्या में अभाषिक हेतुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः अन्तस्तलीय स्तर पर पा जाने वाले एक या अधिक वाक्यों से बहिस्तलीय स्तर पर अनेक वाक्यों की रच अभाषिक हेतुओं के कारण ही संभव है। अतः किसी भी भाषा की वाक्य-संरचना अर्थपूर्ण व्याख्या के लिए भाषिक तत्त्वों के अतिरिक्त हमें उसके वक्ताओं की मनो वैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि मान्यताओं को भी ध्यान में रखना होगा इनमें से कौन-कौन तत्त्व वाक्य-संरचना की व्याख्या में उपयुक्त सिद्ध होंगे, इसका प तो अध्ययन से लगेगा। संभवतः इस विषय में भाषाओं में पर्याप्त भेद मिलें, कारण, प्रत्येक भाषा की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलग-अलग है।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

६

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण

उदयनारायण तिवारी

[संसार की भाषाओं का वर्गीकरण शीर्षक लेख में वर्गीकरण के अभिनव सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें श्लाइखर के 'त्रिक' सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है।]—सं०

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण मुख्यरूप से तीन प्रकार से किया जाता है। ये इस प्रकार हैं—

१. आनुवंशिक या पारिवारिक,
२. प्रारूपिक (टाइपोलाजिकल) या रूपात्मक,
३. क्षेत्रीय।

इनमें से केवल आनुवंशिक या पारिवारिक वर्गीकरण ही अपेक्षाकृत पूर्ण है। आनुवंशिक या पारिवारिक का आधार वास्तव में व्याकरणिक रूप है। ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से जिन भाषाओं में इन तीनों तत्त्वों में समानता मिलती है, उन्हें हम एक परिवार में वर्गीकृत करते हैं। इन भाषाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और ये भौगोलिक दृष्टि से भी एक-दूसरे के समीप होती हैं, किन्तु कभी-कभी एक ही परिवार की भाषा बोलने वाले लोग अन्य भाषाभाषियों का अतिक्रमण कर कहीं दूर जा बसते हैं, ऐसी दशा में भौगोलिक सीमा प्रायः अनावश्यक हो जाती है।

प्रारूपिक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण का आधार स्वन होते हैं। विना अर्थ के स्वन और विना स्वन के अर्थ अथवा दोनों हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम स्वनात्मक दृष्टिकोण से विश्व की भाषाओं को वर्गीकृत करें तो हम इन्हें दो रूपात्मक वर्गों में रख सकते हैं—तानयुक्त (टोनल) भाषाएँ तथा तानरहित भाषाएँ। ये दोनों वर्ग विस्तृत होंगे, परन्तु इनमें से दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं की संख्या अधिक होगी। यदि हम केवल अर्थ के आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण करें तो एक वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आयेंगी जिनके रूपिम लिङ्ग द्योतित करते हैं और दूसरे वर्ग में वे भाषाएँ होंगी जो लिंग का द्योतन नहीं करतीं। ऊपर के दोनों सिद्धान्तों के सम्मिश्रण के आधार पर संसार की भाषाओं के निम्नलिखित चार वर्ग हो जायेंगे—

१. तान तथा लिंग युक्त भाषाएँ।
२. तान तथा लिंग हीन भाषाएँ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. तानहीन तथा लिंगयुक्त भाषाएँ।
४. तानहीन तथा लिंगहीन भाषाएँ।

प्रारूपिक अथवा रूपात्मक वर्गीकरण यादृच्छिक होता है। इसके लिये एक या अनेक कसौटियों का सम्मिश्रण किया जा सकता है वशर्ते कि विभिन्न प्रकार की भाषाओं के वर्गीकरण के द्वारा संगत परिणाम उपलब्ध हों। ऐसा भी सम्भव है कि इसी-प्रकार के वर्गीकरण में किसी वर्ग में एक भाषा का भी समावेश न हो। उदाहरणार्थ, यदि ऐसी तानयुक्त भाषाएँ उपलब्ध हों जिनमें लिंग का अभाव हो तो यह परिस्थिति आ सकती है। ज्यों-ज्यों हम वर्गीकरण की कसौटियों में अभिवृद्धि करते जाएँगे, त्यों-त्यों विभिन्न वर्गों में आनेवाली भाषाओं की संख्या न्यून होती जायेगी। दूसरी ओर यदि हम संसार की भाषाओं को स्वरयुक्त अथवा स्वीरहीन वर्ग में वर्गीकृत करें तो संसार की सभी भाषाएँ प्रथम वर्ग में आ जाएँगी तथा दूसरे वर्ग के लिये एक भी भाषा शेष न बचेगी। सच बात तो यह है कि भाषाओं के वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते हैं जिनमें से अनेक निस्सार होंगे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि केवल महत्त्वपूर्ण भाषिक तत्त्वों का आधार लेकर ही विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण समीचीन है। अनेक त्रुटियों के बावजूद, उन्नीसवीं शताब्दी के भाषाविज्ञानियों ने अयोगात्मक, योगात्मक तथा श्लिष्ट योगात्मक अथवा विभक्ति-प्रधान रूप में विश्व की भाषाओं का जो वर्गी करण किया था, वह बहुत अंश में उपयुक्त था।

जैसा कि कहा जा चुका है, रूपात्मक वर्गीकरण यादृच्छिक है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके द्वारा कुछ ही वर्गों में संसार की भाषाओं का वर्गीकरण सम्पन्न हो जाता है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव रहता है। आनुवंशिक रूप में सम्बद्ध भाषाएँ इस वर्गीकरण में प्रायः आ जाती हैं, किन्तु इसके अनेक अपवाद भी उपलब्ध होते हैं क्योंकि आनुवंशिक रूप से असम्बद्ध भाषाएँ भी कभी-कभी एक ही वर्ग में आ जाती हैं।

किसी सीमित क्षेत्र में भी रूपात्मक तथा आनुवंशिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण प्रायः एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होते। कतिपय विद्वान् पारिवारिक वर्गीकरण को प्रतिष्ठापित करने के लिये भी कभी-कभी रूपात्मक वर्गीकरण का आधार लेते हैं। चूँकि रूपात्मक वर्गीकरण यादृच्छिक होता है, अतः जब दो या दो से अधिक भाषा-विज्ञानी इस वर्गीकरण के लिये किंचित् भिन्न आधारों का अनुगमन करते हैं तो उनके वर्गीकरणों में भी स्पष्टरूप से किंचित् अन्तर आ जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह समीचीन होगा कि हम 'परिवार' तथा 'गोत्र' शब्द का प्रयोग केवल आनुवंशिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण के लिये करें। भौगोलिक दृष्टि से रूपात्मक वर्गीकरण के अन्तर्गत आने वाली भाषाएँ असतत् अथवा विच्छिन्न होती हैं तथा एक वर्ग के अन्तर्गत आने वाली भाषाएँ विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई मिलती हैं।

यहाँ रूपात्मक वर्गीकरण के लिए श्लाइखर को दृष्टिपथ में रखना समीचीन होगा। इस वर्गीकरण के जनक वे ही हैं। इस वर्गीकरण के मूल में हेगल के दार्शनिक सिद्धान्त त्रिक [पक्ष (थीसिस), प्रतिपक्ष (एन्टीथीसिस) एवं संश्लेषण (सिन्थेसिस)] का प्रभाव है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्लाइखर ने यह अनुभव किया कि भाषा में, दो तत्त्व—अर्थ एवं रूप हैं। चूंकि अर्थ के बिना भाषा अस्तित्वहीन है, अतएव श्लाइखर के अनुसार इसकी दो विशेषताओं के आधार पर इसे तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें शब्द के व्याकरणिक रूप का अर्थ पर बहुत कम है अथवा बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ता। इसका सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है जिसमें वाक्य में शब्दों के अतिरिक्त व्याकरणिक कोटियों का प्राय: अभाव रहता है। इसप्रकार की भाषाएँ अयोगात्मक हैं।

(२) दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें कोशगत (शब्दीय) एवं संरचनात्मक तत्त्व संपृक्त रहते हैं, किन्तु जिनमें संरचनात्मक अथवा सम्बन्ध तत्त्व स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं के सम्बन्ध तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। श्लाइखर ने इस प्रकार की भाषाओं को योगात्मक की संज्ञा दी है। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तुर्की भाषा है।

(३) तीसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैंजिनमें अर्थ एवं रूप; दोनों संश्लिष्ट होते हैं। इन भाषाओं में केवल धातु-रूपों में ही आन्तरिक परिवर्तन नहीं होता, अपितु उपसर्गों एवं प्रत्ययों से निर्मित पदों के रूप एवं अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है।

इस तीसरे वर्ग की भाषा का श्लाइखर ने संश्लेषणात्मक नामकरण किया। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएँ लैटिन, ग्रीक एवं संस्कृत हैं। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण को आनुवंशिक या पारिवारिक वर्गीकरण के नाम से अभिहित किया जाता है। इस वर्गीकरण का आधार व्याकरण होता है। एक वंश या परिवार से उद्भूत विविध भाषाओं के व्याकरण की तुलना में यह वर्गीकरण सम्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, योरोपीय परिवार को लिया जा सकता है। यह परिवार केन्तुम (कतम्) तथा सतेम (शतम्) दो भागों में विभक्त है। पुनः इन दोनों की विविध भाषाओं के व्याकरण के आधार पर भारोपीय परिवार का रूप सम्पन्न होता है।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७

तत्सम, अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव

उदयनारायण तिवारी

["तत्सम, अर्द्धतत्सम तथा तद्भव" लेख के अन्तर्गत तद्विषयक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है।]—सं०

कभी-कभी भाषाविज्ञान के विद्यार्थी एवं प्राध्यापक अर्द्धतत्सम को समझने में भूल करते हैं। इनमें से कुछ का तो यह कहना है कि तत्सम और तद्भव की धारणा तो स्पष्ट है, किन्तु यह अर्द्धतत्सम कहाँ से चला आया ? यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय भाषाओं में अर्द्धतत्सम की खोज डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की अन्यतम खोजों में से है, अतः इन तीनों पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए—

तद्भव

तद्भव का शाब्दिक अर्थ है—तद् = उससे, भव उत्पन्न। यहाँ तद् से वस्तुतः संस्कृत से ही तात्पर्य है। हिन्दी तथा अन्य नव्य आर्यभाषाओं में तद्भव वे शब्द हैं जो इन भाषाओं में मूल संस्कृत से प्राकृत से होते हुए आए हैं। उदाहरण-स्वरूप हिन्दी में आज, काम, काज, भात, हाथ आदि शब्द तद्भव हैं, क्योंकि प्राकृत से होते हुए ये संस्कृत से निम्नलिखित रूप में उत्पन्न हुए हैं—

अद्य > अज्ज > आज
कर्म > कम्म > काम
कार्य > कज्ज > काज
भक्त > भत्त > भात
हस्त > हत्थ > हाथ आदि

तत्सम

हिन्दी में स्वाभाविक रूप से तत्सम शब्दों की संख्या कम है। तत्सम से वस्तुतः तात्पर्य है— तत = उसके, सम = समान। यहाँ भी तत से तात्पर्य संस्कृत से ही है। वस्तुतः तत्सम वे शब्द हैं जो नव्य आर्यभाषाओं में संस्कृत से उसी रूप में लिए गए हैं। आधुनिक आर्यभाषाओं, विशेष रूप से बंगला में, तत्सम शब्दों की संख्या सबसे अधिक है।

हिन्दी में भी आज तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो रहा है, इसके कई कारण हैं। हिन्दी अब केवल बोलचाल की भाषामात्र ही नहीं है और न केवल वह प्रादेशिक भाषा ही है, अपितु राष्ट्रभाषा के रूप में वह संस्कृतिवाहिनी भाषा बन रही है। संस्कृत शब्दों के प्रयोग से यह भी लाभ है कि प्रायः सभी नव्य आर्यभाषाओं में वे समानरूप से प्रयुक्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होते हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण की तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ आदि भाषाओं में भी संस्कृत के शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसप्रकार तत्सम शब्दों के प्रयोग में किसी प्रकार की प्रादेशिक बाधा नहीं है। इस संबंध में एक और बात उल्लेखनीय है। वास्तव में आज हिन्दी में विभिन्न बोलियों के कोशों का अभाव है। अतः किन्हीं शब्दों का क्षेत्र यद्यपि बहुत विस्तृत है और वे पंजाब से बंगाल तक एक ही रूप में व्यवहृत होते हैं, तथापि हिन्दी के लेखकों को उनका पता नहीं है और ग्राम्य अथवा स्थानीय दोषों के डर से वे उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों का प्रयोग ही श्रेयस्कर समझते हैं।

अर्द्धतत्सम

तत्सम के साथ ही प्रायः सभी नव्य आर्यभाषाओं में अर्द्ध तत्सम शब्दों का भी प्रयोग होता है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है, अर्द्धतत्सम से उन शब्दों से तात्पर्य है जो तद्भव नहीं हैं तथा जो तत्सम के अतिनिकट हैं। प्राकृत-युग में भी संस्कृतिवाहिनी भाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन आज की भाँति ही चलता रहा। अतएव प्राकृतों में संस्कृत शब्दों का आना अनिवार्य था। ऐसे शब्द जब प्राकृत में आते थे तथा जब वे संयुक्त व्यंजन वाले होते थे, तब प्राकृत के उच्चारण के प्रभाव से उनमें तत्सम की अपेक्षा कुछ न कुछ अन्तर आ जाता था। यह अन्तर उससे सर्वथा भिन्न था जो विकास-क्रम से संस्कृत से प्राकृत तथा प्राकृत से नव्य आर्यभाषाओं में परिणत हुए शब्दों में होता था। दूसरे प्रकार के शब्द, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तद्भव कहलाए, किन्तु पहले प्रकार के शब्दों को अर्द्धतत्सम की संज्ञा से अभिहित किया गया। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। संस्कृत 'तीक्ष्ण' से प्राकृत का 'तिक्ख' शब्द बना जो विकास-क्रम से हिन्दी में 'तीखा' में परिणत हो गया। यहाँ व्यंजन 'क्षण' का 'क्ख' रूप में समीकरण प्राकृत के ध्वनि-सम्बन्धी नियमों के सर्वथा अनुकूल था, किन्तु एक बार पुनः प्राकृत में 'तीक्ष्ण' शब्द का प्रयोग होने लगा। प्राकृत उच्चारण के कारण इसका शुद्धरूप में उच्चारण कठिन था, अतएव स्वरभक्ति अथवा विप्रकर्ष की सहायता से इसका 'तिखिण' उच्चारण होने लगा। यह 'तिखिन' वस्तुतः अर्द्धतत्सम शब्द है। इसप्रकार के कई शब्द हैं जिनके प्राकृत में दो रूप मिलते हैं। कृष्ण का प्राकृत रूप 'कण्ह' हुआ जो हिन्दी में 'कान्ह' तथा बँगला में कानू में परिणत हो गया, किन्तु प्राकृत में इसका एक रूप 'कसण' चलता रहा जो वास्तव में अर्द्धतत्सम है। इसीप्रकार संस्कृत 'पद्म' शब्द प्राकृत में 'पोम्प' बना, किन्तु इसका अर्द्धतत्सम रूप 'पदुम' भी प्राकृत काल में ही प्रचलित हो गया। इस 'पदुम' से ही आगे चलकर प्राकृत में पदम तथा अपभ्रंश में 'पउम' शब्द बने। संस्कृत 'सर्षप' से प्राकृत 'सस्सप' शब्द निर्मित हुआ। इससे 'सरसव' से होते हुए हिन्दी में 'सासौं' बनना चाहिए था, किन्तु प्राकृत युग में ही इसका अर्द्धतत्सम रूप 'सरसिव' भी प्रचलित हो गया जिससे बोलियों में 'सरिसों' तथा हिन्दी में स्वतः अनुनासिकतायुक्त 'सरसों' शब्द बना। संस्कृत 'आदर्श', स्त्रीलिंग रूप 'आदर्शिका' से 'आदस्सिका' 'आद स्सिआ' 'आअस्सिआ' होते हुए हिन्दी में 'आसी' शब्द बनना चाहिए था, किन्तु एक बार प्राकृत युग में 'आदर्शिका' शब्द के पुनः प्रचलित हो जाने से 'आअरसिआ' होते हुए हिन्दी में 'आरसी' शब्द प्रतिष्ठित हुआ। हिन्दी में किशन, चन्दर, जगन आदि शब्द आज अर्द्धतत्सम रूप में चल रहे हैं। इधर पंजाबी के कारण भी हिन्दी में अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८

बहुभाषिकता और हिन्दी-भाषा-समाज

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

['बहुभाषिकता और हिन्दी-भाषा-'समाज' शीर्षक लेख के अन्तर्गत डॉ० श्रीवास्तव ने बहुभाषिकता के स्वरूप पर गणितीय पद्धति से विचार किया है। इस सन्दर्भ में इनका अनिमत यह है कि "हिन्दी को उसके सही सन्दर्भ में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके समाज के भाषाई कोश, कोड, आधात्री, कोड परिवर्तन (कोड स्टाइल स्विचिंग) को उस समाज में पाई जाने वाली बहुभाषिकता की सही प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में देखें।']—सं०

भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है। १९६१ की जनगणना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस देश में १०१९ मातृभाषाएँ हैं जिनको २०० वर्गीकृत भाषाओं में बाँटा जा सकता है। यह तथ्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि साक्षर व्यक्तियों की संख्या अनुपात में कम होने तथा भाषा-शिक्षण के किसी निश्चित योजनाबद्ध अध्ययन-अध्यापन के अभाव के वावजूद भी बहुभाषिकता देश की संप्रेषण व्यवस्था की एक प्रमुख शर्त है। भारतवर्ष में बहुभाषिकता किसी समस्या के रूप में नहीं रही। यहाँ की सम्प्रेषण-व्यवस्था समाज की अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप जिस प्रकृति में ढलती गई, उसमें बहुभाषिक स्थिति एक सहज और प्राकृतिक लक्षण के रूप में उभरी। यही कारण है कि न केवल भारतवर्ष एक देश के रूप में बहुभाषी देश है. वरन् हर भाषावार प्रदेश भी एक बहुभाषी प्रदेश है।

उदाहरण के लिए, बिहार प्रदेश को ही लें। उसकी कोड आधात्री (मैट्रिक्स) को नीचे दी गई तालिका के आधार पर देखा जा सकता है :

कुल जनसंख्या : ५, ६४, ४, ५०२

हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी)	२,०५,८०,६४३
बिहारी	१,६४,४२,०८७
उर्दू	४१,४९,२४५
संथाली	१४,५९,२३५
बंगाली	१२,२०,८००
मुंडारी	४,७४,४८२
हो	४,४५,०६८
उड़िया	३,०२,९६९
खरिया	९६,०१६
मात्तो	८८,६३२
पंजाबी	७२,१८२
राजस्थानी	६१,६१८
भूमिन	३८,४५७
तेलुगु	३७,२२२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नेपाली	२६,७४७
मुंडा	२०,३०१
गुजराती	२०,०६८
तमिल	१६,१७७
अंग्रेजी	८,३८६
मलयालम	७,५५६
मराठी	५,०७४
सिंधी	४,०८६
कोरवा	३,७६८
असमिया	२,२४१
द्रविड़	१,६३१
बिरजिया	१,५०६
गढ़वाली	१,०५७

इसके अतिरिक्त जिन भाषाओं को बोलने-समझने वाले सौ से ऊपर और हजार से नीचे हैं, उनकी संख्या आठ है—कोरकू (८६७), कोंकणी (८१६), कन्नड़ (६७४), गोंडी (४५१), कश्मीरी (१८६), संस्कृत (१२६) और भीली (१२५)।

बिहार की भाषायी स्थिति भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में पाई जाने वाली भाषाई स्थिति से अलग-थलग या अनूठी हो—ऐसी बात नहीं। यह स्थिति अन्य प्रान्तों में भी है कि प्रायः विभिन्न भाषा-परिवारों की बोलियाँ एक ही समाज में न केवल अलग-बगल प्रयोग में आती हों, अपितु एक भाषा-परिवार की बोली को भी सहजरूप में अपनाते देखे जाएँ। इस दृष्टि से बहुभाषिकता की प्रकृति के बारे में कुछ सामान्य अभिलक्षण देखे जा सकते हैं।

पहला तथ्य तो यही कि बहुभाषिकता की यह प्रकृति समुदायपरक है, न कि व्यक्तिपरक। व्यक्तिपरक बहुभाषिकता एक भाषा-भाषी समुदाय में देखी जाती है जहाँ व्यक्ति अपने ज्ञान या अन्य वैयक्तिक आवश्यकताओं के कारण अन्य भाषा को स्वीकार करता है और उसके प्रयोग से सीखता है। उदाहरण के लिए, कोई अमरीकी या रूसी अपने देश में जब हिन्दी या अन्य कोई भारतीय भाषा सीखने की ओर प्रवृत्त होता है तब उसकी यह आवश्यकता उसके समाज की सम्प्रेषण-व्यवस्था का अंग नहीं बन जाती। इसके विपरीत समुदायपरक बहुभाषिकता, एक बहुभाषी देश के समाज की व्यापक संरचना-व्यवस्था का एक अंग बन जाती है। पारिवारिक व्यवहार सम्प्रेषणीयता, दैनिक आचरण आदि के संदर्भ में जब समाज एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग को सहज और स्वाभाविक स्तर पर स्वीकार करने लगे, तब समुदायपरक बहुभाषिकता की स्थिति आती है। इस दृष्टि से देखें तो जिसे हम हिन्दी प्रदेश कहते हैं, वह भी एक समुदायपरक बहुभाषी प्रदेश के रूप में ही सामने आता है।

बिहार के संथाली समाज को ही लें। अपने जीवन के पारिवारिक सन्दर्भ में वे संथाली का प्रयोग करते हैं। पर अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के दायरे से बाहर आकर वे स्थानीय बोलियों का उपयोग करते देखे जाते हैं और जीवन के एक दूसरे आयाम पर वे क्षेत्रीय बोलियों (भोजपुरी, मैथली और मगही) को भी अपनाते देखे जाते हैं। प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उनमें से अधिकांश अखिल भारतीय हिन्दी के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिनिष्ठित रूप को ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह है कि हिंदी-प्रदेश की यह विशेषता रही है कि वह स्थानीय बोली के घेरे से बाहर निकल कर हिंदी को माध्यम भाषा के रूप में स्वीकार करके शिक्षा ग्रहण करने की और प्रवृत्ति होती है। इस पूरे समाज में साक्षरता का सवाल बोली के स्थान पर क्षेत्रीय भाषा या हिंदी के सीखने की प्रक्रिया से जुड़ा है। आगे जब उच्च शिक्षा की बात उठती है तब यही हिंदी अंग्रेजी भाषा के सीखने और अपनाने की समस्या से जुड़ जाती है।

परिवार, स्थानीय समुदाय, क्षेत्रीय जन-व्यवहार, साक्षरता और सामान्य शिक्षा तथा उच्च-शिक्षा इन विभिन्न संदर्भों में जब हम भारतीय किसी भाषा-भाषी समुदाय की कोड आधात्री को देखते हैं तो उसे बहुभाषा की एक जटिल प्रक्रिया से बँधा पाते हैं। पर उसकी जटिलता भाषाविदों के लिए भले ही समस्या के रूप में आती हो और भाषाविद् भारत को इस आंतरिक सम्प्रेषण-व्यवस्था के संदर्भ में भले ही उसे "भाषाई पागलखाना" कहते हों, पर स्वयं समाज उसे सहज और सामान्यरूप से ग्रहण करता आ रहा है। समाज के स्तर पर संप्रेषणीयता में न तो कभी कोई गतिरोध ही आया और न उसकी संचार-व्यवस्था में ही कोई रुकावट ही आई। इसका कारण कोड परिवर्तन (कोड स्विचिंग) की सहज स्वीकृति रहा है।

यहाँ यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है कि जिस प्रकार एक गाँव की बोली अपने सीमावर्ती दूसरे गाँव की बोली से भिन्न होकर भी एक दूसरे के जन-समुदाय के लिए बोधगम्य रही है और जिस प्रकार अगल-बगल के गाँव आपसी व्यवहार के लिए एक जैसी क्षेत्रीय तथा सामान्य बोली का निर्वाह एवं प्रयोग करत रहे हैं जो दोनों के लिए मान्य एवं सुबोध हो, उसी प्रकार सामाजिक स्तर-भेद की भी एक ऐसी क्रमिक सीढ़ी दिखाई देती है जहाँ हर स्तर अपने सीमावर्ती स्तर की भाषा अथवा शैली से परिचित रहता है। इसमें संदेह नहीं कि ये सभी भाषाएँ एवं शैली-भेद समाज-संदर्भित हैं, सभी की अपनी इयत्ता उन विशिष्ट सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन है और उन सभी की सत्ता समाज की पूरी सम्प्रेषण-व्यवस्था के एक अनिवार्य उपांग के रूप में सिद्ध है। संक्षेप में इसे हम नीचे दिये गए रेखाचित्र से समझ सकते हैं—

पारिवारिक : (परिवार में प्रयुक्त भाषा बोली)
स्थानीय : (स्थानीय गाँव में प्रयुक्त बोली)
क्षेत्रीय : (क्षेत्रीय स्तर की बोलीभाषा)
साक्षरता का स्तर : (माध्यम भाषा$_1$)
सामान्य शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा$_2$)
उच्च शिक्षा का स्तर : (माध्यम भाषा$_3$)

इसके संदर्भ में यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिवार के जीवन-मूल्य और भाषा-रूप, समाज के बृहत्तर संदर्भ के सामाजिक मूल्य और भाषा-प्रयोग से भिन्न रहे हैं। इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा निश्चित और सुदृढ़ रही है और ये दोनों आपस में नितान्त भिन्न होने की स्थिति में भी एक दूसरे के भी विरोधी या प्रति द्वन्द्वी नहीं रहे हैं। भारत की सामाजिक संरचना की यह प्रवृत्ति ही रही है कि वह पारिवारिक मूल्यों का निर्वाह स्थानीय सामाजिक मूल्यों से टकराए बिना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करती रही है। यह यहाँ की व्यवस्था का स्वीकृत तथ्य है कि अगर कोई व्यक्ति या समुदाय का वर्ग अपना भाषा-क्षेत्र छोड़कर अन्य भाषा-क्षेत्र में जाकर बसा है तो उसे अपनी भाषा छोड़ने की आवश्यकता कभी भी सामाजिक दबाव के रूप में नहीं महसूस करनी पड़ी। यह स्थिति अमेरिका से काफी भिन्न है। वहाँ अगर किसी अन्य देश का भाषा-भाषी जाता है तो एक या दो पीढ़ी के बाद वह अपनी भाषा को छोड़कर वहाँ की भाषा (अंग्रेजी) अपना लेता है। अतः भाषा-निर्वाह वहाँ एक समस्या के रूप में सामने आता है। पर हिन्दुस्तान के भीतर एक क्षेत्र की भाषा बोलने वाला जब दूसरे क्षेत्र में जाता है तब उसका अपना एक पाँव हमेशा अपनी धरती से बँधा होता है। संयुक्त परिवार और कुल का सदस्य होने के नाते जीवन के एक दायरे में उसे उस परिवार या कुल से सम्बन्ध बनाए रखना पड़ता है जिसका वह मूलतः सदस्य है। परिणाम यह है कि हर भाषा-क्षेत्र में ऐसे कई सामुदायिक वर्ग मिल जाते हैं जो अपने सामाजिक व्यवहार-क्षेत्र में स्थानीय और क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग करते हैं, पर अपने पारिवारिक आचरण के लिए उस क्षेत्र के बाहर की भाषा का सहज भाव से निर्वाह कर लेते हैं। अतः बहुभाषिकता के सन्दर्भ में यह भाषा-निर्वाह भारत में किसी समस्या के रूप में सामने नहीं आता।

बहुभाषिकता के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि हर भाषा समाज के हर प्रकार के दायित्व को नहीं निभाती। अगर बहुभाषिकता की प्रकृति व्यक्तिपरक न होकर समुदायपरक है, तब विभिन्न भाषाओं के प्रयोग के लिए उनका अपना एक निश्चित सामाजिक संदर्भ अपेक्षित है। उसी संदर्भ में उस भाषा का प्रयोग सहज और समान माना जाएगा। जिसप्रकार किसी एक भाषा के भीतर कई शैलियाँ होती हैं और हर शैली का एक विशेष सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ रहता है, उसीप्रकार अगर हम भाषा की सीमा का विस्तार कर अपनी दृष्टि भाषाई समाज तक ले जाएँ और उसे विवेच्य सामग्री के लिए इकाई मान लें, तब हम पाते हैं कि एक भाषा समाज के बीच स्थित सम्बन्धों के साथ निर्वाह करने वाली भाषाएँ भी शैलीवत् ही सिद्ध रहती हैं। भाषा-प्रयोग के इन स्थिर सम्बन्धों की प्रकृति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वाक्य-स्तर पर पर्यायवाची शब्दों की सत्ता और महत्त्व है और जिस प्रकार भाषा-स्तर पर शैली-भेद की स्थिति और प्रयोजन-सिद्धि है, उसीप्रकार बहुभाषी समाज के संदर्भ में उस भाषा-भेद की प्रकृति और उसके प्रयोजन का महत्त्व है जो उस भाषाई सामाज की कोड आधात्री है।

बहुभाषी समाज की कोड आधात्री उन सभी प्रयोजनबद्ध भाषाओं एवं शैलियों के समूह को कहेंगे जिसे वह समाज अपने प्रभाव-संचार के लिए अपनाने के लिए विवश है। शैली-भेद की जहाँ तक बात है, हर भाषा में उसकी सत्ता असंदिग्ध रूप से देखी जाती है। पर ऐसी स्थिति भी देखी जा सकती है कि एक भाषा में दो या दो से अधिक ऐसी शैलियों का प्रयोग हो जो न केवल सामाजिक संदर्भों द्वारा नियंत्रित हों, अपितु जिनकी भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्रयोजन-सिद्धि सापेक्षतया स्थिर हो। प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी फर्गुसन ने ऐसी स्थिति को "डायग्लॉसिया" नाम दिया है। उनके अनुसार "डायग्लॉसिया" एक ही भाषा की दो शैलियों के व्यवहार की वह स्थिर स्थिति होती है जिसमें भाषा की एक आधारभूत शैली के अतिरिक्त उससे भिन्न एक और आरोपित भाषा-शैली भी प्रयुक्त होती है। आधारभूत शैली का मानक रूप संभव है। आरोपित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैली का व्याकरण अतिरिक्त नियमों द्वारा न केवल सापेक्षतया जटिल होता है, वरन् उसके प्रयोग को समाज में अधिक सम्मानपूर्ण माना जाता है। वस्तुतः लिखित साहित्य में इसी का प्रयोग अधिक होता है और औपचारिक अवसरों पर इसी भाषा-शैली को लोग व्यवहार में लाते हैं, इसीलिए भाषा का यह शैली रूप किसी न किसी औपचारिक संदर्भ में सीखा जाता है।

भारतीय समाज न केवल बहुभाषी समाज है, बल्कि स्तरीकृत होने के कारण उसकी भाषाओं में शैली-भेद सामाजिक प्रयोजनों के साथ संवद्ध होकर सामने आते हैं। इन भाषाओं में "डायग्लॉसिया" की स्थिति स्पष्ट देखने को मिलती है। बंगाली भाषा में "चलित" और "साधुभाषा", तेलुगु में "व्यावहारिक" और "ग्रन्थिका" शैली अथवा तमिल में "पेचू" और "सैन तमिल" की दो स्पष्ट शैलियाँ हैं। "चलित", "व्यावहारिक" और "पेचू' आदि शैलियाँ वस्तुतः इन भाषाओं की आधारभूत शैलियाँ हैं और इन्हें सामान्य व्यक्ति सहजरूप में सीख लेता है। इनके विपरीत "साधुभाषा" "ग्रन्थिका शैली" अथवा "सेनं तमिल" इन भाषाओं की वह शैली है जिसे अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है और जिसके न जानने से व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं माना जाता अथवा उस भाषा का उसका ज्ञान अधूरा या अपूर्ण समझा जाता है।

हिंदी की स्थिति इन भाषाओं से जटिल इस अर्थ में है कि इसमें आधारभूत शैली के अतिरिक्त एक नहीं अपितु दो आरोपित शैलियाँ हैं। आधारभूत शैली को प्रायः सामान्य हिंदी, हिंदुस्तानी की संज्ञा दी जाती है और आरोपित शैलियों को संस्कृतनिष्ठ (या उच्च हिंदी) और फारसी-अरबी निष्ठ (या उर्दू) शैलियाँ कहा जाता है। हिंदी और उर्दू के बीच गहरी खाई का काम करने वाले दो प्रमुख तत्त्व रहे हैं—लिपि और साहित्यिक परंपरा। हिंदी, नागरी लिपि की मुखापेक्षी है और उर्दू फारसी लिपि की। हिंदी की परम्परा भारतवर्ष की उस जातीय संस्कृति की संवाहिका रही है जो संस्कृत भाषा से अबाध गति से चली आ रही है, जबकि उर्दू मुड़-मुड़कर फारसी काव्यधारा से भी काव्य-रूढ़ियाँ आत्मसात करती रही है। पर लिपि भाषा नहीं है और लिपि-भेद को भाषा-भेद का आधार नहीं बनाया जा सकता। दूसरी बात यह भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इन दोनों आरोपित साहित्यिक शैलियों का मूलाधार एक ही है—हिंदुस्तानी, जो न केवल दोनों ही लिपियों में लिखी जा सकती है, बल्कि लिखी जाने पर नागरी लिपि को देखकर जिस पाठ को एक वर्ग "हिंदी" से जोड़ता है, फारसी लिपि में पाकर उसी पाठ को दूसरा वर्ग "उर्दू" मान बैठता है।

स्पष्ट है कि जिसे हम हिंदी भाषा-समाज कहते हैं, उसका भाषाई कोश (वर्बल रेपोर्टुआर) दो या दो से अधिक बोलियों, हिंदुस्तानी, हिंदी की दो आरोपित शैलियों तथा उच्च-वर्ग में अंग्रेजी भाषाओं से संक्रमित है, और जो आपस में इसप्रकार ग्रथित है कि उनमें कोड-परिवर्तन सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में देखने में आता है। बोली, शैली और भाषा भेद के ये अंतस्संबंध विभिन्न सामाजिक स्तरों पर भिन्न रूप में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तफलित होते हैं, पर सामाजिक प्रक्रिया के संदर्भ में इनको सामान्यीकृत नियमों से धना संभव है। यह देखा जा सकता है कि जिन सामाजिक दबाव और औपचारिक रिस्थितियों के संदर्भ में उच्च-वर्ग के सदस्य हिंदी और अंग्रेजी के बीच भाषा-परिवर्तन रते हैं, उन्हीं परिस्थितियों में बहुत कुछ आधारभूत शैली हिंदुस्तानी और आरोपित लियों—उच्च हिंदी अथवा उर्दू में भी परिवत न देखा जा सकता है और उसीप्रकार माज के एक तीसरे स्तर पर उन्हीं संदर्भों में बोलियों और हिंदुस्तानी के बीच कोड-रिवर्तन संभव है।

हिंदी को उसके सही संदर्भ में समझने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हम उसके माज के भाषाई कोश, कोड आधात्री, कोड-परिवर्तन (कोड/स्टाइल स्विचिंग) को स समाज में पाई जाने वाली बहुभाषिकता की सही प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में देखें।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९

लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण का संक्षिप्त इतिहास

उदयनारायण तिवारी

["लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण का संक्षिप्त इतिहास" शीर्षक लेख में तद्विषयक पारस्परिक स्वरूप का वर्णनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।"] —सं०

यूरप तथा अमेरिका में भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रगति के साथ-साथ भाषाओं के स्वनात्मक लिप्यंकन (phonetic transcription) तथा लिप्यंतरण (transliteration) की समस्या विद्वानों की सम्मुख आयी। इसके समाधान के लिये वहाँ कई लेखन-प्रणालियों का अविर्भाव हुआ। इन सभी प्रणालियों द्वारा रोमनलिपि को विविध संकेतों से सुसज्जित कर उसे विश्व की समस्त भाषाओं एवं वोलियों के लेखन के लिये पूर्ण सक्षम बनाने का प्रयत्न किया गया।

लगभग एक अर्द्ध शताब्दी तक वाग्स्वनों (वाग्ध्वनियों) के सूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण के वाद सन् १९२० ई० में यह स्पष्ट हो गया कि स्वनविज्ञानी अपने प्रयत्न में असफल रहे। इसका मुख्य कारण यह था कि विश्व की विविध भाषाओं में मानव वाग्यंत्रों के विविध स्थानों—कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त तथा ओष्ठ आदि—से उच्चरित सुर एवं तान युक्त, अनेक ऐसे सूक्ष्म स्वन उपलब्ध हुए जिनके लिये नये चिह्नों का निर्माण असम्भव हो गया। प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी, हेनरी स्वीट ने विश्व की अनेक भाषाओं से एक सौ बीस प्रकार के केवल व्यंजन स्वनों को खोजकर, वास्तव में, अद्भुत कार्य किया, किन्तु सम्भावित स्वनों की खोज में, स्वीट भी असफल रहे। उधर भाषाओं एवं वोलियों के अध्ययन का क्रम ज्यों-ज्यों अग्रसर होता गया, त्यों-त्यों अनेक स्वन उपलब्ध होते गये और इसप्रकार स्वनविज्ञानियों के अध्ययन का आयाम विस्तृत होता गया।

कालान्तर में, इस अध्ययन से, कतिपय स्वनविज्ञानी निराश हो गये और उन्हें यह अनुभव हुआ कि इसप्रकार स्वनों के अध्ययन, वर्गीकरण एवं अंकन (प्रतिलेखन) में वे पूर्णतया कभी भी सफल न हो सकेंगे। किन्तु इसप्रकार की निराशा का कोई कारण न था। बात यह है कि शीघ्र ही भाषाविदों ने इस तथ्य का अनुभव किया कि भाषाविज्ञान का मुख्य उद्देश्य भाषा की संरचना का अध्ययन करना था। इस सम्बन्ध में यूरप तथा अमेरिका के भाषाविज्ञानी स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा, सन् १९२० ई० में, इस परिणाम पर पहुँचे कि किसी भाषा की स्वनात्मक व्यवस्था में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसकी कार्यकारी इकाई, स्वनिमियों (फोनीमों) की प्राप्ति तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की खोज है, न कि किसी वाग्स्वन का सूक्ष्मतम अध्ययन।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस अध्ययन का श्रेय प्राच्य विचारधारा के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी प्रिंस त्रुवेस्काय तथा अमेरिका के एडवर्ड सापरि एवं ब्लूमफील्ड कों है। इन विद्वानों को यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि विश्व की कोई भी भाषा, किसी भी अवस्था में, सम्भावित सभी वाग्-स्वनों का उपयोग नहीं करती। इसके विपरीत प्रत्येक भाषा में कतिपय ऐसे कार्यकारी स्वन हैं जो भाषा की संरचना के अध्ययन में पूर्णरूप से सहायक होते हैं। ये भेदक तथा भाषा की अल्पतम अर्थवान इकाई होते हैं। ये स्वनिम कहलाते हैं। किसी भाषा के स्वनिमों को खोज लेना सापेक्षिक दृष्टि से सरल है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ सम्भावित स्वनों की संख्या अपरिमित है, वहाँ दूसरी ओर, इन स्वनिमों की संख्या भाषा में सीमित है। यह संख्या पन्द्रह और पचास के बीच में है।

स्वनिमों की इस खोज से स्वनविज्ञानियों को ऐसा लगा कि स्वनविज्ञान के अध्ययन का महत्त्व कम हो गया, किन्तु यह उनकी भ्रान्त धारणा थी। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वनों से ही भेदक इकाई प्राप्त करके स्वनिम का भवन खड़ा किया जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी पाइक ने ठीक कहा है—'स्वनविज्ञान कच्चा माल तैयार करता है तथा स्वनिमविज्ञानी उसे पकाता है'।

लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण के सम्बन्ध में कोपेनहेगेन सम्मेलन के विचार

लिप्यंकन तथा लिप्यंतरण के सम्बन्ध में यूरोप के भाषाविदों ने यह अनुभव किया कि अनेक प्रणालियों के बदले यदि कोई एक सर्वमान्य प्रणाली स्वीकृत हो जाय तो इससे विशेष सुविधा होगी। इसके परिणामस्वरूप सन् १९२२ ई० में ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय एकेडेमी के सम्मेलन की बैठक में जेसपर्सन एवं सालवेडा डि ग्रावे (Salverda de Grave) ने इस प्रश्न की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। सन् १९२३ ई० में इस सम्बन्ध में आरम्भिक आवश्यक कार्य करने के लिए दो विद्वानों—रोजवाडोस्की (Rozwadowski) तथा वान वियक (Van Wiyk) को नियुक्त किया गया।

सन् १९२४ ई० में इन दोनों ने विश्व के लगभग एक सौ विशेषज्ञों के पास इस आशय का परिपत्र भेजा कि उनके विचार में प्रचलित प्रणालियों में कौन श्रेष्ठ है तथा इस कार्य को किस रूप में सम्पन्न किया जाय। दुर्भाग्यवश इस परिपत्र के उत्तर में विशेषज्ञों के जो उत्तर आये, वे इतने अनिश्चित एवं एक-दूसरे के विरोधी थे कि उनके आधार पर कुछ भी निर्णय करना सम्भव न हो सका।

सन् १९२४ ई० के मई मास की एकेडेमी की एक बैठक में यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि इस कार्य के लिए विशेषज्ञों की एक छोटी समिति गठित की जाय। सौभाग्य से डैनिश रास्क हार्स्टेड फंड (Danish Rask Orestedfund) से सदस्यों के यातायात एवं भोजन-व्यवस्था के लिए कुछ धनराशि भी प्राप्त हो गयी। इस सम्बन्ध में सबसे प्रथम कार्य विशेषज्ञों की सूची का निर्माण था। इसका कार्यभार 'जेसपर्सन' एवं 'होजर पेडर्सन' (Holger Pederson) को सौंपा गया। इन दोनों विद्वानों ने 'मेइये' (Meillet) एवं 'ओलाफ ब्राख' (Olaf Broch) की सहायता से विशेषज्ञों की एक सूची के तैयार करते समय इस बात का ध्यान रखा कि इसमें इंडो-यूरोपियन (भारत-यूरोपीय),

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामी, अफ्रीका, धूर पूरब की एवं अमेरिका की आदिवासियों के भाषाओं के भी विशेषज्ञ हों। अन्ततोगत्वा निम्नलिखित विशेषज्ञ इस समिति के सदस्य बने—

१. ओलाफ ब्राख (ओसलो वि० वि० के प्रोफेसर एवं स्लाविशे फोनेटिक के लेखक)।

२. कार्ल ब्रोकल मान (ब्रेसलाउ वि० वि० के प्रोफेसर तथा ग्रुंड्रिस डेअर फेरग्लाइरांडन ग्रामाटिक डेअर सेमिटिशन श्प्राख़ेन के लेखक)।

३. ओटो येसपर्सन (कोपेनहेगेन वि० वि० के प्रोफेसर तथा लेअरबूख डेअर फोनेटिक के लेखक)।

४. डैनियल जोन्स (यूनिवर्सिटी कालेज लंदन के प्रोफेसर तथा इंगलिश फोनेटिक के लेखक)।

५. बेर्नहार्ट कार्लग्रेन (गोटेनबर्ग वि० वि० के प्रोफेसर तथा एतुद सुरला फोनोलोगी शिन्वाज के लेखक)।

६. कार्ल माइन् होफ (हाम्बुर्ग वि० वि० के प्रोफेसर तथा ग्रुंडरिस् आइनर लाउटेलेअर डेअर बांटूश्प्राखन के लेखक)।

७. होल्गर पेडर्सन (कोपेनहेगेन वि० वि० के प्रोफेसर तथा फेरग्लाईरोंडन ग्रामाटिक डेअर केल्टीशन श्प्राखन के लेखक)।

८. जॉन रोजवादोस्की (क्राकोव वि० वि० के प्रोफेसर तथा हिस्टारिकल फोनेटिक्स आव द पोलिश लैंग्वेज के लेखक)।

९. फर्डीनांट जोमर (बॉन वि० वि० के प्रोफेसर तथा हांउबुख डेअर लताइनीशन लाउट उंट फोर्मज लेअरअ के लेखक)।

१०. विलियम थाल्बिट्ट्सर (कोपेनहेगेन वि० वि० के प्रोफेसर तथा फोनेटिकल स्टडी आव एस्किमो लैंग्वेज के लेखक)।

११. वॉन वियक (लाइडन वि० वि० के प्रोफेसर तथा डी बाल्टीशन उंट स्लाविंशन आक्सेटउर इंटोनास्सिओंस ज्युस्टेएम के लेखक)।

१२. वांद्रिए (पैरिस वि० वि० के प्रोफेसर तथा ला लांग के लेखक)।

सम्मेलन की तिथि से पूर्व, सामग्री रूप में दो सूचियाँ सदस्यों के विचारार्थ भेजी गयी थीं। इसमें से एक को तैयार करने का श्रेय येसपर्सन को था। इसमें इंटरनेशनल फोनेटिक एसोशियेशन के लिप्यंकन-विषयक सामग्री, लेपसियस की स्वेडिश एवं डैनिश बोलियों के लिप्यंकन की समीक्षा, फ्रेंच बोलीविज्ञानियों द्वारा प्रदत्त सामग्री तथा अमेरिका के भाषाविज्ञानियों द्वारा तैयार की गयी लिप्यंकन-विषयक सामग्री थी। दूसरी सामग्री होल्गर पेडर्सन की थी। इसमें उस युग में उपलब्ध सर्वोत्कृष्ट सामग्री प्रस्तुत की गयी थी। लंदन वि० वि० के डेनियल जोन्स ने लिप्यंकन-विषयक प्रभूत सामग्री अपनी ओर से सदस्यों के पास भेजी थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विचार के लिये समिति की जो बैठकें हुईं, उनमें से अधिकांश में, जुलूलैंड के ...र्वे के मिशनरी श्री ब्लेसिंग डाहले उपस्थित थे तथा वे ज़ुलू स्वनों के सम्बन्ध में विद्वानों को विशेष सूचनाएँ देते रहे। समिति ने सभी बातों पर विचार करके सन् १९२५ के अप्रैल में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

समिति ने अपनी संस्तुति में, दो बातों पर विशेष ध्यान दिया। इनमें से पहला कार्य एक ऐसी लिप्यंकन-व्यवस्था को उपलब्ध करना था जिसके द्वारा किसी भी भाषा अथवा बोली में आने वाले स्वनों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। समिति का दूसरा कार्य लिप्यंतरण की एक ऐसी प्रणाली को उपलब्ध करना था जिसके द्वारा प्राच्य लिपियों को रोमन में लिखा जा सके। इन दोनों संस्तुतिओं को करते समय समिति ने इस बात पर ध्यान दिया कि उस समय ये भाषाएँ तथा बोलियाँ किस रूप मे लिखी जाती थीं तथा वे किस रूप में उच्चरित होती थीं।

समिति ने लिप्यंकन को बड़े कोष्ठ [ ] तथा लिप्यंतरण को छोटे कोष्ठ ( ) में लिखने की संस्तुति की। समिति मात्रा, बल, सुर, तान, अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक, घोष, अघोष, नासिक्य, दन्त्य, उरुम्, कण्ठ्य, काकलीय आदि स्वनों को द्योतित करने के लिये रोमन वर्णों के रूप में किंचित् परिवर्तन किया तथा उसे विविध चिह्नों से सुसज्जित किया। आगे चलकर थोड़े परिवर्तन के साथ यही अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद् (आई० पी० ए०) की लिपि बनी। इसमें सबसे अन्तिम सुधार सन् १९५२ ई० में हुआ।

स्वतन्त्रता से पूर्व, भारत के लिए रोमन लिपि के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इनमें से एक लेख मेरे श्रद्धेय गुरु डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का है। यह सन् १९३५ ई० में "कलकत्ता युनिवर्सिटी के जर्नल, डिपार्टमेण्ट आव लेटर्स, भाग २७" में "भारत के लिए रोमन लिपि" शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। इस लेख में डॉ० चटर्जी ने भारत मे प्रचलित हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अरबी, फारसी, गुजराती, मराठी, बंगाली, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़-- भाषाओं को रोमन में लिखने का प्रस्ताव किया है। आपने इन भाषाओं के लिये प्रयुक्त लिपियों को रोमन में लिप्यंतरित करके उदाहरण भी दिये हैं।

दूसरा लेख जो एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है, युनिवर्सिटी कालेज लन्दन के प्रसिद्ध स्वनविज्ञानी प्रो० डेनियल जोन्स का है। इसका शीर्षक है—"भारत के लिये राष्ट्रीय लिपि की समस्या" (द प्राब्लम आफ ए नेशनल स्क्रिप्ट फार इण्डिया)। यह लेख सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक ने भारत को राष्ट्रीय लिपि के रूप मे रोमन को स्वीकार करने की सलाह दी है। प्रो० जोन्स ने श्री फर्थ द्वारा तैयार की हुई रोमन लिपि को भारत में राष्ट्रीय लिपि के रूप में स्वीकार करने की संस्तुति की है। इस पुस्तिका में हिन्दुस्तानी, मराठी, गुजराती, तमिल एवं तेलुगु वर्णों के रोमन लिप्यन्तरण दिये गये हैं तथा इनके लिखित नमूने प्रस्तुत किये गये हैं। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर पंडित जवाहर लाल नेहरू के भाषण 'ज़बान का मसला' को रोमनलिपि में मुद्रित कर नमूने के रूप में दिया गया है।

सन् १९४७ ई० के अगस्त में, भारत स्वतन्त्र हुआ तथा देश के लिये जो संविधान बना, उसमें देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को भारत की राज्यभाषा स्वीकार,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में रोमनलिपि की चर्चा बन्द हो गयी तथा देवनागरी को सम्पूर्ण देश के लिये, सामान्य लिपि के रूप में स्वीकृति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसके लिये १०, ११, १२ अगस्त, सन् १९६१ ई० में विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों और केन्द्रीय मंत्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। सम्मेलन ने एकमत होकर यह राय दी कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिये एक सामान्य लिपि का होना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक है, क्योंकि ऐसी लिपि भारतीय भाषाओं के बीच एक सेतु का काम करेगी और उससे भी भावात्मक एकता को बढ़ावा मिलेगा। सम्मेलन की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए देवनागरी लिपि ही ऐसी लिपि हो सकती है।

देवनागरी में नवीन प्रतीकों का समावेश

देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि का स्वरूप और क्षमता देने के उद्देश्य से उसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के लिये नवीन प्रतीकों का समावेश आवश्यक था। इस कार्य के लिए सन् १९ १ में भारत सरकार ने भाषाविद् समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी सिफारिशें सरकार के पास भेज दीं और अन्त में सरकार ने इन्हें स्वीकार भी कर लिया।

मानक देवनागरी (जिसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों का भी समावेश है) तथा समस्त भारतीय भाषाओं के लिए "सामान्य राष्ट्रलिपि", तथा 'परिवर्द्धित देवनागरी" नाम की दो पुस्तिकाएँ, नवम्बर सन् १९६६ में, भारत सरकार ने प्रकाशित की तथा समस्त देश के चुने हुए विद्वानों की दिल्ली में एक सभा बुलाकर उनकी स्वीकृति-प्राप्त की। दूसरी पुस्तिका में, सरकार ने अपने निर्णयों की व्यावहारिकता दर्शाने के लिए भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित चौदह भाषाओं में लिखि अनुच्छेद ३५१ का देवनागरी लिप्यंतरण भी दिया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१०

लिप्यंतरण—सिद्धान्त तथा प्रयोग

रामप्रकाश सक्सेना नागपुर

['लिप्यंतरण—सिद्धान्त तथा प्रयोग—शीर्षक लेख में डॉ० सक्सेना ने लिप्यंतरण सिद्धान्त और प्रविधि पर प्रकाश डाला है। इन्होंने लिप्यंतरण और अनुवाद के तर को स्पष्ट करते हुए उसके स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की है।] —सं०

लिप्यंतरण के लिए इंग्लिश में 'Transliteration' शब्द का प्रयोग होता है। पि का अंतर ही लिप्यंतरण है। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक "भाषा-ज्ञान कोश" के पृष्ठ ५७६ पर इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"किसी रचना या मग्री को एक लिपि से दूसरी में करना 'लिप्यंतरण' है।" 'द न्यू एनसाइक्लोपीडिया टैनिका' जिल्द १०, १५वाँ संस्करण, १९६४ के पृष्ठ ६३ पर लिप्यंतरण को इस कार परिभाषित किया गया है—"किसी भाषा के स्वनों, शब्दों या उच्चारों की री भाषा की लेखन-व्यवस्था में प्रयुक्त प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति लिप्यंतरण है।"

नुवाद और लिप्यंतरण

डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक "अनुवाद विज्ञान" में पृष्ठ १७ व पर अनुवाद को इसप्रकार परिभाषित किया है—"एक भाषा में व्यक्त विचारों यथासंभव समान और सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरी भाषा में व्यक्त करने का स अनुवाद है।" .... "भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था है और अनुवाद न्हीं प्रतीकों का प्रतिस्थापन, अर्थात् एक भाषा के प्रतीकों के स्थान पर दूसरी भाषा निकटतम (कथनतः और कथ्यतः) समतुल्य और सहज प्रतीकों का प्रयोग।"

मोटे रूप में अनुवाद और लिप्यंतरण में तीन अंतर हैं—

१. अनुवाद मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। परन्तु लिप्यंतरण सम्बन्ध केवल लिखित से होता है।

२—अनुवाद में भाषा बदल जाती है, लिप्यंतरण में यह अनिवार्य नहीं है। हरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। "उमा शाला जाती है" का इंग्लिश वाद होगा—"Uma goes to the School."। किन्तु हम प्रथम वाक्य को रोमन पि (Uma shala jati hai) में भी लिख सकते हैं। इसीप्रकार हम इंग्लिश अनुवाद देवनागरी लिपि में भी लिख सकते हैं—"उमा गोज टु द स्कूल।" इससे यह स्पष्ट ता है कि अनुवाद में यह आवश्यक नहीं है कि लिपि बदले और लिप्यंतरण में यह वश्यक नहीं है कि भाषा बदले।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। कभी-कभी एक से अधिक भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जाती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दी, मराठी, संस्कृत और नेपाली देवनागरी में तथा इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन, इतालियन आदि भाषाएँ रोमन लिपि में लिखी जाती हैं। सामान्यरूप से यह कहा जाता है कि यदि हम हिन्दी का अनुवाद मराठी में करें तो भाषा बदलेगी लिपि नहीं। किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यदि एक से अधिक भाषाओं द्वारा एक ही लिपि का प्रयोग किया जाता है तो भी प्रत्येक भाषा की लिपि एक स्वतंत्र व्यवस्था होती है। अतः यह कहना अधिक वैज्ञानिक होगा कि इनको भिन्न लिपि ही माना जाए, यथा–हिन्दी देवनागरी व मराठी देवनागरी, इंग्लिश रोमन व फ्रेंच रोमन। यदि दो भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जाती हों, तो निम्नलिखित अंतर द्रष्टव्य हैं—

१. दोनों में वर्णों की संख्या या तो बराबर नहीं होती (जैसे मराठी में 'ळ' है हिन्दी में नहीं) या बराबर हों भी तो उनमें विशेषक चिह्न द्वारा कुछ न कुछ अंतर अवश्य होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में 'क, ख, ग, ज, फ' के नीचे नुक़ता का प्रयोग होता—क़, ख़, ग़, ज़, फ़ मराठी व संस्कृत में नहीं। इसीप्रकार जर्मन में कुछ स्वर वर्णों के ऊपर दो बिंदियों का प्रयोग किया जाता है—ö, ü, इंग्लिश व फ्रेंच में नहीं।

२. दोनों में वर्णों का संयोग भिन्न हो सकता है।

३. कुछ वर्णों का स्वनात्मक मूल्य दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न हो सकता है, जैसे—

वर्ण	स्वनात्मक मूल्य	
	हिन्दी	मराठी
ज्ञ	ग्य / ग्ग्य	द्न्य
	इंग्लिश	फ्रेंच
d	घोष, वर्त्स्य स्पर्श	घोष, दंत्य स्पर्श

४. अनुवाद में यह आवश्यक नहीं है कि लिप्यंतरण की आवश्यकता पड़े। उदाहरणार्थ, "वह जा रहा है" का इंग्लिश अनुवाद किया जाए, तो लिप्यंतरण की आवश्यकता न होगी। किन्तु यदि "मोहन योगासन का अभ्यास करता है" का इंग्लिश में अनुवाद किया जाए, तो 'मोहन' और 'योगासन' का अनुवाद न होकर उनका केवल लिप्यंतरण होगा, चाहे यह कितना ही अपूर्ण क्यों न हो।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिलेखन तथा लिप्यंतरण

स्रोत भाषा के शब्द की वर्तनी पर ध्यान न देकर उसके उच्चारण को आधार मानकर लक्ष्य भाषा में उस उच्चारण के अनुरूप लिखना प्रतिलेखन है। इसमें प्रत्येक वर्ण के प्रतिस्थापन पर ध्यान नहीं जाता। उदाहरणार्थ 'Rousseau' का उच्चारण स्रोत भाषा (अर्थात् फ्रेंच में) 'रूसो' जैसा है। अतः हिन्दी में इसे 'रूसो' लिखना। स्रोत भाषा की वर्तनी मे प्रयुक्त वर्णों के स्थान पर लक्ष्य भाषा में प्राप्त समस्वनीय वर्णों का प्रयोग करना लिप्यंतरण है। उदाहरणार्थ, रोमन में लिखित 'film' के लिए देवनागरी में 'फ़िल्म' लिखना लिप्यंतरण है।

लिप्यंतरण की आवश्यकता

लिप्यंतरण की आवश्यकता कई परिस्थितियों में पड़ सकती है। इनको अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) जब कोई लिखित भाषा किसी सामाजिक, राजनीतिक तथा भाषिक कारणों से दूसरी लिपि को अपनाती है; यह स्थिति भी कई प्रकार की हो सकती है।

(क) किसी सामाजिक या राजनीतिक या दोनों कारणों से कोई भाषा अपनी प्रचलित लिपि को छोड़कर नई लिपि को अपना ले। जैसे तुर्की ने १९२८ में अरबी लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को अपना लिया था।

(ख) जब कोई भाषा व उसकी लिपि अप्रचलित या लुप्तप्राय हो जाती है, तो पूरी भाषा किसी प्रचलित नई लिपि में लिख ली जाती है। उदाहरणार्थ, इजिप्शियन, अक्खादियन एवं सुमेरियन शिलालेखों को उनकी लिपि का अर्थ समझने के बाद रोमन लिपि में लिख लिया गया।

(ग) द्वितीय भाषा-शिक्षण में छात्रों की सुविधा के लिए लक्ष्य भाषा को छात्रों की पूर्व सीखी हुई लिपि में लिप्यंतरित कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ, इंग्लिश भाषियों को हिन्दी सिखाने के लिए आरंभ में रोमन लिपि का प्रयोग किया जाता है। जब संस्कृत यूरोप में पहुँची, उस समय वहाँ के लोग देवनागरी, ब्राह्मी आदि लिपियाँ नहीं जानते थे। अतः उन्होंने संस्कृत का अध्ययन रोमन लिपि में लिप्यंतरित करने के बाद किया।

(घ) तुलनात्मक या व्यतिरेकी अध्ययन के लिए लक्ष्य भाषा को अनुसंधित्सु अपनी सीखी हुई लिपि में लिप्यंतरित कर लेता है।

प्रथम दो (क और ख) द्वितीय दो (ग और घ) से इसरूप में भिन्न हैं कि प्रथम दो में पुरानी लिपि त्याग दी जाती हैं, अर्थात् उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह जाता है। द्वितीय दो में दोनों लिपियों का प्रयोग चलता रहता है। कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि एक ही भाषा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखी जाती है। प्राचीन काल में भारत के उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में संस्कृत खरोष्ठी लिपि में तथा अन्यत्र ब्राह्मी लिपि में लिखी जाती थी। १६वीं से १८वीं शताब्दी के बीच का मराठी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य देवनागरी लिपि में तथा मराठी के दस्तावेज मोड़ी लिपि में उपलब्ध हैं। आधुनिक युग में भारत में पंजाबी गुरुमुखी लिपि में तथा पाकिस्तान में अरबी-फारसी लिपि में लिखी जाती है।

(2) जब एक भाषा दूसरी भाषा में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तथा उद्धरणों को अपनी लिपि में लिखती है।

(३) जब कोई भाषा आगत शब्दों या आगत-मिश्र शब्दों को लिखती है।

इन तीनों वर्गों के लिप्यंतरणों में अंतर प्रमुखतः इसप्रकार हैं—

प्रथम वर्ग के लिप्यंतरण में लिप्यंतरित भाषा के कुछ स्वनों, जो नई लिपि में नहीं लिखे जा सकते, के लिए नवीन वर्णों या वर्ण-युग्म या विशेषक चिह्नों या इन सबको अपना लिया जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में 'आ, ट' आदि के लिए रोमन लिपि में '*a, ṭ*' आदि वर्णों का समावेश कर लिया गया। देवनागरी में उर्दू के कुछ स्वनों के लिए 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' तथा इंग्लिश के लिए 'ऑ' वर्णों को सम्मिलित कर लिया गया। कभी-कभी कुछ वर्णों को हटा भी दिया जाता है, जैसे संस्कृत लिखने में रोमन के 'q' आदि वर्गों की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु ऐसा बहुत कम होता है। उर्दू में अरबी और फारसी (जिसकी लिपि उर्दू ने अपनाई है) के बहुत से वर्णों (जैसे-- से, ऐन, स्वाद, तो, जो, ज्वाद, जाल) की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी उर्दू में इनका प्रयोग होता है। द्वितीय वर्ग के लिप्यंतरण में कभी-कभी कुछ शब्दों (व्यक्तिवाचक संज्ञा आदि) के कुछ स्वनों को दूसरी लिपि में अभिव्यक्त करना संभव नहीं हो पाता। ऐसी दशा में प्रथम की भाँति नए वर्णों का सहारा नहीं लिया जाता, किन्तु उन वर्णों का चयन किया जाता है जिनसे समीपतम संभव या मिलती-जुलती ध्वनि प्रकट होती है। तीसरे वर्ग में साधारणतया आगत शब्द आगत भाषा की स्वनिमिक व्यवस्था के अनुसार अपना रूप बदल लेता है। किंतु कभी-कभी जब आगत शब्दों की संख्या बहुत अधिक होती है, तो आगत भाषा की स्वनिमिक व्यवस्था में भी अंतर आ जाता है और नए स्वनों को लिखने के लिए नए वर्ण भी अपना लिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, मराठी में 'अ' और हिन्दी तथा मराठी में 'ऑ' वर्णों का समावेश कर लिया गया है।

इनमें प्रथम को "संपूर्ण", द्वितीय को "प्रासंगिक" तथा तृतीय को "समीकृत" लिप्यंतरण की संज्ञा दी जा सकती है। अंतिम वास्तव में लिप्यंतरण की सीमान्त स्थिति है। इस लेख में प्रथम से सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर प्रकाश डाला जा रहा है।

सम्पूर्ण लिप्यंतरण

जैसा पहले कहा जा चुका है कि संपूर्ण लिप्यंतरण में दूसरी लिपि के प्रत्येक वर्ण या संयुक्त वर्ण को लिप्यंतरित भाषा की स्वनिमिक व्यवस्था के अनुकूल स्वनात्मक मूल्य प्रदान कर दिया जाता है। ऐसी दशा में नए स्वनों को, जो नई लिपि में नहीं लिखे जा सकते, अभिव्यक्त करने के लिए कुछ अतिरिक्त वर्णों की आवश्यकता महसूस होती है। इस समस्या को दो प्रकार से हल किया जा सकता है—(१) नए वर्णों का निर्माण कर। इन्हें पुराने वर्णों में कुछ विशेषक चिह्न लगाकर बनाया जा सकता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(यथा--क़, ज़, आदि) या पुराने वर्णों में ही कुछ हेर-फेर कर काम चलाया जा सकता है। (२) एक से अधिक वर्णों से किसी एक स्वनिम को व्यक्त कर। रोमन लिपि में महाप्राण स्वनिमों को व्यक्त करने के लिए वर्ण नहीं हैं। अतः रोमन में इनको व्यक्त करने के लिए अल्पप्राण द्योतक वर्ण में 'h' वर्ण जड़ो दिया जाता है (यथा ख = kh, घ = gh इत्यादि)। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लिप्यंतरित भाषा के लिए नई लिपि के कुछ वर्ण अतिरिक्त हो जाते हैं, यथा--संस्कृत को रोमन लिपि में लिखते समय 'z' वर्ण अतिरिक्त है। ऐसे वर्णों को निकाल दिया जाता है। पर वास्तव में ऐसा कम ही होता है। उर्दू के लिए अरबी-फारसी लिपि के बहुत से वर्ण (यथा--'से, ऐन, स्वाद' आदि) अतिरिक्त हैं, फिर भी ये प्रयुक्त होते हैं।

सम्पूर्ण लिप्यंतरण के लिए सिद्धान्त

जब एक भाषा को दूसरी लिपि में लिप्यंतरित किया जाता है, तो दो में से किसी एक सिद्धान्त का पालन किया जाता है। ये सिद्धान्त निम्नांकित हैं--

(१) स्वनिम या स्वन को आधार मानकर लिप्यंतरित भाषा के स्वनिमिक व्यवस्था के अनुसार नई लिपि के प्रत्येक वर्ण या संयुक्त वर्ण के लिए एक स्वनात्मक मूल्य निश्चित किया जाए। जब रोमन लिपि में संस्कृत लिखी गई, तो इसी सिद्धान्त का पालन किया गया। उदाहरणार्थ, देवनागरी में 'ज्ञ' एक वर्ण है, किन्तु इसका स्वनात्मक मूल्य 'ज् + ञ + अ' है, अर्थात् ३ स्वन। अतः रोमन लिपि में यह तीन वर्णों द्वारा लिखा जाता है--'jna'।

(२) इसके विपरीत, नई लिपि के वर्णों के स्वनात्मक मूल्य का ध्यान न रखते हुए एक वर्ण के स्थान पर दूसरी लिपि के संवादी वर्ण का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि बँगला के 'क्षुधा' और 'शिक्षक' को देवनागरी में लिखा जाए, तो 'क्षुदा' और 'शिक्षक' ही लिखा जाए, यद्यपि बंगला में 'क्ष' वर्ण का स्वनात्मक मूल्य शब्दारंभ में (ख) है और अन्यत्र (क्ख)। यदि देवनागरी में इन्हें उच्चारणानुसार रखना हो, तो 'खुदा' और 'शिक्खॉक' लिखा जायगा।

ऐसा देखा गया है कि प्रथम सिद्धान्त का परिपालन तब किया जाता है जब लिप्यंतरित भाषा की लिपि व दूसरी लिपि, जिसमें लिप्यंतरण किया जा रहा है, भिन्न प्रकार की हों। उदाहरणार्थ, रोमन लिपि वर्णात्मक है और देवनागरी अक्षरात्मक। अतः यहाँ प्रथम सिद्धान्त के परिपालन की परम्परा है। दूसरे सिद्धान्त का परिपालन तब होता है जब दोनों लिपियों का स्रोत एक ही हो। उदाहरणार्थ, देवनागरी और बंगला लिपियों का स्रोत ब्राह्मी है। अतः इनके लिप्यंतरण में दूसरे सिद्धान्त का परिपालन किया जाता है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने जब भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में लिखने की बात कही थी, तो उनकी राय यही थी कि वर्णानुसार प्रतिस्थापन कर दिया जाए, न कि उच्चारणानुसार।

रोमन लिपि तथा उसमें लिप्यंतरण

संप्रति रोमन लिपि संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण लिपि है। इसकी उत्पत्ति पुरानी सामी लिपि की उत्तरी शाखा से हुई है। विकास-क्रम इसप्रकार है--उत्तरी सामी, आर्मेइक, एशियानिक, यूनानी, एट्रुस्कन, रोमन। एट्रुस्कन में कुल २६ वर्ण थे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोमन ने लैटिन के स्वनों के आवश्यकतानुसार २१ वर्ण लिए। आगे चलकर ग्रीक लिपि से दो वर्ण 'y' व 'z' और लिए गए। मध्य युग में इसमें ३ वर्ण 'j, u' और 'w' और बढ़ाए गए। इसप्रकार रोमन में २६ वर्ण हो गए। इस लिपि को यूरोप तथा अन्य महाद्वीपों के कई राष्ट्रों ने अपनी भाषाओं के लिए अपना लिया। इंग्लिश, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश, जर्मन, पुर्तगाली, रूमानियन, चेक, पोलिश भाषाएँ, इसी लिपि में लिखि जाती हैं। १९२८ से तुर्की भी इसी लिपि में लिखी जाती है। संप्रति कुछ अफ्रीकी भाषाएँ और अन्य महाद्वीपों की जनजातीय भाषाएँ रोमन लिपी में ही लिखी जाती हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत की भाषाओं के लिए रोमन लिपि की चर्चा चली थी। इस सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे जिनका उल्लेख यहाँ समीचीन होगा। एक लेख डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का है। यह लेख १९३५ ईसवी में कलकत्ता विश्वविद्यालय के शोध-पत्र 'डिपार्टमेंट ऑव लेटर्ज' भाग २७ में "भारत के लिए रोमन लिपि" नामक शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस लेख में डॉ० चाटुर्ज्या ने भारत की सभी भाषाओं को रोमन लिपि में लिखने का प्रस्ताव दिया है। आपने इन भाषाओं के लिए प्रयुक्त लिपियों को रोमन में लिप्यंतरित करके उदाहरण भी दिए हैं। दूसरा लेख जो १९४२ ईसवी में एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ, प्रो० डेनियल जोन्स का है। इसका शीर्षक है "भारत के लिए राष्ट्रीय लिपि की समस्या"। इसमें लेखक ने रोमन लिपि को भारत में राष्ट्रीय लिपि के रूप में स्वीकार करने की संस्तुति की है। इस पुस्तिका में भारत की कुछ भाषाओं के वर्णों के रोमन लिप्यंतरण दिए हैं तथा उनके लिखित नमूने प्रस्तुत किए हैं। पुस्तक के अंतिम पृष्ठ पर श्री जवाहर लाल नेहरू के भाषण "जबान का मसला" को रोमन लिपि में लिप्यंतरित कर लिखा है। स्वतंत्रता के बाद भारत के लिए रोमन लिपि की चर्चा लगभग बंद हो गई।

रोमन लिपि वर्णात्मक है और भारत की सभी लिपियाँ जो ब्राह्मी से विकसित हुई हैं, आक्षरिक हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से रोमन लिपि आक्षरिक लिपियों से अच्छी है। फिर भी किसी देश के लिए कौन-सी लिपि श्रेष्ठ है, इसके लिए केवल इस प्रकार का वैज्ञानिक आधार ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अन्य बातों का भी ध्यान रखा जाता है। यह समस्या वैज्ञानिक न होकर समाज-भाषावैज्ञानिक अधिक है।

हमारे देश में रोमन लिपि की अवैज्ञानिकता तथा देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए तथाकथित विद्वानों द्वारा जो तर्क दिए जाते हैं, उनकी चर्चा करना समीचीन प्रतीत होता है। इनके द्वारा एक बहुप्रचलित उदाहरण दिया जाता है। इंग्लिश में 'बी-यू-टी' (बट्) होता है और 'पी-यू-टी' (पुट्), जबकि देवनागरी में जैसा लिखा जाता है, वैसा पढ़ा जाता है। वास्तव में यह तर्क इस बात का द्योतक है कि शिक्षित लोग भी लिपि और वर्तनी में अंतर नहीं कर पाते। इंग्लिश का उपर्युक्त उदाहरण इस भाषा की वर्तनी की अवैज्ञानिकता का है, न कि रोमन लिपि की अवैज्ञानिकता का। जर्मन भी रोमन लिपि में लिखी जाती है, पर वहाँ वर्तनी की अराजकता इंग्लिश की भाँति नहीं है। इसके दूसरे छोर पर फ्रेंच है, जहाँ वर्तनी की अराजकता इंग्लिश से कहीं अधिक है। फ्रेंच में तो वर्तनी और उच्चारण में तालमेल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बैठाना एक समस्या है। तुर्की भी रोमन लिपि में लिखी जाती है, पर यहाँ वर्तनी लगभग शत-प्रतिशत वैज्ञानिक है। अब हम इस तर्क पर आते हैं कि देवनागरी में जैसा लिखा जाता है, वैसा पढ़ा जाता है। "वैल" शब्द को मराठी भाषी "वइल" पढ़ता है। एक और शब्द लीजिए। "संगमरमर" को मराठी में "संगमरवर" कहते हैं। मैंने यह शब्द कई हिन्दी भाषियों से पढ़वाया। उन्होंने इसे (संग्-मर्-मर्) पढ़ा, जबकि मराठी में इसका उच्चारण (संगम्-रवर्) है। दूसरे, हम 'but' शब्द को लेते हैं। इसमें ३ स्वन हैं। इसमें दूसरा स्वन पश्च, अगोलित, अर्ध-विवृत है जो देवनागरी में नहीं लिखा जा सकता। इसमे तीसरा स्वन वर्त्स्य स्पर्श है, हिन्दी की भाँति मूर्धन्य नहीं। अतः यह भी देवनागरी में नहीं लिखा जा सकता। यहाँ हमने देखा कि इस प्रकार के ओछे तर्क हमारी भावुकता की संतुष्टि के लिए भले ही ठीक हों, पर तर्क के ठोस धरातल पर खरे नहीं उतरते।

भाषा और लिपि अहम सवाल हैं। इन पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। किसी सही बात की पुष्टि के लिए गलत तर्क देना अवैज्ञानिक तो है ही, साथ ही दीर्घकाल में इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के कथन भाषा से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों की अनभिज्ञता के द्योतक हैं। इसप्रकार के कथन कितने भ्रामक हैं और अशिक्षित व अर्ध-शिक्षित नेताओं और जनता को कितना गुमराह करते हैं, इसका आकलन केवल भाषाविज्ञ ही कर सकता है। किसी विषय पर जब भ्रामक प्रचार बहुत अधिक हो जाता है तब उस विषय पर वस्तुनिष्ठ अध्ययन की प्रक्रिया में कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक ही है। इसीप्रकार की कुछ गलत धारणाएँ हिन्दी व देवनागरी के विषय में दक्षिण भारतीय भाषाभाषियों में फैलाई गई है।

देवनागरी व उसमें भारतीय भाषाओं का लिप्यंतरण

भारतीय संविधान ने, जो २६ जनवरी, १९५० को लागू हुआ, देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को भारत की राजभाषा स्वीकार किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में हमारी भाषाओं के लिए रोमन लिपि की चर्चा बंद हो गई तथा संपूर्ण देश के लिए एक सामान्य लिपि के रूप में देवनागरी की स्वीकृति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसके लिए १०, ११, व १२ अगस्त, १९६१ ईसवी को विभिन्न राज्यों के मुख्य मंत्रियों तथा केन्द्रीय मंत्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। सम्मेलन ने एकमत होकर यह राय दी कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि का होना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है क्योंकि ऐसी लिपि सभी भारतीय भाषाओं के बीच एक सेतु का काम करेगी और उससे भी अधिक, भावात्मक एकता को बढ़ावा मिलेगा। सम्मेलन के अनुसार वर्तमान परिस्थितियों में देवनागरी लिपि ही ऐसी लिपि हो सकती है।

देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि का स्वरूप और क्षमता प्रदान करने के उद्देश्य से इसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के लिए नवीन प्रतीकों का समावेश किया गया। भारत सरकार ने नवम्बर, १९६६ में "मानक देवनागरी" (जिसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियो का भी समावेश है) तथा "परिवर्धित देवनागरी" नाम की दो पुस्तकाएँ प्रकाशित कीं। दूसरी पुस्तिका में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सरकार ने अपने निर्णयों की व्यावहारिकता दर्शाने के लिए भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित चौदह भाषाओं में लिखित अनुच्छेद ३५१ का देवनागरी लिप्यंतरण भी दिया है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय से प्रकाशित त्रैमासिक 'भाषा' तथा नागरी लिपि परिषद्, दिल्ली से प्रकाशित त्रैमासिक 'नागरी संगम' में अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यिक अंशों का देवनागरी लिप्यंतरण दिया जाता है। कुछ अन्य व्यक्तियों ने भी कुछ पुस्तकों का देवनागरी लिप्यंतरण किया है।[1]

भारत में अरबी-फारसी लिपि को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं की लिपियों की वर्णमाला समान है (तमिल में भी वर्णों की संख्या कम है)। उनका क्रम भी मिलता-जुलता है। इन सबका मूल आधार ब्राह्मी लिपि ही है। देवनागरी लिपि ही देश में सबसे अधिक प्रचलित लिपि है। संस्कृत, हिन्दी और मराठी भाषाएँ तो इसमें लिखी ही जाती हैं, नेपाली भी देवनागरी में लिखी जाती है। सिंधी, कश्मीरी और कोकणी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखे जाने का प्रयास काफी सफल रहा है। संप्रति भारत के उत्तर-पूर्व के एक कबीले की बोली "बोर्डो" भी देवनागरी लिपि में लिखी जाने लगी है। इसप्रकार हम देखते हैं कि भारत में देवनागरी ही एक जोड़ लिपि का काम कर सकती है।

सभी भारतीय भाषाओं के देवनागरी लिप्यंतरण का कार्य प्रारम्भ में उन लोगो को अपने हाथ में लेना चाहिए जो भाषाविज्ञ हों तथा जिनको देवनागरी के साथ-साथ उस भाषा का भी पूर्ण ज्ञान हो जिसका देवनागरी में लिप्यंतरण किया जा रहा हो। यह कार्य मिशनरी भावना से करना होगा। यह कार्य बहुत कठिन तो नहीं, फिर भी इसको नौसिखियों के हाथ में नहीं छोड़ना चाहिए। यदि भारत की सभी भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाएँ, तो इससे देश में भावात्मक एकता बढ़ेगी और ज्ञान के क्षेत्र में भी संपूर्ण राष्ट्र लाभान्वित होगा। इसके लाभ निकट भविष्य में चाहे कम दिखाई दें, पर दीर्घकाल में इससे बहुत लाभ होंगे।

यदि अन्य भारतीय भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाएँ, तो निम्नांकित बातों का ध्यान रखना होगा—

(१) कुछ भाषाओं के लिए देवनागरी में नए वर्णों की आवश्यकता होगी। उदाहरणार्थ, तेलुगु के लिए ह्रस्व 'ए' तथा ह्रस्व 'ओ' के लिए चिह्न चाहिए। भारत सरकार ने देवनागरी टाइपराइटर में भी इन स्वरों के ह्रस्व रूप के लिए एक चिह्न की व्यवस्था की है।

(२) नए वर्ण कई प्रकार से बनाए जा सकते हैं। पुराने वर्णों में विशेषक चिह्न लगाकर नए वर्णों का निर्माण किया जा सकता है। देवनागरी में यह तरीका पहले से ही सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है, जैसे—क़, ग़, ज़, आदि।

---

१. इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी पुस्तक "भारतीय भाषाओं में लिप्यंतरण" भाग १ में भारतीय भाषाओं को देवनागरी में लिखने के विषय में विस्तार से चर्चा की है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) कुछ भाषाओं के लिए देवनागरी के कुछ वर्ण अतिरिक्त भी हैं। ऐसे वर्णों को उन भाषाओं के लिए प्रयुक्त देवनागरी में जारी रखने का कोई औचित्य नहीं है।

(४) प्रत्येक वर्ण का स्वनात्मक मूल्य हिन्दी से निर्णीत न होकर लिप्यंतरित भाषा के संदर्भ में ही निश्चित करना उचित व वैज्ञानिक होगा। उदाहरणार्थ, बंगला के संदर्भ में 'क्ष' का स्वनात्मक मूल्य (ख) तथा (क्ख) ही मानना होगा, न कि हिन्दी की भाँति (क्श)।

(५) प्रत्येक भाषा के संदर्भ में उपस्थित समस्याओं पर पृथक्-पृथक् विचार करना ही समीचीन होगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

११

अर्थविज्ञान

सुरेश कुमार वर्मा

["अर्थविज्ञान" शीर्षक शोध लेख के अन्तर्गत डॉ० वर्मा ने इसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। इन्होंने अर्थतत्त्व (विशेष रूप से प्राचीन भारतीय अर्थतत्त्व) पर पारम्परिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है]। —सं०

अर्थतत्व-सम्बन्धी विचारणा

शब्दों के अर्थ-विषयक ज्ञान का अपरिपक्व प्रारम्भ सर्वप्रथक ब्राह्मण ग्रंथों से दृष्टव्य है। यहाँ कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति देने एवं अर्थ समझने का प्रयत्न किया गया है। उनकी व्युत्पत्तियाँ कहीं-कहीं कल्पना पर आश्रित हैं। वैदिक काल में, जब वैदिक भाषा और जनसाधारण की भाषा में अंतर आने लगा था, तब संहिताओं की भाषा को शुद्ध बनाये रखने के लिए वैदिक ऋषियों ने पद-पाठ सौर प्रातिशाख्यों की रचना की तथा अर्थ के अध्ययन की दृष्टि से वैदिक शब्दों के संग्रह-ग्रंथ बनाये। वैदिक शब्दों के इन संकलनों को 'निघण्टु' कहा जाता है। आजकल केवल एक निघण्टु उपलब्ध है जिसकी व्याख्या के लिए मुनिवर यास्क ने 'निरुक्त की रचना की। यह निरुक्त अर्थ-विज्ञान पर विश्व का प्रथम ग्रंथ है। निरुक्तकार ने 'निघण्टु' के प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया है।

यास्क ने अर्थविज्ञान की कतिपय मौलिक समस्याओं पर विचार किया है। इनमें पदार्थों के नामकरण की समस्या एक है। उनके मत से समस्त नाम धातुज हैं। किसी पदार्थ को प्रदत्त नाम उस पदार्थ की अनेक क्रियाओं में से चयित एक क्रिया पर आधारित रहता है। यास्क जिज्ञासा करते हैं कि यदि सब नाम धातुज हैं, तो जो भी प्राणी उस धातुमूलक क्रिया को सम्पन्न करे, उस प्राणी को उसी नाम से अभिहित किया जाय। प्रत्येक प्राणी को जो दौड़ता है 'अश्व' (√अश: पहुँचना, व्याप्त करना) और चुभने वाली प्रत्येक वस्तु को 'तृण' (६√तृ : चुभना) कहना चाहिए।

इसीप्रकार, यदि सभी धातुज हों, तो जो वस्तु जितनी क्रियाओं को सम्पादित करे, उतनी ही क्रियाओं से उसके नामों का ग्रहण होना चाहिये। यदि खम्भे को खड़ा होने के कारण 'स्थूणा' (स्था, तिष्ठतीति) कहा जाता है, तो गड्ढे में पढ़ा होने के कारण 'दरशया' और बल्लियों को सँभालने वाला होने के कारण 'संजनी' कहा जाना चाहिये। यास्क एक और जिज्ञासा प्रकट करते हैं—'यथो एतद् य: कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथा आक्षीरन्निति। पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भ-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मेकेषां नैकेषाम् । यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज इति ।' (निरुक्त, १.१४) एक ही क्रिया को सम्पन्न करने वाले सभी प्राणी उसी एक नाम से संबोध्य हों, किन्तु हम देखते हैं कि उनमें से मात्र कुछ को ही उस क्रिया के कर्त्ता की संज्ञा प्राप्त होती है। 'तक्षा' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—लकड़ी काटने वाला, किन्तु लकड़ी काटने वाले प्रत्येक व्यक्ति का तक्षा नहीं कहा जाता। मात्र 'बढ़ई' को ही 'तक्षा' कहा जाता है। इसीप्रकार 'परिव्राजक' (घूमनेवाला) एवं 'जीवन' (जिलाने वाला) क्रमशः संन्यासी और ईख का रस को ही कहते हैं। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के कितनी ही क्रियाओं से सम्बद्ध होने पर भी उसका नाम किसी एक विशेष क्रिया के आधार पर पड़ जाता है।

नाम किसी वस्तु के एक अंश या क्रिया के आधार पर स्थित होने के कारण उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस नाम से आधेय वस्तु के समस्त गुणों या उसकी समस्त क्रियाओं का बोध नहीं होता। इसीलिए यास्क ने नामों को अपूर्ण माना है। उनकी इस धारणा का आधुनिक अर्थ वैज्ञानिक ब्रील की मान्यता से अद्भुत साम्य है। ब्रील भी नाम को इसी आधार पर अपूर्ण मानते हैं कि उसके द्वारा वस्तु के सभी आयामों को अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती। इसके अतिरिक्त, जब वह नाम आधेय क्रिया को सम्पादित नहीं करता, तब भी उसका नाम वही चलता रहता है। बादल वर्षा न करें, तो भी 'जलद' कहे जाते हैं। नाम वस्तु-जगत् के अंश मात्र को व्यक्त करता है और दूसरे महत्त्वपूर्ण अंशों का स्पर्श भी नहीं करता। 'संध्या' कहने वाले मात्र रात और दिन की सन्धि को व्यक्त न करके काल, स्थान और प्राणि-जगत् की नाना प्रकार की बातों की ओर संकेत करना चाहते हैं। भाषा अपनी सीमाओं के कारण वस्तु की क्रियाओं और गुणों को व्यक्त करते समय चुनाव को केन्द्रीय महत्त्व प्रदान करती है। एक वस्तु के निमित्त अनेक शब्दों की रचना के पीछे यह प्रवृत्ति कार्य करती है कि उस वस्तु की सभी क्रियाओं के द्योतन के लिए एक शब्द को अपूर्ण देखकर प्रयोक्ताओं ने अन्य क्रियाओं के प्रकाशन हेतु शब्दों को रचना करना भी अपेक्षित समझा।

आचार्य भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्म की धारणा को पुष्ट किया है। जिसप्रकार ब्रह्म में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अन्तर्भाव है, उसीप्रकार शब्द में धारणा, विस्तार और प्रत्यावर्तन के गुण द्रष्टव्य हैं। ये शब्द की शक्तियाँ हैं। ब्रह्म निराकर होकर भी सर्वशक्तिमान है। शब्द का वाह्यरूप सत्य नहीं है, वरन् प्रमुख आन्तरिक भावना है जो उसकी प्राणशक्ति है। शब्द निरन्तर विकासमान है। वह जिस अर्थ में आज प्रचलित है, कल नहीं हो सकता है और कालान्तर में पुराना अर्थ फिर शब्दासीन हो सकता है। इस परिवर्तन के बाद भी शब्द बृहणशील रहता है। वह किसी वाह्यशक्ति पर नहीं, अपनी आन्तरिक शक्ति—अर्थ—पर आश्रित है। इस अर्थ में गति, प्रतीति और विस्फीति होती है। 'वाक्य पदीयकार' शब्द तक ही नहीं रुक गये हैं। उसकी सार्थकता वाक्तत्त्व में समाहित होने में है।

अर्थ का अर्थ

अर्थ विशिष्ट प्रकार की इकाई है। किसी अभिव्यक्ति का अर्थ वास्तव में उसका अभिव्यक्त विचार-बोध ही है। उसका स्वरूप, प्रकरण, देशकाल, वाक्य, संगति आदि पर निर्भर करता है। इस स्थिति में केवल पद के मूल में जाकर धात्वर्थ खोजते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहना कहाँ तक न्यायसंगत होगा। फिर भी, धात्वर्थ का यह औचित्य तो सिद्ध होता ही है कि शब्द का एक केन्द्रीय अर्थ है। अनेक कारणों से दूसरे अर्थों की छायाएँ उसके इतस्ततः प्रकट हो जाती हैं। इसीलिए यह धारणा प्रचलित हो गई है कि शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक केन्द्रीय और दूसरा गौण। एक स्थिर रहता है, दूसरा गतिमान। कभी-कभी गौणार्थ इतना प्रमुख हो जाता है कि मूलार्थ का पता ही नहीं चलता। यथा—प्रवीण,कुशल, आपत्ति आदि। तब विकास के सोपानों को स्पष्ट करने के लिए शब्द के अंतःकरण तक पहुँचना आवश्यक होता है।

धात्वर्थ मूल अर्थ-भावना से सम्बद्ध होता है। धातु से शब्द निर्मित होते हैं और उनके साथ नवीन अर्थ-छायाएँ बनती हैं। मैक्समूलर ने भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हुए 'धातु' को भाषा का आदितत्त्व घोषित किया। संस्कृत में सर्वप्रथम १७०६ धातुओं के होने का अनुमान है। फिर उनकी संख्या ८१६ हो गई। यह संख्या और सीमित होकर ६३३ और फिर ५८७ हो गई। एक धातु से अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं। जब धातु के आत्मज नष्ट होने लगते हैं, तो अन्ततः वह धातु भी नष्ट हो जाती है।

भाषाओं में ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनकी धातुओं का पता नहीं चलता। कुछ ऐसे शब्द भी है जिनकी व्युत्पत्ति को धातुओं से सम्वद्ध नहीं किया जा सकता। इस श्रेणी में अनुकरणात्मक एवं विस्मयादिबोधक शब्द आते हैं। कलकल, फड़फड़ाना, चहचहाना, आह उफ आदि। ऐसे अनेक शब्द धातु से निष्पादित नहीं हुए हैं। अंग्रेजी में कुक्कू, क्लिक, हिस आदि शब्द इसी कोटि के हैं। ग्रीक ऐसे शब्द को आनुप्रासिक कहते थे जिससे उनका तात्पर्य कृत्रिम एवं स्वायत्त रचना से था।

मैक्समूलर ने धातु को भाषा के प्राणतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। भाषा के आदितत्त्व के रूप में धातु सिद्धान्त का महत्त्व खण्डित हो चुका है, फिर भी उससे दो विशिष्ट तथ्यों की ओर संकेत मिलता है। एक, भाषा वस्तून्मुखी न होकर, क्रियाओं को आधार मानकर चली है। दूसरा, शब्द का एक केन्द्रीय अर्थ है और धातु से निष्पन्न होने के बाद शब्द कितनी ही दूर जा पड़ा हो, उसका विकसित अर्थ केन्द्रीय अर्थ से किसी-न-किसी भूमिका पर अवश्य जुड़ा है। सम्पूर्ण व्युत्पत्तिशास्त्र इसी धारणा की नींव पर आश्रित है। कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि शब्द का वर्त्तमान अर्थ केन्द्रीय अर्थ से इतना वैभिन्न होता है कि सम्बद्धता खोजना सरल नहीं होता। वहाँ समझना चाहिये कि माध्यमिक कड़ियाँ विस्मृत हो गई हैं और मात्र उनका अनुमान ही लगाया जा सकता है। यह अनुमान शब्दार्थ की पुनःनिर्माण-प्रक्रिया को संचलित करेगा। संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण ढाँचा धातु-रचना पर निर्भर है। कुछ वर्ग की धातुएँ तो शुद्ध हैं, किन्तु कुछ वर्ग ऐसे भी मिलते हैं जिनकी धातुएँ शुद्ध नहीं हैं। चुसदिगण की धातुएँ द्रयन् है। 'संग्रामजैसे शब्दों की धातुएँ भी इसी वर्ग में परिगणित की जा सकती हैं। इस वर्ग की धातुएँ भी शुद्ध नहीं हैं। इनमें से अधिकांश तो स्वतन्त्र प्रतिपादिक हैं जिन्हें धातु-रूप में परिणत कर लिया गया है। 'अर्थ' धातु भी इन्हीं प्रातिपादिकों में से एक है। इसकी मूल धातु की खोज में पाणिनि भी असफल रहे हैं। फिर भी उन्होंने उसकी मूल भावना खोज निकाली है और धातु-पाठ में उसका अर्थ 'उपयाञ्चायाम्' दिया। तात्पर्य यह कि 'अर्थ' धातु का प्रयोग माँगने या माँगने की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रवृत्ति दिखाने के अर्थ में होता है और इसी से 'प्रार्थना' जैसे शब्दों का निर्माण होता है। अतः 'अर्थ' का धात्वर्थ 'उपयाञ्चा' रहा होगा। इसमें संदेह नहीं है कि यह धात्वर्थ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। वक्ता और श्रोता शब्द की दिशा में 'याञ्चा' की दृष्टि से पहुँचते हैं। यह 'याञ्चा' प्रयोग-भावना से जुड़ी है। इसलिए 'अर्थ' का मौलिक अर्थ हुआ 'माँग' या 'उपस्तुति'।

अर्थभेद

आधुनिक अर्थवैज्ञानिकों ने 'अर्थ' की सभी संभव दृष्टियों से व्याख्या की है। उसकी कोटियाँ निर्धारित की हैं, श्रेणियाँ बनाई हैं और उस मूल भावना तक पहुँचने का प्रयत्न किया है जिसे अर्थ कहते है। स्थूलरूप से अर्थ की दो कोटियाँ हैं। एक, जन-सामान्य द्वारा स्वीकृति कोशार्थ और दूसरा, भाषाशास्त्रीय अर्थ। इस दूसरे वर्ग के अन्तर्गत अर्थ के अनेक रूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।

परस्परागत तर्कशास्त्र ने शब्दार्थ के दो अंशों को स्वीकार किया है।

(क) निहितार्थ (डिनोटेशन)।

(ख) संकेतार्थ (कोनोटेशन)।

प्रायः प्रत्येक प्रतीक से ये दो अर्थांश निकाले जा सकते हैं। निहितार्थ वस्तु से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध है। यह वस्तु उस शब्दार्थ द्वारा सीधे व्यक्त की जाती है। संकेतार्थ का तात्पर्य ऐसे तत्त्वों से है जो शब्द के प्रयोग को निश्चित करते हैं। ये मूल या केन्द्रीय अर्थ से भिन्न हैं और एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग का कारण उसकी संकेतात्मक शक्ति है। इस प्रकार शब्द अर्थ की यात्रा पर निकलता है जिसे संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंजना-व्यापार के अन्तर्गत समाहित किया गया है। हिन्दी में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका अर्थ वस्तुमूलक नहीं है। अपनी भिन्न अर्थ-छायाओं के कारण ये शब्द वस्तु से परोक्षरूप से सम्बद्ध हैं। इन्हीं संकेतार्थों से शब्द के प्रयोग में लचीलापन आता है और उसे निहितार्थ का अन्तर्तत्त्व कहना चाहिये। ये शब्दों के शक्ति-स्रोत हैं, उनके व्यापकत्व-विधायक गुण हैं। निहितार्थ संकेतार्थ को निश्चित करता है, जबकि संकेतार्थ निहितार्थ को समझे जाने की ऊर्जा प्रदान करता है।

अर्थ के अन्य अनेक अर्थ भी प्रचलित हैं और प्रायः उसे दूसरे आशय या मन्तव्य का समानार्थी भी घोषित किया जाता है। कभी अर्थ को वस्तून्मुखी क्रिया के रूप में माना गया है और कभी वह इच्छा से अभिन्न रूप में स्वीकृत है, किन्तु दोनों से अर्थ कुछ भिन्न रूप लिये हुए हैं। अर्थ को मात्र वस्तून्मुख नहीं कह सकते। अनेक शब्द—कल्पना, ज्ञान, संतुलन, विचार आदि—भाववाचक हैं जिनके अर्थ अनिवार्यतः वस्तु स्फूर्त नहीं है। अर्थ इच्छा भी नहीं है। इच्छा में वस्तु-तत्त्व क्षीण है और वह अधिक व्यक्ति सापेक्ष है। अर्थ में सामाजिक तत्त्व की प्रधानता है जिसके कारण वक्ता-श्रोता के बीच पारस्परिक समझ की रचना संभव है। यह सामाजिकता, और इस दृष्टि से व्यक्ति-निरपेक्षता भाषा का महत्त्वपूर्ण गुण है जिससे लोक-सामान्य भूमिका का निर्माण होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ-सम्प्रेषण

जिन वस्तुओं के नामों से हम अपरिचित हैं, वे मानसपटल पर मात्र बिम्ब रूप में ही विद्यमान रहते है। ये विम्ब अलग-अलग मनुष्य में अलग-अलग इकाई के रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। जब ये भाषा तत्वों से संयुक्त होते हैं, तब उनका समाजीकरण होता है और वे सामान्य बोधों के रूप में स्वीकृत हो जाते हैं। शब्द में बोध के रूप में बिम्ब की प्रतिष्ठा अर्थ की रचना है। शब्द और अर्थ का यह संयोग वक्ता और श्रोता दोनो को ज्ञात रहता है। अपेक्षित अर्थ के अनुकूल शब्द-चयन वक्ता और श्रोता के मध्य प्रभावी सम्बन्ध की स्थापना का हेतु है। मनुष्य की व्यवसायित्मिका बुद्धि इतनी सजग है कि उसने दृश्य जगत् के बीच व्यवहार की सभी वस्तुओं का नामकरण कर दिया है और इन अर्थगर्भित नामांकनों का वह मुक्त रूप से प्रयोग करता है।

अर्थ-सम्प्रेषण के पाँच तत्त्व हैं—वक्ता, श्रोता, वस्तु, प्रतीक और निर्देश। इनमें से वक्ता और श्रोता अर्थ के दो पक्ष हैं। आश्रय और आलम्बन की भाँति इनकी स्थिति भी सापेक्ष है। वे एक विशिष्ट भाषा के वृहत् सामाजिक वर्ग के अंश हैं। अर्थ की दृष्टि से वक्ता की स्थिति दोहरी होती है। उसका वस्तु के प्रति एक दृष्टिकोण सामाजिक बोध से सादृश्य रखता है और दूसरा दृष्टिकोण नितान्त वैयक्तिक है जिसमें वह वस्तु को मात्र अपने मानसिक चक्षुओं से देखता है।

वस्तु-तत्त्व

वस्तु, प्रतीक और निर्देश शब्द-रचना में सहयोग देते हैं। वस्तु या दृश्य जगत् भाषा का मूलाधार है। सभ्यता की आदिम अवस्था में भाषा-तत्त्व दृश्य जगत् की वस्तुओं से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध थे। वस्तु-जगत् की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। जो भी इनकी उपेक्षा करता है, सत्य बिम्बों को अस्पष्ट कर देता है। वह शून्य शाब्दिकता के अरक्षित मार्ग में प्रवेश कर मन की हरितभूमि को बंजर बना देता है। अर्थ किसी वस्तु और उसके प्रतीक के सम्बन्ध-द्योतक हैं। इनमें दोहरा सम्बन्ध है। अपनी परम्परा में भाषा वस्तु से दूर हटती गई है और इसीलिए शब्द में उसका अंश क्षीण होता गया है। अर्थविज्ञान के जनक ब्रील का अभिमत है कि संज्ञाएँ वस्तु से सम्बद्ध चिह्न हैं। उनमें उतना ही सत्य है जितना किसी नाम में हो सकता है, उतना जो वस्तु के अनुपात में बहुत कम होता है। "An amount which is of necessarily small in proportion to the reality of the object." (An Essay on Semantics) भाववाचक संज्ञाएँ लगभग पूर्ण सत्य को प्रकट करती हैं, क्योंकि वे मन की एक विशिष्ट क्रिया को ही व्यक्त करती हैं। इनकी तुलना में वस्तुवाची संज्ञाएँ सीमित संकेत को प्रकट करती हैं। प्रत्यक्ष भौतिक वस्तु मन में जिन विचारों को जन्म देती हैं, कोई एक शब्द उन्हें उनकी सम्पूर्णता में व्यक्त नहीं कर सकता। विचार की अनेक तरंगों में से शब्द एक को ही चुनता है और मात्र उसका चिह्न बनकर रह जाता है।

प्रतीक

वस्तु को प्रकट करनेवाला नाम ही चिह्न या प्रतीक है। चिह्न वस्तु या संकेतक (रिंफरेंट) का प्रतीक है। दोनों के मध्य सीधा सम्बन्ध नहीं है। वे विचार या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निर्देश (रिफ़रेंस) के सेतु से सम्बद्ध हैं। इनका मानचित्र निम्नरूप से प्रस्तुत किया जा सकता है :

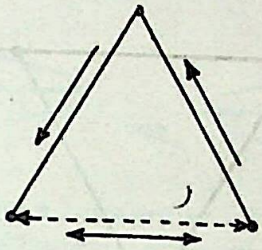

प्रत्यक्ष सम्बन्ध वस्तु और विचार के मध्य है, क्योंकि उसे देखकर ही बोध जागृत होता है। यह बोध संकेतक या वस्तु को अभिव्यक्ति का उचित माध्यम प्रदान करता है। ये माध्यम चिह्न या प्रतीक हैं। विचार वस्तु को प्रतीक में ढालता है। इससे वह सामाजिक सम्प्रेषण के योग्य बनता है। हमारी अभिव्यक्ति में प्रयुक्त प्रतीक या चिह्न हमारे विचारों के साथ सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भी अनुशासित होते हैं। दूसरे व्यक्तियों पर चिह्नों का प्रभाव तथा हमारी रुचि और प्रवृत्ति भी अभिव्यक्ति को प्रभावित करते हैं। इससे वस्तु-स्थिति को भिन्नता प्राप्त होती है और यह भिन्नता चिह्न में संक्रमित हो जाती है। अलंकृत व्यंजना वस्तु-स्थिति की सम्प्रेषणा मात्र है।

एक प्रतीक एक वस्तु को प्रकट करता है। यह 'एक-वस्तु-एक-नाम' सिद्धान्त पर आधारित तथ्य है। ऐसे प्रतीकों की संख्या भी कम नहीं है जिनमें से प्रत्येक दो या अधिक वस्तुओं को व्यक्त करता है। यह भाषा की कृपणता है। इस स्थिति में उन प्रतीकों की संख्या उतनी ही माननी चाहिए, जितनी से उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो। हिन्दी 'आँच' में पाँच प्रतीक हैं :

आँच — १ : ताप
आँच — २ : आग की लपट
आँच — ३ : तेज
आँच — ४ : आघात
आँच — ५ : हानि

अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी 'आँच' शब्द अनेकत्व से समायुक्त है। यदि प्रतीक प्रारम्भिक अवस्थाओं में वस्तून्मुखी थे, तो निश्चित ही ऐसे प्रतीक जो सूक्ष्म भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अवश्य ही एक समय स्थूल विषयों से संबद्ध थे। वर्क ने भावात्मक, ऐन्द्रिक, ज्ञान-संबंधी एवं विचार-प्रक्रिया से संबद्ध अभिव्यक्तियों को अन्ततः भौतिक क्रियाओं अथवा अवस्थाओं पर निर्भर माना है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निर्देश

यह प्रयोक्ता और ग्रहीता के मानसिक व्यापार का दूसरा नाम है जो वस्तु और प्रतीक के सेतु का कार्य करता है।

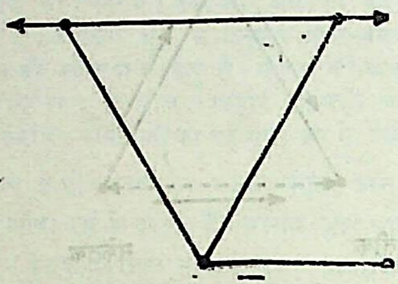

इनके अतिरिक्त एक और भी तत्त्व है—समय। समय चतुर्थ आयाम है। किसी विशेष समय में प्रयोक्ता वस्तु और चिह्न में सम्बन्धं स्थापित करता है। किसी भिन्न समय में वह इन दोनों के मध्य एक अन्य प्रकार का सम्बन्ध भी देख सकता है। उपर्युक्त मानचित्र से स्पष्ट है कि वस्तु और प्रतीक में दोहरा सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रयोक्ता की विचार-प्रक्रिया या निर्देश पर अवलम्बित है।

वक्ता और श्रोता की मानसिक प्रक्रिया

अर्थ एक सूत्र है, तो वक्ता और श्रोता उसके दो छोर हैं। दोनों परस्पर पूरक हैं और एक के अभाव में दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रत्येक अभिव्यक्ति दूसरे पक्ष की आकांक्षा करती है। वक्ता न केवल स्वीय विचार-प्रेषण का इच्छुक है, अपितु प्रभाव को भी महत्त्व देता है। इसीलिए वक्ताचिह्नों के चुनाव में सतर्क रह कर अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है।

वक्ता या प्रयोक्ता किसी अभिधेय की स्पष्टता के लिए तथा ग्रहीता अभिधेय की उपलब्धि के लिए शब्द का आश्रय लेता हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।

व्यवसायो ग्रहीतृणामेवं तेष्वेव जायते ॥ (वाक्यपदीय, १.५४)

भर्तृहरि ने आत्म-प्रकाशन की भावना को 'प्राग्बुद्धि' तथा प्रयोक्ता के अभिधेय को समझने के निश्चय को 'व्यवसाय' कहा है। शब्द के अन्तर्गत ये दोनों तत्त्व समाहित है। शब्द दोनों का माध्यम है।

प्रथम मानचित्र में प्रयोक्ता ग्रहीता की व्यवसायित्मिकता बुद्धि तथा द्वितीय मानचित्र में ग्रहीता प्रयोक्ता की प्राग्बुद्धि तक पहुँचने की चेष्टा करता है। प्रयत्न दोनों दिशाओं से होता है, भले ही इसके लिए कोई पक्ष सचेत न हो। शब्द की प्रयोग-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

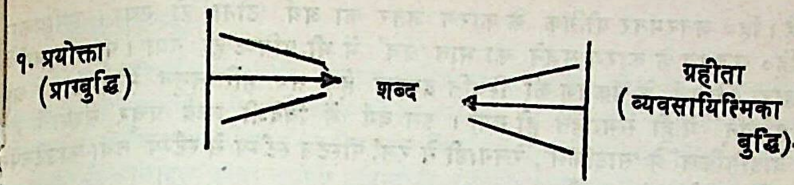

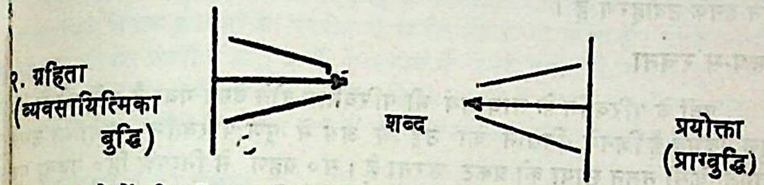

...वना पर दोनों की दृष्टि रहती है। यही वाक् का उद्देश्य है । वक्ता से श्रोता तक ...चार-संप्रेषण की प्रक्रिया भौतिकविज्ञान और अर्थविज्ञान दोनों के लिए विचार्य ...ही है। भौतिक विज्ञान की समस्या है कि संप्रेषण के प्रतीकों को कितने सही रूप में ...षित किया जा सकता है। अर्थविज्ञान की समस्या यह है कि प्रेषित प्रतीक अपेक्षित ...र्थ को कितने सही रूप में व्यक्त करते हैं। भौतिकी में भी यह एक स्वीकृत तथ्य है ...ि स्पष्ट संदेश भी यात्रा में कुछ-न-कुछ खो ही देता है। इसीप्रकार वक्ता का अपे...त आशय ग्रहीता तक यथावत् नहीं पहुँच पाता। इसका प्रमुख कारण है अर्थ-तत्त्व ...ं ध्वनि-तत्त्व का विशिष्ट संयोजन एवं ग्रहीता द्वारा तदनुसार अर्थ-प्रभाव का ...ाव।

...र्थ-परिवर्तन के कारण

यदि सामयिक अर्थविज्ञान अर्थ का विश्लेषण करता है, तो ऐतिहासिक अर्थ-...ज्ञान अर्थ के विकास-क्रम का अनुशीलन करते हुए अर्थ-परिवर्तन की स्थितियों और ...णों का अध्ययन करता है। भाषा एक जीवन्त सत्ता है और कालान्तर्गत किसी भी ...ु की भाँति परिवर्तन के प्रति नतानन है। इसी कारण उसके विकास-क्रम में कभी ...शब्द अपने अर्थ को परिवर्तित कर लेते हैं, कभी शब्द नये रूपों को प्राप्त होते हैं ...र कभी ऋण ली हुई अभिव्यक्तियाँ क्रियाशील हो जाती हैं। अर्थ-परिवर्तन की दो ...भूत प्रवृत्तियाँ हैं—

(क) कोई शब्द नवीन वस्तुओं को प्रकाशित करने लगता है।

(ख) कोई शब्द नये ढंग से किसी वस्तु को व्यक्त करने लगता है।

इन मूलभूत प्रवृत्तियों के तहत अनेक कारण अर्थ में परिवर्तन ला देते हैं। इन ...गों में निम्नांकित प्रमुख हैं—

...ाव-साहचर्य

जहाँ कोई नाम किसी नवीन भाव से संयुक्त हुआ है अथवा किसी भाव ने ...न नाम ग्रहण किया है, अर्थ संक्रमित हो जाता है। सं० असुर, सं० गोस्वामी, हिं० ...र आदि इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ भिन्नार्थक ...ों के साहचर्य में प्रयुक्त होने के कारण एक शब्द का अर्थ दूसरे में संक्रमित हो गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। हिं० जंतरमंतर यौगिक के कारण 'जंतर' का अर्थ 'टोना' हो गया। इसीप्रकार हिं० सजधज के कारण सजने का भाव 'धज' में भी प्रविष्ट हो गया। पद-साहचर्य के द्वारा भी अर्थ के संक्रमण की स्थिति द्रष्टव्य है। सं० हस्तिनमृग में 'मृग' का अर्थ 'हस्तिन्' में ही समाहित हो गया। इस वर्ग में विदेशी शब्द प्रचुर संख्या में हैं, 'बाइसिकिल' से 'साइकिल', रेलगाड़ी से रेल, पोस्टल स्टैम्प से स्टैम्प तथा फाउंटेनपेन से पेन इसके उदाहरण हैं।

२. रूप-संरचना

पदों के परिवर्तन के साथ अर्थ भी परिवर्तित होते देखा गया है। हिन्दी में ऐसे विपुल तद्भव हैं जिनके विधान का उद्देश्य अर्थ में पूर्ण परिवर्तन लाना या उसके अन्तर्गत किसी नूतन छाया को प्रकट करना है। सं० ग्रहण से निष्पन्न हिं० गहना एक उदाहरण है, जहाँ रूप-परिवर्तन के द्वारा मूल अर्थ से भिन्न भाव प्रकट हुआ है। सं० स्थिति से हिं० टेक (सहारा, आश्रय) बना है। इसीप्रकार सं० शीत से हिं० सील निस्सृत हुआ है जो 'जमीन की नमी' अर्थ में रूढ़ हो गया है।

३. सादृश्य

यह अर्थ-परिवर्तन का प्रसिद्ध साधन है। इसकी व्याप्ति को देखते हुए अर्थ-वैज्ञानिकों ने सादृश्य का नियम भी स्थिर किया है। अनेक नूतन शब्दों के निर्माण में सादृश्य का हाथ रहा है। ये नूतन शब्द सदृश वस्तुओं के वाचक शब्दों के आधार पर निर्मित होते हैं। इसे वस्तु-सादृश्य का परिणाम समझना चाहिये। हिं० छल्ला शब्द सं० छल्लि (वल्कल) से विकसित है। छाल वृक्ष के चारों ओर गोलाकार लिपटी रहती है। इसी 'गोलाकृति' को ग्रहण कर उसके सादृश्य पर अँगूठी के लिए 'छल्ला' शब्द निर्मित किया गया। एक दूसरे प्रकार का सादृश्य अलंकार पर आश्रित है। सं० आभार का अन्वय 'बोझ' है, किन्तु आज वह 'उपकार' के अर्थ में अत्यधिक प्रचलित है। दूसरों का उपकार बोझ ही है—इस आधार पर 'बोझ' का वाचक 'आभार' 'उपकार' के लिए प्रयुक्त होने लगा। सं० अंकुश का द्वितीय अर्थ 'नियंत्रण' या 'प्रतिबन्ध' अस्त्र के सादृश्य से ही निष्पन्न हुआ है। हिं० चाँदनी का अर्थ 'बिछाने या ऊपर तानने का सफ़ेद कपड़ा' भी विकसित हो गया है जो आकाश में व्याप्त चन्द्र के प्रकाश के सदृश है। हिं० बरुनी शब्द सं० वरणं के गौण अर्थ 'ढँकना' को लेकर विकसित हुआ है। सं० चक्र से हिं० चक्कर निष्पन्न है जो 'झंझट', 'उलझन' आदि अर्थों का प्रकाशक है। अर्थ की अनेक मात्राओं में माध्यमिक स्थितियों के ज्ञान का अभाव है। अतः विकसित अर्थ नवीन एवं आकस्मिक प्रतीत होते हैं।

४. चेतन प्रक्रिया

ध्वनि-परिवर्तन की अपेक्षा अर्थ-परिवर्तन में वक्ता की चेतन प्रक्रिया अधिक प्रभावी रही है। अनेक अवसरों पर वक्ता जान-बूझकर एक नवीन, प्रभावकारी, विशेष अभिव्यक्तिमूलक और चित्रमय रूप में वर्ण-संघात का प्रयोग करते हैं। व्यंग्य, विनोद और अपमान के व्युत्पादक लक्ष्यार्थ, व्याजनिन्दा आदि से प्रेरित अभिव्यक्तियाँ इसी वर्ग में आती हैं। सं० रसिक के मूलार्थ में से 'अवमानना' की भाव-संप्रक्ति को लेकर हिं० रसिया शब्द निर्मित है। धर्मावतार, गुरु, उस्ताद, दादा के लक्षणामूलक प्रयोग वाक् में प्रचुर संख्या में हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. अचेतन प्रक्रिया

अर्थ-परिवर्तन वक्ता की अचेतन प्रक्रिया से संचालित होता है। ऐसे प्रयोग अज्ञान के परिणाम हैं। ये अनैच्छिक भी हो सकते हैं। 'पंचायत' शब्द का एक अर्थ 'विवाद या वैमनस्यपूर्ण विवाद' इसीप्रकार विकसित हुआ है। 'रामरौला' का अर्थ 'राम-संबंधी कोलाहल' होना चाहिए। हिन्दी के साहित्यिक लेखन में संस्कृत रूप-रचना से अनभिज्ञ लेखक उपसर्गों के उपयोग से भ्रांति ही उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय संस्कृत शब्दों के सही अर्थों के अभाव में उनके प्रयोग में वक्ता भूलकर बैठते हैं। सं० प्रश्रय का अर्थ शिष्टता, नम्रता, विनय आदि हैं, किन्तु उसकी रूप-रचना सं० आश्रय के निकट होने के कारण 'प्रश्रय' का 'आश्रय' अर्थ में प्रयोग होने लगा है।

६. वातावरण का प्रभाव

शब्दों के अर्थ वातावरण से भी प्रभावित होते हैं। उन्हें वातावरण के विभिन्न स्तरों से वैशिष्ट्य प्राप्त होता है।

भौगोलिक वातावरण शब्दार्थ को सापेक्ष गुण प्रदान करता है। ठंडा, गरम आदि की अर्थ-सापेक्षता जलवायु के स्थानिक वैभिन्न्य के आधार पर स्थापित होती है। देश की राजनीतिक परिस्थिति शब्दों में अर्थ की नवीन छाया उद्भासित करती है। राजनीति के क्षेत्र में 'क्रान्ति' ने एक विशेष अर्थ ग्रहण किया है। इसीप्रकार 'शीत-युद्ध, 'सन्धि', 'संसद्' आदि शब्द विशिष्ट राजनैतिक रंगों से अनुरंजित हैं। सामाजिक पर्यावरण से भी अर्थ प्रभावित होता है। हिन्दी भाषियों के मध्य 'आदमी'-उर्दूभाषियों के मध्य 'मर्द' तथा अंग्रेजीभाषियों के मध्य 'मैन' पति का वाचक है। हिन्दी वाक् में सं०पंडित उत्कर्षपूर्ण अर्थ में प्रतिष्ठित है, किन्तु तीर्थों में पूजा-पाठ कराने वाले पंडितों की शोषक मनोवृत्ति से परिचालित होकर 'पंडित' से 'पंडा' शब्द उद्भासित हुआ, जिसमें उसके प्रति जनमानस की अवज्ञा का भाव विद्यमान है। रीति-नीति और परम्परा भी अर्थ-परिवर्तन के कारण बने हैं। अतिथि के आदर-सत्कार के लिए आज भी 'अतिथि-पूजा' पद प्रचलित है। प्राचीन समय में अभ्यागतों के सम्मानार्थ उनकी वन्दना, पूजा आदि की पद्धति थी। आज वह पद्धति समाप्त हो गई है, किन्तु उसके लिए रूढ़ शब्द प्रचलित है और उसका सामान्य अर्थ 'अतिथि का सम्मान' ही प्रचलन में है। 'सन्ध्या' शब्द प्रातः और सान्ध्यकालीन 'पूजा-अर्चा' के लिए तो प्रयुक्त होता है, किन्तु काल-संदर्भ में मात्र 'दिवसावसान' का द्योतक है। हिं० ठहराव 'विवाह का लेन-देन' अर्थ का वाचक हो गया है।

७. आभिजात्य-प्रवृत्ति

लोक-व्यवहार में मनुष्य सामान्यतः अपनी परिष्कृत रुचि का परिचय देना चाहता है। बाल्यकाल से ही उसे अभिजात अभिव्यक्तियों की शिक्षा दी जाती है जिससे न तो वह लज्जा और ग्लानि की पश्चात्तापपूर्ण स्थिति में पड़ सके और न धृष्टता से अभिषिक्त हो। अशुभ प्रसंगों की शुभतासूचक अभिव्यक्तियाँ इसके अन्तर्गत आयेंगी। 'मृत्यु' को अशुभ मानकर 'स्वर्गवासी होना', 'नहीं रहना', 'गोलोक जाना'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आदि पदों का उपयोग किया जाता है। 'सर्प' को कीड़ा तथा 'लाश' को 'मिट्टी' कहने की प्रथा चल पड़ी है। समाज में अश्लील प्रसंगों को छिपाने की चेष्टा की जाती है। शिष्ट समाज में ऐसे प्रसंगों को बड़ी सतर्कता से प्रकट किया जाता है, क्योंकि इससे न केवल वक्ता की वैयक्तिक मानसिक संरचना को दूषित सिद्ध किया जाता है, प्रत्युत उसके पारिवारिक वातावरण एवं सांस्कृतिक स्तर को भी हेय ढंग से मूल्यांकित किया जाता है। यही कारण है कि प्रजनन-अंगों एवं क्रियाओं का नाम लेना निषिद्ध समझा जाता है। 'टट्टी' के लिए 'शौच', 'दिशा-मैदान जाना', 'फारिग होना' जैसी उक्तियाँ प्रचलित हैं। 'पेशाब' के लिए 'लघुशंका' तथा 'गर्भवती' के लिए 'पैर भारी होना' पद प्रचलित है। इसीप्रकार विभीषिका के लिए रुचिकर प्रयोगों का आश्रय लिया जाता है। 'चेचक' को 'सीतला' तथा 'प्लेग' को 'महामारी' कहने की प्रथा है। निम्नतर कार्य करने वालों के लिए शोभन प्रयोग की प्रथा भी द्रष्टव्य है। 'रसोइये के लिए' 'महाराज' तथा 'भंगी' के लिए फा० जमादार का प्रयोग किया जाता है। 'भंगी' के लिए एक अन्य हिन्दी मेहतर' शब्द भी चलता है जो सं० महत्तर से निष्पन्न हुआ है। 'चमार' को 'रैदास' तथा 'दर्जी' को 'नामदेव' कहने का चलन है।

८. प्रयोग-सापेक्षता

व्यक्ति की आयु, शिक्षा, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार प्रयोग अर्थ की विभिन्नता को प्राप्त होता है। 'खेल' का अर्थ बाल्यावस्था, किशोरावस्था और यौवनावस्था में भिन्न-भिन्न रहता है। वृद्धावस्था में 'खेल' नैराश्य की छाया लिये होता है। इसी प्रकार बड़ा, छोटा, अमीर, गरीब, शक्तिशाली, दुर्बल आदि विशेषण व्यक्ति एवं वयः सापेक्ष हैं।

९. विनयभाव की अभिव्यक्ति

विनय, सारल्य एवं निरभिमान के वशीभूत होकर वक्ता अपने प्रयोगों को विनीत भावों से युक्त रखता है। लोकाचार में व्यक्ति दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखता है और कभी उन्हें श्रेयस्कर ढंग से निरूपित कर देता है। यदि वह अपने घर को 'गरीबखाना' कहता है, तो दूसरे के घर को 'दौलतखाना'। विनयी लोग अपने भवन के नाम के साथ 'कुटी' शब्द भी जोड़ देते हैं। दूसरों के आगमन को 'पधारना' तथा 'देखने' को 'दर्शन' कहा जाता है।

१०. उत्तेजना

व्यक्ति मानसिक उत्तेजना में शब्दों के विलक्षण प्रयोग कर बैठता है। ये प्रयोग सामान्यतः अतिशयतामूलक होते है। क्रोध में आलम्बन के लिए अभिव्यक्तियों में भिन्न ध्वनि रहती है। 'मार डालना', 'पटक देना', 'कचूमर निकालना' आदि संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग लक्ष्यार्थ को दृष्टि में रखकर किया जाता है। रति, करुणा, घृणा आदि भावों से संबंधित प्रयोग आवेश में विशेष व्यंग्यार्थ रखते हैं। कतिपय अनुकरण-मूलक शब्दों की रचना भावावेश के कारण हुई है। 'खीझ' में 'अट्टसट्ट' अभिव्यक्ति, 'व्यर्थ की बात' का वाचक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

११. पुनरुक्ति

पुनरुक्त प्रयोग के द्वारा अर्थ में नवीन छाया प्रकट की जाती है। ऐसे प्रयोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। 'बूँदाबाँदी' में पुनरुक्ति ने अर्थ को नवीन छाया—'थोड़ी और हलकी वर्षा'—को जन्म दिया है। 'भयभीत' में 'भय से संकुचन' का भाव है। 'सोच-विचार' से 'अधिक चिंता' प्रकट होती है। 'समझ-बूझ' में 'ज्ञान' का आदेश है। इसप्रकार की पद रचनाओं की पुनरुक्ति को हम सार्थक कहेंगे।

१२. एक शब्द के भिन्नार्थक रूपों का प्रचलन

जब तत्सम का ध्वन्यात्मक विकास होता है, तब एक अर्थ के लिए दो शब्द प्रचलित हो जाते हैं। जब एक ही अर्थ को दो ध्वन्यात्मक रूप व्यक्त करने लगते हैं, तो तत्सम तो मूल अर्थ में रूढ़ रहता है, किन्तु तद्भव किसी भिन्न अर्थ का वाचक बन जाता है। सं० परीक्षक से हिं० पारखी का विकास हुआ है। तत्सम 'परीक्षा लेने वाला' का तथा तद्भव 'रत्नों का मूल्यांकन करने वाला' अर्थ प्रकट करता है। सं० 'सौभाग्य' अच्छे भाग्य की सूचना देता है, किन्तु उससे विकसित हिं० 'सोहाग या सुहाग' 'अहिवात' की सूचना देता है। सं० 'पाक' 'अन्न पकने' आदि का भाव प्रकट करता है, किन्तु उससे विकसित हिं० 'पाग' 'चाशनी' का द्योतक है।

१३. अर्थ-सापेक्षता

अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ अनिश्चित है। 'पाप', 'पुण्य', 'हिंसा', 'अहिंसा' आदि शब्दों में अर्थ की सीमाएँ निश्चित नहीं हैं। ये व्यक्ति-सापेक्ष शब्द हैं। विशेषण प्रायः अस्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। 'अच्छा', 'सुन्दर', 'उत्तम', 'बुरा' आदि विशेषण गुण-धर्म की व्यक्ति-सापेक्ष सत्ता से प्रभावित होते हैं।

१४. प्रयोगाधिक्य

शब्दों के अतिशय प्रयोग से भी उनमें अर्थ-परिवर्तन आ जाता है। 'संस्कृति' प्रयोगाधिक्य से उसकी पूर्वकालीन गरिमा की झंकृति विलीन हो गई है। 'बाई' भी आदर सूचक था, किन्तु प्रयोग की अधिकता से निम्नार्थक हो गया। कहीं-कहीं वह वारवधू के लिए भी प्रयुक्त होने लगा है। 'श्री', 'श्रीयुत्' आदि शब्द भी आज मात्र औपचारिक हो गये हैं।

१५. अंगी-अंग भाव-प्रदर्शन

ध्वनिरूपों की रचनावस्तु एक अंग, पार्श्व, गुण या धर्म पर आश्रित रहती है। इसी आधार पर ऐसे रूप प्रचलित हैं जो वस्तु के एक अंश से संबद्ध हैं। 'गांधी टोपी' से 'कांग्रेस के सदस्यों' का बोध होता है। हिं० 'पारस' सं० स्पर्श का रूपान्तर है जो उक्त पत्थर के दुर्लभ गुण की ओर मात्र संकेत करता है। 'बिदा के समय दिया गया धन' मात्र 'विदाई' के द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'रिक्शावाला' या तांगावाला' मात्र, 'रिक्शा' या 'तांगा' द्वारा पुकारा जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१६. साम्प्रदायिक अर्थ का विकास

जातियों और धर्मों के मध्य बहुधा आपसी संघर्ष देखा जाता है। इस संघर्ष के कारण उनमें परस्पर शत्रुता विकसित हो जाती है। उनमें एक-दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष, पृथकता आदि के भाव पैदा हो जाते हैं। अतः उनके संबोधन, व्यंग्य आदि से युक्त होते हैं। सम्राट् अशोक के समय 'पाखंड' एक समादृत संप्रदाय था, किन्तु कालान्तर में उसके प्रति हेय भावना के कारण उनका अर्थ संज्ञा और विशेषण दोनों रूपों में 'आडम्बर', 'मिथ्या' आदि हो गया। अ० 'कुफ्र' इस्लामेतर धर्मावलंबियो का वाचक माना जाता था। कुछ काल उपरांत उससे निर्मित 'काफिर' शब्द 'दुष्टतापूर्ण' या 'नीचतापूर्ण' अर्थ देने लगा।

१७. वर्गवाचक नाम

इस श्रेणी के शब्द अपनी रचना में विशेष से सामान्य की ओर अग्रसार हुए हैं। विशिष्ट वस्तु के बोधक शब्द अनेक वस्तुओं को व्यक्त करने लगता है। हिं० 'हलवाई' शब्द अ० 'हलवा' से निर्मित है। 'हलवाई' से मात्र 'हलवा' बनाने वाले का ही बोध नहीं होता, वरन् अर्थ-विस्तार के कारण सभीप्रकार के मिष्ठान्न बनाने वाले का बोध होता है। 'तिल' के द्रव्य का सूचक अनेक प्रकार के द्रव्यों का सूचक 'तेल' हो गया है और यदाकदा 'तिल का तेल' जैसा निरर्थक पुनरुक्त पद भी सुनाई दे जाता है। हिं० वाक् में 'सब्जी' से केवल हरे शाक का अर्थ ही नहीं लिया जाता, अपितु भिन्न रंग के शाक भी इसमें अंतर्भावित हैं। हिं० 'पैसा' भारतीय मुद्रा की इकाई है। आज यह सभी प्रकार की मुद्राओं और ऐश्वर्य का प्रतीक भी बन गया है।

१८. स्थानिक परिवर्तन

भाषा अपने विकास में परिवर्तन की आकांक्षिणी है। एक ही भाषा अपनी स्थानिक यात्राओं में अर्थान्तर को जन्म देती है। किसी भाषा के शब्द दूर क्षेत्रों में प्रयुक्त होते हैं, तो उनके अर्थ में कुछ परिवर्तन आ जाता है। सं० 'वाटिका' का बंगला रूपान्तर 'वाड़ी' घर का वाचक है। तमिल का 'पिल्ला' सामान्य बच्चे का वाचक है जो हिन्दी में 'कुत्ते का बच्चा' अर्थ में व्यवहृत होता है। अं० 'रेल' केवल लौह पट्टिका के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि हिन्दी में पूरी 'रेलगाड़ी' का द्योतक है।

१९. लाक्षणिक एवं उत्कर्षमूलक प्रयोग

अभिव्यक्ति को स्पष्ट और सटीक करने के लिए शब्दों के प्रयोग को ज्ञात और अज्ञात रूप में लाक्षणिक शैली प्रदान की जाती हैं। दीर्घ परम्परा के कारण यह शैली शब्द-भाव में ही विलीन हो गई है। 'चारपाई,' 'मूठ', 'हत्था' आदि शब्द रूपात्मक हैं। यही नहीं, अनेक पदों में लाक्षणिक और आलंकारिक प्रयोग अयाचित रूप में चले जाते हैं। 'घड़ी के हाथ', 'आरी के दाँत', 'सुराही का मुँह' जैसे पद दैनिक वाक् के प्रकृत अंश हैं। 'गदहा', 'शेर', 'उल्लू' आदि प्राणियों का उपयोग लक्ष्यार्थ हेतु किया जाता है। विशेषण भी लाक्षणिक प्रयोगों में सहायता पहुँचाते हैं। 'काला दिल', 'हरी झंडी', 'साफ बात', 'विशाल हृदय' आदि प्रयोग इसके उदाहरण हैं। हिन्दी क्रियाओं के द्वारा भी लक्ष्यार्थ भली-भाँति प्रकाशित होते हैं—'फूंकना' (जलाना), 'उठना' (उत्थान का प्रयत्न करना), 'गिरना' (पतन की स्थिति में पहुँचना) आदि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२०. नवीन वस्तुओं और वस्तुस्थितियों का नामकरण

नवीन वस्तुओं या वस्तुस्थितियो के लिए इनसे सादृश्य रखनेवाले या संवद्ध शब्दों के आधार पर नये शब्द निर्मित किये जाते हैं। सं०'धूम्रपान' और अं० 'स्मोकिंग' इसी श्रेणी के शब्द हैं। सं० 'स्थान' से हिं० थाना विकसित हुआ है। 'चमड़े की थैली' के वाचक सं० कुतुप से हिं० गुब्बारा शब्द रच लिया गया है। 'हरित क्रान्ति' और 'श्वेत क्रान्ति' युग के अनुकूल निर्मित शब्द है।

अर्थ की दिशाएँ

यह अर्थ-परिवर्तन का एक लोकप्रिय वर्गीकरण है। इसके अन्तर्गत अर्थ-परिवर्तन की पाँच दिशाएँ निर्धारित की गई हैं। इनका महत्त्व यह है कि ये सार्वभाषिक प्रवृत्तियाँ हैं। सभी भाषाओं में अर्थ-परिवर्तन की ये प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। अर्थ का इतिहास विस्तार, संकोच, उत्थान और अपकर्ष का इतिहास है। हिन्दी में अर्थ का विकास इन समस्त स्वीकृत दिशाओं में प्रवाहित हुआ है।

१. अर्थ-विस्तार

शब्द-रचना के समय अर्थ सीमित विन्दु पर स्थिर रहता है। आवश्यकतानुसार उसका विस्तार किया जाता है, ताकि अधिक व्यापक अभिधेय को व्यक्त कर सके। सं० 'पक्ष' का मूल अर्थ 'पंख' था। कालान्तर में वह 'मास का भाग', 'विभाग', 'खण्ड' आदि भाव भी व्यक्त करने लगा। सं० गोष्ठी को मूलार्थ 'गोशाला' या 'गायों का समूह' रहा है। आज यह व्यापक रूप में 'समूह', 'सभा' जैसे अर्थ में प्रचलित है। 'स्याही' शब्द 'काले रंग का द्रव्य' अर्थ में प्रचलित था। समयान्तर में वह 'लेखन-द्रव्य' अर्थ में प्रचलित हो गया, चाहे वह किसी भी रंग का हो। 'प्रवीण', 'कुशल', 'सब्जी', आदि अर्थ-विस्तार के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। हिं० 'पैसा' सं० 'पाद' से संवद्ध है जो 'मुद्रा की इकाई' है। आज इसका अर्थ सम्पत्ति, ऐश्वर्य भी हो गया है। वह मूल एवं विकसित दोनों अर्थों में प्रचलित है।

२. अर्थ-संकोच

इसके अन्तर्गत शब्दार्थ अपने विस्तार को समेट लेता है और सीमित विन्दु पर स्थिर होने का प्रयत्न करता है। इसकी भी एक उपयोगिता है। वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए अर्थ को वस्तु या उसके प्रेषणीय अंश पर केन्द्रित रहना चाहिये। इसी भावना से परिचालित होकर वक्ता अपने को सीमित रखने का प्रयत्न करते हैं। प्रेषण के औचित्य एवं सीमांकन के लिए अर्थ को संकीर्ण रखना आवश्यक है। इस प्रक्रिया ने कतिपय शब्दार्थों को संकुचित कर दिया है। हिन्दी में ऐसे अनेक तत्सम प्रचलित हैं जो पूर्वतः विस्तीर्ण अर्थ में व्यवहृत होते थे, किन्तु सम्प्रति संकुचित अर्थ व्यक्त करने लगे हैं। सं० 'मृग' पहले मात्र 'पशु' का वाचक था, किन्तु संप्रति 'हिरन' का द्योतक हो गया है। वंदरों को 'शाखामृग' कहा जाता है जिसमें 'मृग' का अर्थ 'पशु' ही है। 'मृगया' अभी भी 'पशु का शिकार' भाव को प्रकट करता है। सं० 'गो' का मूल अर्थ 'गमन करने वाला' है जिसका संकुचित अर्थ 'गाय' आज प्रचलित है। सं० 'संगम' 'मिलाप' अर्थ का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाचक है, जबकि हिन्दी में यह 'नदियों का मिलन-स्थल' अर्थ भी विशेषत: प्रकट करता है। सं० 'संसार' 'सृष्टि' के साथ-साथ 'गृहस्थी' का भी वाचक है। संस्कृत से विकसित अनेक तद्भव शब्द हैं जो हिन्दी में संकुचित अर्थ का वाचन करते हैं। सं० 'मज्जन' का अर्थ 'स्नान' करना है, पर हिन्दी में यह 'दाँत साफ करने का चूर्ण' अर्थ में प्रचलित है। सं० 'भ्रमण' से निष्पन्न 'भाँवर' मात्र 'एक वैवाहित रीति' को प्रकट करता है। सं० 'पात्र' से विकसित हिं० 'परात' मात्र 'बड़ा थाल' को व्यक्त करता है। अर्थ-संकोच की प्रवृत्ति अधिक व्यापक है। तकनीकी एवं पारिभाषिक शब्दावली में अर्थ को केन्द्री कृत रखने की भावना क्रियाशील रहती है।

३. अर्थोत्कर्ष

उत्थान और पतन की प्रक्रिया मनुष्य, समाज, जाति आदि के सदृश भाषा को भी प्रभावित करती है। शब्द की यात्रा में उतार-चढ़ाव आते हैं। कभी वह उत्कर्ष पर पहुँच जाता है, कभी अपकर्ष पर। कतिपय तत्समों में अर्थोत्कर्ष की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सं० 'महिला' 'स्त्री' वाची है, जबकि हिन्दी में उसका अर्थ 'सभ्य या भली स्त्री' है। सं० 'मुग्ध' एवं सं० 'साहस' क्रमश: 'मूढ़' तथा 'दुष्कर्म' के वाचक थे। हिन्दी में इनके अर्थ में आभिजात्य का समावेश हो गया है। सं० 'सम्पादक' का मूल अर्थ है 'कोई कार्य सम्पन्न करने वाला', किन्तु अब वह एक विशेषार्थ का वाचक हो गया है। हिन्दी तद्भवों में इस कोटि के अर्थ-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं। सं० 'मल' सेनिष्पन्न हिं० मलाई का अर्थ 'दूध की साढ़ी' है। सं० 'शकट' से विकसित हिं० गाड़ी आजकल 'मोटरकार' का अर्थ दे रही है।

४. अर्थापकर्ष

अर्थ लोक-व्यवहार का अनुकरण करता है। उसके स्वरूप में प्रयोगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। वाक् में इस परिवर्तन की गति तीव्र रहती है। शब्द की प्रयोग-प्रक्रिया में अर्थ नूतन रूप धारण कर लेता है। यह छाया कभी उदात्त और कभी निम्नस्तरीय रूप धारण कर लेती है। अर्थापकर्ष की प्रवृत्ति भी अर्थयात्रा में देखी गई है, अर्थात् पूर्वत: भव्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द कालान्तर में निम्न भाव प्रकट करने लगता है। सं० 'जुगुप्सा' का धात्वर्थ 'पालना' और छिपाना' है, किन्तु अब यह 'घृणा' का अर्थ देने लगा है। स्वयं सं० 'घृणा' का धात्वर्थ 'ज्वलन' है जो आज 'गर्हणा' के अर्थ में प्रचलित है। सं० 'विषण्ण' मूलत: 'अलग बैठा हुआ' अर्थ का द्योतक था जो कुछ काल पश्चात् 'खिन्न', 'दु:खी' जैसे अपकर्षमूलक अर्थ व्यंजित करने लगा। सं० 'पूजा' का एक अपस्तरीय अर्थ 'दण्ड' भी प्रचलित है। सं० 'गुरु' आज अपस्तरीय वाक् में 'धूर्त', 'चालाक' आदि अर्थ का वाचक हो गया है। हिं० 'कोठा' का सामान्यार्थ 'कक्ष' था, किन्तु आजकल यह 'वेश्यालय' का बोधक भी हो गया है। हिं० 'सयाना' मूलत: 'ज्ञानी' अर्थ रखता है, किन्तु आज यह 'धूर्त', 'चालाक', आदि अर्थ भी प्रकट करने लगा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थादेश

अर्थादेश अर्थ-परिवर्तन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। एक लम्बे समय तक प्रयोग के कारण अर्थ में नवीन भाव का प्रवेश होजाता है। यही अथवा कोई नया ध्वनि-रूप नये अर्थ की व्यंजना करने लगता है। कतिपय तत्सम शब्दों में नवीन अर्थ का समावेश हुआ है। सं० 'अवतार' का प्रधान अर्थ 'नीचे आना' है, किन्तु धार्मिक रूढ़ि के कारण इसका अर्थ आज 'भौतिक शरीर में जन्म, आवद्ध ईश्वर' है। सं० 'वर' में 'दुलहा' भाव का आदेश हुआ है। स्वयं हिन्दी 'दुलहा' सं० 'दुर्लभ' से विकसित है। आज उसमें विशिष्ट व्यक्ति का भाव विकसित हो गया है। अ० 'हालत' विशेष सन्दर्भों में 'आर्थिक' दशा का अर्थ देता है। तद्भव शब्दों में अर्थादेश के प्रचुर उदाहरण हैं। हिन्दी 'दुहाई' शब्द सं० द्वि आह्वान से निष्पन्न है, जिसके मूल अर्थ 'बार-बार चिल्लाना' में अब 'रक्षा या बचाव हेतु' का भाव आ गया है। हिन्दी 'बैठक' सं० 'विष्ठर' से निकला है। मूल अर्थ बैठने का भाव से अब वह 'सभा', 'अधिवेशन' अर्थ देने लगा है। सं० 'मुख' से दो तद्भव विकसित हि० मुहासा और हि० मुहाना, जो क्रमशः 'फुंसियाँ' और 'नदी का मुख' अर्थ प्रकट करने लगे हैं। सं० 'वर्ष' से विकसित हि० बरस और उससे निष्पन्न 'बरसी' आज 'श्राद्ध' का अर्थ प्रकट करता है। अर्थादेश अर्थ की यात्रा का सहज परिणाम है। प्रयोग के विस्तार के कारण अर्थ नये-नये रूप में आसीन हो जाता है। अर्थादेश नवीन ध्वनिरूपों के विकास का प्रमुख साधन भी है।

अनेकार्थकता

वाक् अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण किन्तु सीमित साधन है। वक्ता को ज्ञात शब्दो की संख्या कम है। इनके द्वारा उसे वस्तु एवं प्राणी-जगत् तथा अन्तरंग विचारों एवं भावनाओं को प्रकट करना होता है। शब्द-प्रयोग की आवृत्ति नये अर्थ को विकसित करती है, परिणाम-स्वरूप नया अर्थ मूल अर्थ के साथ शब्द में विद्यमान हो जाता है। वाक् में एक शब्द अनेक अर्थों का द्योतक हो जाता है। नये-नये संदर्भों में प्रयुक्त होने के कारण शब्द में नये अर्थ का समावेश हो जाता है। अर्थ-विनिश्चय में, संदर्भ इतना महत्त्वपूर्ण है कि बीसवीं शताब्दी में अर्थविज्ञान का संदर्भ सिद्धान्त बहुमान्य स्थापना प्राप्त कर चुका है। यह समकालिक एवं ऐतिहासिक अर्थविज्ञान का मेरुदण्ड बन चुका है। अर्थ के विभिन्न स्तर, भावना-तत्वों का अनुशीलन एवं समस्त महत्त्वपूर्ण पद्धतियों का विकास इसीपर आश्रित होते जा रहे हैं। शब्दार्थ का विकास संदर्भ पर ही निर्भर करता है। सं० 'तान' से विकसित हिन्दी ताना भिन्न संदर्भ में 'लम्बा सूत' अर्थ प्रकट करता है। हि०, छूट, हि० फेर आदि शब्दों में नवीनार्थों की रचना विभिन्न संदर्भों के कारण ही है।

संदर्भ के अतिरिक्त भावना-तत्व भी अनेकार्थकता का प्रबल हेतु है। शब्दार्थ के लचीलेपन का यही कारण है। भावना भाषा को बहका देती है। वह भाषा को नवीन रंग प्रदान करती है। वाक् को वैयक्तिकता का रंग देने में भावना अधिक महनीय अभिनय करती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति वाक्-क्षेत्र में स्वतन्त्र इकाई होता है। आधुनिक वाक्शास्त्र में व्यक्ति-बोली का मूल्य इसी आधार पर ज्ञापित किया गया है। यह वैयक्तिकता शब्द को नये-नये अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयास करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक शब्द एक ही अर्थ को व्यक्त नहीं करता। शब्दों की संख्या के तुलना में वस्तुओं एवं विचारों की संख्या कहीं वहुत अधिक है। अनेक वस्तुओ का नामांकन नहीं हो सका है। अतः ऐसी स्थिति आती है कि एक शब्द को अनेक अर्थ को प्रकट करना होता है। विशेषणों के क्षेत्र में तो अनेकार्थकता सबसे अधिक दिखाई देती है। वहाँ भावना और वैयक्तिकता का रंग प्रखर होता है। बड़ा, छोटा, बुरा, बहुमूल्य आदि विशेषण विस्तृत प्रयोग-भूभि के कारण अनेकार्थक हो गये हैं।

हिन्दी तद्भवों का विकास अनेक धाराओं में हुआ है। ये तद्भव मूल शब्दार्थ के साथ नये अर्थ को भी ग्रहण किये रहते हैं और इसप्रकार द्वयर्थक हो गये हैं। सं० 'कोष्ठ' से विकसित हिं० कोठा आज 'वेश्यालय' अर्थ में प्रचलित हो गया है। इसके अन्य अर्थ 'बड़ा कक्ष', 'उदर', 'घर' आदि भी प्रचलित हैं। इसी शब्द का स्त्रीलिंग 'कोठी' आज 'भव्य भवन' के अतिरिक्त 'छोटा कक्ष' अर्थ को भी प्रकट करता है। 'सं० 'केलि' से विकसित हिं० खेल अनेकार्थी है और समस्त अर्थों में प्रचलित है। वह 'तुच्छ कार्य', 'स्वाँग', 'अद्भुत बात' आदि अर्थों के व्यवहार में है। हिं० 'सगुन' 'विवाह की एक रस्म' विशेषार्थ का वाचक होते हुए भी अन्वर्थ से दूर नहीं हटा है।

भिन्नार्थक समध्वनीयता

एक ही ध्वनिरूप से अनेक अर्थों के वाचन को भिन्नार्थक समध्वनीयता कहते हैं। इन रूपों को विशुद्ध अनेकार्थकों के वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता। अनेकार्थक शब्द एक ही स्रोत से विकसित ध्वनिरूप हैं जो अपने विकास-क्रम में एक से अधिक अर्थों से संपृक्त हो गये हैं। इसके विपरीत समध्वनीय रूप एक या अधिक स्रोत से विकसित हैं। व्याकरणिक दृष्टि से ये दो शब्द हैं जो अपनी पृथक्-पृथक् अर्थ-सत्ता रखते हैं। संयोगवशात् उनका स्वरूप समध्वनीय हो गया है। इन्हें संयोग की उपज कहना समीचीन होगा। अनेकार्थकों की तुलना में वाक् में इनकी संख्या कम है।

जिन भाषाओं में वर्तनी उच्चारण के अनुरूप नहीं है, समध्वनीय शब्द लेखन में वाधक हो सकते हैं। अंग्रेजी में hair-hare, piece-peace, seem-seam आदि युग्मों का उच्चारण समान होते हुए भी वर्तनी असमान है। अतएव इनके लेखन में संदर्भ का ध्यान रखना सदैव आवश्यक है। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि में एकग्रामिक शब्द अधिक हैं और वहाँ ऐसे समरूप भिन्नार्थक ध्वनि-समूहों की संख्या अधिक है जो अध्वनिग्रामिक वर्तनी लिये होते हैं। यहाँ मात्र समध्वनीय शब्द ही अस्तित्वमान है जिनकी वर्तनी एकरूपात्मक है।

समध्वनीय भिन्नार्थक शब्द परस्पर सम्बन्धहीन होते हैं। संदर्भ के अभाव में भेद असम्भव है। अनेकार्थकों के भिन्न अर्थों का ज्ञान संदर्भों के अभाव में भी हो सकता है, किन्तु इनका भेद-निरूपण असम्भव है। यह भी सम्भव है कि एक युग्म के दो सदस्यों में अर्थात्मक दूरी इतनी अधिक हो कि अस्पष्टता का प्रश्न ही न उठे। सं० 'सत्ता' और हिं० 'सत्ता' (ताश का एक पत्ता) के मध्य अर्थ की दूरी किसी भी भ्रान्ति को जन्म नहीं दे सकती। सं० 'सुर' (देवता) एवं हिं० 'सुर' (स्वर) इसीप्रकार के युग्म का निर्माण करते हैं। कुछ ऐसे भी युग्म हैं जिनके सदस्य निकट अर्थ रखते हैं। सं० 'पट' और हिं० 'पट' (सं० पट्ट) प्रयोग में एक-दूसरे के प्रति भ्रान्ति पैदा कर सकते हैं जिसका निराकरण संदर्भ-भेद से सम्भावित है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिंदी में तीन और चार शब्दों तक की भिन्नार्थक समध्वनीय स्थितियाँ उपलब्ध हैं। हिं० 'रास', सं० 'राशि', अ० रास एवं फा० 'रास' के लिए एक ही रूप हिं० 'रास' प्रचलित हैजो मूल स्रोतों से सम्बन्धित क्रमश: 'प्राचीन काल की एक क्रीड़ा', 'ढेर', 'लगाम' एवं 'अनुकूल, उचित अर्थों में प्रचलित है। इसीप्रकार हिं० 'रण', सं० 'अरण्य' एवं अं० 'रन' से एक ही ध्वनिरूप विकसित हुआ है—हिं० रन, जो मूल स्रोतों से सम्बन्धित क्रमश: 'युद्ध', 'वन' एवं 'क्रिकेट की दौड़' अर्थों में प्रचलित है। हिं० 'कलम' सं० कलम एवं अ० कलम का समाश्रित रूप है। यह शब्द दो मूल अर्थों—पौधों की शाखा एवं चित्रांकन की शैली—में प्रचलित है। इसीप्रकार हिं० 'सूप' में सं० सूप (पकी दाल का पानी) तथा सं० शूर्प (सींक का छाज) का समाहार है।

पर्यायवाचिता

वाक् की रचना-प्रक्रिया जटिल है। वक्ता और स्रोता का सही आशय वाक् की परिधि में समझना बहुत कठिन है। सभ्यता के विकासक्रम में भौतिक अपेक्षाओं एवं मानसिक जटिलताओं ने शब्द-भावना को दूषित कर दिया है। समय के साथ अभिव्यक्तियाँ जटिल होती गई हैं। प्रयोक्ता को अपनी अभिव्यक्ति की समीचीनता पर विश्वास नहीं रहा। परिणामस्वरूप पर्यायवाची रूपों की खोज हुई और उनका प्रचलन हुआ। इस संदर्भ में कुछ प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। क्या पर्यायवाचिता को शब्द-निर्माण का स्रोत माना जा सकता है ? क्या पूर्वजों ने कुछ भाषारूपों की खोज इसलिए की है कि उन्हें समानार्थकों की आवश्यकता थी ? यह भी सम्भव है कि जब पर्याप्त भाषारूपों का निर्माण हो चुका, तब प्रबुद्धतर लोगों ने ऐसे युग्मों की खोज की जो समान अर्थ रखते थे। शब्देतर में, यह प्रश्न उठता है कि पर्यायवाचिता वक्ताओं की आवश्यकता थी या वैयाकरणों का प्रबुद्ध श्रम। वक्ताओं की भाषा-सम्बन्धी उपयोगिता ही इसका उत्तर है। अपने प्रारम्भिक चरण में भाषा एक आवश्यकता थी और शब्दों का निर्माण अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए हुआ था। यदि उसके पीछे एक-नाम-एक-वस्तु नियम क्रियाशील था, तब यह स्वीकार करना होगा कि शब्दों के निर्माण में एक भाषा के अन्तर्गत अनेक उपभाषा-समूहों का योग रहता है। प्रत्येक उपभाषा-समूह में स्वतन्त्ररूप से शब्द-रचना होती है और जब वे एक बृहत्तर इकाई का अविभाज्य अंश बनते हैं, तब एक ही वस्तु के लिए अनेक नाम के साथ प्रयोग में आने लगते हैं। इसप्रकार किसी भाषा के शब्द-समूह में अनेक स्तरों के ध्वन्यात्मक घटक एकान्वित हो जाते हैं।

पर्यायवाचिता शब्दकोश का उपजीव्य है। उसमें एक शब्द के सभी सम्भव प्रचलित एवं अप्रचलित अर्थ दिये जाते हैं। भाषा की संकुचनशील प्रवृत्ति के कारण एक शब्द अनेक वस्तुओं का वाचक बन जाता है। इनमें एक अर्थ प्रमुख रहता है, यद्यपि यह भी सत्य है कि अर्थ की प्रमुखता काल एवं प्रयोग-सापेक्ष रही है। सामान्यत: निस्संग प्रयोग में शब्द के प्राथमिक अर्थ का ही बोध होता है। कोश में शब्द के प्राथमिक अर्थ को क्रम में प्रथम रखने की रूढ़ि है। हिं० काम में 'कार्य' प्राथमिक अर्थ है, 'इच्छा', 'कामदेव', 'काम-भाव' आदि प्रासंगिक हैं। इसलिए हिं० काम के प्रयोग से सर्वप्रथम 'कार्य' का ही बोध होगा। हिं० काम में प्राथमिक अर्थ समय बोधक है, 'सुन्दर', 'मशीन' एवं 'कल-कल' ध्वनि गौण।

कोशकार मात्र प्राथमिक अर्थ के द्वारा ही पर्यायवाची रूप स्थिर करने का प्रयत्न करता है। यह बड़े रूपों को संक्षिप्त करके उन्हें पर्याय के रूप में प्रस्तुत करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। यह एक जटिल समस्या है। उपयुक्त पर्याय की खोज एक दुस्साध्य कार्य है। न्यूनतम प्रचलन के कारण कुछ शब्द 'कठिन' समझे जाते हैं जिनके 'सरल' पर्याय देना सहज हैं। सं० प्रत्यूष का 'प्रभात' या 'सवेरा' तथा सं० पूषण का 'सूर्य' तो दिया जा सकता है, किन्तु स्वयं 'सवेरा' और 'सूर्य' के पर्याय 'कठिन' शब्दों के द्वारा सिद्ध नहीं किये जाते। पर्याय-विनिश्चय के लिए क्रमशः 'सरल' रूपों का आश्रय लिया जाता है। कभी-कभी पर्यायवाचिता पूरी व्यवस्था की अपेक्षा रखती है।

प्रत्येक भाषाशास्त्रीय ध्वनिरूप एक विशिष्ट अर्थ रखता है। यदि उसका स्वरूप ध्वनिग्रामीय स्तर पर पृथक् एवं स्वतन्त्र है, तो उसका अर्थ भी सबसे अलग, एक और विलक्षण होना चाहिए। फिर भी, पर्यायवाची रूप देने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित एवं प्रसिद्ध है। इसका मूलभूत कारण वाग्व्यवहार में सुविधा है। वक्ता वस्तु के दो-तीन नामों में से कम-से-कम एक नाम तो स्मरण ही रख सकेगा। इस धारणा ने पर्याय-प्रक्रिया को स्फूर्ति प्रदान की है। यही नहीं, जब विदेशी ध्वनिरूप भी प्रचलित हो गये, तो हिन्दी वक्ता सुविधा की व्यापक भूमिका पर आ गया। उसे पर्यायवाचिता की सूक्ष्मताओं में जाने की आवश्यकता नहीं रही। सामान्य वक्ता के लिए संस्कृत, हिन्दी और विदेशी भाषाओं के प्रचलित रूपों में विशेष भेद नहीं है। इसीलिए अ० खर्च, फा० सरकार, अं० कोर्ट, अ० विलायत आदि शब्द अपने हिन्दी पर्यायों से अधिक प्रयुक्त होते हैं। राष्ट्रीय भावना या किसी सांस्कृतिक चेतना से संपृक्त होकर वक्ता स्वदेशी पर्याय का चयन करता है। अ० मुल्क तथा अं० कंट्री प्रचलन में पीछे छूट गये हैं तथा वक्ता सं० राष्ट्र तथा सं० देव का अधिक व्यवहार करने लगा है। इसीप्रकार सं० जनता का अधिक व्यवहार है, सं० प्रजा और अ० रिआया पीछे रह गये हैं।

सामान्य वक्ता पर्यायों का वैकल्पिक प्रयोग करता है, किन्तु किसी विशेष के प्रति उसे मोह नहीं रहता। वह पर्याय की सूक्ष्मताओं तक भी नहीं पहुँचता। वह मात्र व्यावहारिक एवं सतही स्तर पर विचरण करता है। निम्नांकित पर्याय-समूहों के पारस्परिक विकल्पों का प्रयोग किया जाता है, जबकि सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने पर उन्हें पूर्ण पर्यायों की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

१. सं० युक्ति, सं० उपाय, हिं० चाल, अ० तरकीब।

२. सं० आडम्बर, हिं० दिखावा, अं० शो।

३. सं० सेवा, हिं० नौकरी, फा० नौकर, अं० सर्विस।

उपर्युक्त श्रेणियों में अनिश्चित पर्यायवाची शब्द हैं। एक श्रेणी के समस्त पर्याय समस्त पारस्परिक परिस्थितियों में प्रयुक्त नहीं होते, किन्तु सामान्य वक्ता को इसकी चिन्ता नहीं। वह एक ही वर्ग के पर्याय-विकल्पों को पूरी स्वाधीनता के साथ समान गति से प्रयुक्त करता है।

———

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१२

अर्थतत्व और कोशविज्ञान

त्रिभुवननाथ शुक्ल

[प्रकृत शोधलेख में पौरस्त्य और पाश्चात्य—दोनों प्रकार के चिन्तकों को दृष्टिपथ में रखते हुए अर्थतत्त्व और कोशविज्ञान का तात्विक विवेचन किया गया है। लेख के अंत में कोश के परम्परागत और आधुनिक भाषावैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लेखक ने यह आग्रह किया है कि 'अर्थतत्त्व और कोशविज्ञान' को भाषा-विज्ञान की केन्द्रीय महत्त्व की शाखा के रूप में प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। सं०]

अर्थतत्त्व और कोषविज्ञान—इन्हीं दोनों पक्षों का विश्लेषण एवं स्वरूप-विवेचन प्रस्तुत करना इस निबंध का प्रमुख उद्देश्य है। प्रथम पक्ष अर्थतत्त्व के अन्तर्गत केवल शब्दार्थ-सम्बन्ध और पर्याय एवं बहुअर्थक शब्दों के स्वरूप का विवेचन किया जायेगा। द्वितीय पक्ष—कोषविज्ञान के अन्तर्गत कोश का अर्थ, महत्त्व, कार्य एवं सीमा, उसकी अध्ययनगत पद्धतियाँ; प्रकार, अन्य तत्त्वों से सम्बन्ध, कोश : परम्परागत और आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि में, आदि का विवेचन किया जायेगा।

१.१.० **शब्दार्थ-सम्बन्ध-विमर्श**—शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में भाषा-विश्लेषण-कर्त्ताओं, पदशास्त्र-प्रमाणज्ञों एवं अन्य वर्गीय आचार्यों की अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं। एक ही वर्ग के कतिपय आचार्यों ने स्ववर्गीय आचार्यों से भिन्न मतों की स्थापनाएँ की हैं। प्रमुख मतभिन्नता नित्य और अनित्य सम्बन्ध को लेकर है। इस निबन्ध में निरुक्त-कार यास्क, प्रमुख वैयाकरणों, दार्शनिकों और काव्यशास्त्रियों के मतों का विवेचन किया जा रहा है।

१.१.१. **निरुक्तकार यास्क**—वैदिक व्याकरण के पुरोधा एवं पुरस्कर्ता यास्क ने वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए 'निरुक्त' ग्रंथ की रचना की। किन्तु इस ग्रंथ का आरम्भ पदों के स्वरूप, शब्दों की नित्यता एवं अर्थ और वाक् के सम्बन्धों से होता है। मूल विवेचन के साथ 'निरुक्त' में उपनिबद्ध शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की चर्चा इस प्रकार है—

१.१.२. **यास्क ने निरुक्त में**—'अर्थ-गत्यर्थः शब्द प्रयोगः' और 'अर्थवतः शब्द सामान्यात्' द्वारा शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। यास्क ने उक्त दोनों सूत्रखण्डों में यद्यपि नित्यता स्वीकार की है, फिर भी वे शब्द को विशेष महत्त्व देते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि 'लोक' और 'वेद' दोनों में अर्थ प्रकट करने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है, ऐसा स्वीकार किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१.१.३. यास्क ने कौत्स के 'वेद मन्त्र अनर्थक हैं' का उत्तर देते हुए कहा है कि ब्राह्मण तो मंत्र को दुहराता है। यदि मूल ही अनर्थक हो तो उसका अनुवाद करनेवाला ग्रंथ कैसे सार्थक हो सकता है ? तब तो अर्थबोध न मंत्र से होना चाहिए और न ब्राह्मण से। किन्तु, अर्थबोध होता अवश्य है। ऐसी स्थिति में अर्थबोध केवल ब्राह्मण से ही होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः मंत्र सार्थक है।

'यथोएतद् ब्राह्मणेन रूप-सम्पन्ना विधीयन्त इति उदितानुवादः समवति' (१/१६) इस प्रकार यास्क शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानते हैं।

१.१.४ : अर्थ को शब्द का पुष्प और फल मानते हुए निरुक्तकार ने लिखा है—अर्थं वाचः पुष्पफलमाह।[1]

१.१.५. निरुक्तकार की मान्यता है कि अर्थ के अन्वित होने पर शब्द आदि के प्रादेशिक परिवर्तन की जानकारी के अभाव में शब्दों की परीक्षा उनके अर्थों को ध्यान में रखते हुए कुछ वृत्ति सामान्य के आधार पर करनी चाहिए।[2]

१.१.२.० शब्दार्थ-सम्बन्ध : वैयाकरणों की दृष्टि—व्याडि—व्याडि ने 'संग्रह' नामक व्याकरण—ग्रंथ की रचना की है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सम्प्रति अनुपलब्ध है। अन्यान्य विद्वानों द्वारा उद्धृत अंश से ज्ञात होता है कि इसका आरम्भ शब्दार्थ-सम्बन्ध और शब्द के नित्यानित्यत्व-विवेचन से होता है।[3]

१.१.२.१ व्याडि ने शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध माना है। उनके अनुसार यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं है। अर्थ किसी शब्द के रूप में नहीं रहता अपितु वह भावना के रूप में संपृक्त रहता है। लोक और वेद में यह स्थिति समान रूप से और स्वतःसिद्ध है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है—

सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात कृतः कथम ॥—संग्रह[4]

१.१.२.२ मुनित्रयः पाणिनि, कात्यांयन, पतंजलि—पाणिनि ने शब्दार्थ के सम्बन्ध में—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रतिपदिकम् (अष्टा० १/२/४५) का उल्लेख कर अप्रत्यक्षतःप्रातिपदिक, अधातु व अप्रत्यय को नित्य अर्थवान् स्वीकार किया है। कात्यायन

---

१. लक्ष्मण-स्वरूप—निरुक्तम्—१/२०

२. अथान्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे अर्थं नित्यः परीक्षते। केनचित् वृत्ति सामान्येन—२/१

३. डॉ० सत्यकाम वर्मा—संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, पृ० ६४

४. डॉ० सत्यकाम वर्मा—संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, पृ० ६४ से उद्धृत।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के बहुचर्चित एवं महत्त्वपूर्ण सूत्र—सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे (महा० १/१/१) की व्याख्या करते हुए पतंजलि ने शब्द, शब्द और अर्थ को ही नहीं, अपितु उसके सम्बन्ध को भी नित्य माना है। पतंजलि ने शब्द को अर्थवान् और उसका अर्थ से अनिवार्य सम्बन्ध निरूपित किया है—

नित्योह्यर्थवतामर्थैरभि सम्बन्धः (महा० १/१/१)

उन्होंने और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द त्रैकालिक सत्ता का बोध कराता है अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध त्रैकालिक अर्थात् शाश्वतिक है।[1]

१.१.२.३ : पतंजलि की मान्यता है कि विभिन्न देशों में एक ही शब्द एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः दोनों का सम्बन्ध नित्य है।[2]

अर्थविज्ञान की दृष्टि से यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। शब्द की अनेकार्थ-शक्तिमत्ता के परिणामस्वरूप एक ही शब्द भाषाभेद अथवा स्थानभेद के कारण बहुविध अर्थों का वाचक होता है।

१.१.२.४ भर्तृहरि—संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि ने अपने प्रशस्त ग्रंथ 'वाक्यपदीयम्' में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना है। इस संदर्भ में उनका यह कथन है कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानने की उनकी धारणा पूर्ववर्ती वैयाकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि प्रभृति महर्षियों के अनुरूप है।[3]

१.२.४.१ शब्द में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह किसी नियत अर्थ का बोध कराता है। इससे स्पष्ट है कि शब्द के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है।[4]

१.२.४.२ शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही शब्द से वस्तु का ज्ञान हो सकता है। वस्तु का ज्ञान शब्द से होता है। अर्थबोध की इस प्रक्रिया से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध का यह निश्चय होता है।[5]

१.२.४.३ भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में योग्यता और कार्य-कारण सम्बन्ध भी स्वीकार किया है। योग्यता-सम्बन्ध का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—'जिस-प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप, रस, गन्ध आदि के ग्रहण करने तथा तद्-

---

१. महा० ५/२/६४

२. सर्वेसर्वार्थवाचकाः— उद्योत महा० १/१/१

३. नित्यो शब्दार्थ—सम्बन्धः समाम्नातो महर्षिभिः ।
सूत्राणां चानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥—१/१/२३

४. शब्दानां यत्शक्तित्वं तस्य शाखा सुदृश्यते ।
तथार्थ—प्रत्यायने साध्यात्, तथाभ्युदये हेतुत्वात् ॥ १/१/६

५. सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध उपपद्यते ।
शब्दस्यार्थे यतस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति गम्यते ॥—वा० का० ३, पृ० ११४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषयक ज्ञान की स्वाभाविक योग्यता होती है, इसीप्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता होती है कि उच्चरित होने पर अर्थ का बोध कराता है।' यही योग्यता सम्बन्ध है—

इन्द्रियाणां स्वविषयेनादिर्योग्यता यथा ।
अनादिरथ शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।। का० ३,५०,११

कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में उनकी धारणा है कि शब्द और अर्थ, अन्योन्य कारण और कार्य है। योग्यता आदि शब्द की अर्थबोधकता शक्ति पर प्रकाश डालती है तो कार्य-कारण सम्बन्ध उसकी व्यावहारिक शक्ति पर। शब्द ही एक साधन है जिससे वक्ता अपने भावों को श्रोता तक पहुँचाता है। अतएव शब्द अर्थ का कारण है, अर्थात् श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ (वस्तु) विद्यमान रहता है उसका कारण शब्द है। शब्द-श्रवणान्तर श्रोता का बुद्धिगत अर्थ जागरित हो उठता है। बुद्धि में पहले से विद्यमान अर्थ के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है। इस स्थिति में अर्थ शब्द का कारण होता है क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थिति ही उसका ज्ञान कराती है—

शब्दः कारणमर्थस्य सहितेनोपजायते ।
तथा बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते ।।

१.२.४.४ शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निरूपित करते हुए वाक्यपदीय के तृतीय कांड में भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वाच्य-वाचक, उपकार्य-उपकारक, ग्राह्य-ग्राहक, प्रकाश्य-प्रकाशक तथा संज्ञा-संज्ञि नाम से अभिहित किया है।[1]

१.२.४.५ : वेदान्त का आश्रय लेते हुए भर्तृहरि ने ज्ञान और ज्ञेय की भाँति शब्द और अर्थ का सम्बन्ध माना है। जैसे ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता आत्मा की परम परिणति ज्ञेय ब्रह्म के रूप में होती है वैसे ही शब्द द्वारा अर्थ अपने रूप को प्रकट करता है।[2]

१.२.४.६ भर्तृहरि के अनुसार शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी ज्ञात होता है कि शब्द से दृष्ट और अदृष्ट नैमित्तिक अर्थ का संस्कार किया जाता है, अर्थात् तांत्रिक विद्याओं से विष आदि के उतारने में सामर्थ्य देखा जाता है। प्रत्येक तंत्रशास्त्र में प्रसिद्ध बीजाक्षरों से अदृष्ट (धर्म) की प्राप्ति होती है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न होता तो यह कैसे सम्भव था—

शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्ट–प्रयोजनः ।
क्रियते सोऽभिसम्बन्धमन्तरेण कथ भवेत् ।। वाक्य० ३ पृ० ११४

---

१. वाक्यपदीयम्—२/३२

२. आत्मरूपं यथाज्ञाने ज्ञेय रूपं च दृश्यते ।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ।। वाक्य० १/५०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१.२.४.७ भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ को अभिन्न स्वीकार किया है।[1] दोनों एक ही वस्तु के दो धर्म हैं। बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर दोनों एक हो जाते हैं। ग्रहण के पूर्व दोनों की पृथक् स्थिति रहती है।[2] शब्द उस धर्म को कहा जा सकता है जिसका उच्चारण से संबंध है। अर्थ का संबंध ग्रहण से है। यदि अर्थरूप में शब्द-ग्रहण नहीं हो सका तो 'शब्द' को सार्थक भी नहीं कहा जा सकता।

१.२.५.१ कैयट और नागेश की दृष्टि

कैयट और नागेश के अनुसार 'शब्द सत्ता सामान्य का बोध कराती है। इसके लिए 'अस्ति' (है) 'आसीत' (था) और भविष्यति (होगा) का प्रयोग किया है। यह सत्ता त्रिकाल सत्यता को घोतित करती है।' कैयट और नागेश ने इस प्रकरण में यह स्पष्ट किया है कि वर्तमान सत्ता वाह्य सत्ता है, यही मुख्य सत्ता है। जब इस मुख्य सत्ता का अभाव बताना होता है तो 'नास्ति'—नहीं का प्रयोग किया जाता है—

सम्प्रति सत्तायां वर्तमानायां सत्तायाम्।
वाह्यं सत्याभित्यर्थ : वाह्यां मुख्याभित्यर्थ:।

—प्रदीपोद्योत महा० ५/२६४

१.२.५.३ नागेश ने शब्दार्थ-संबंध की नित्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही इस संबंध की स्थिति और व्यावहारिक नित्यता के कारण इसको नित्य कहा जाता है—

नित्यत्वं तु यावतसृष्टिस्थित्या व्यवहार नित्यतया च बोध्यम्।—मंजूषा, पृ० ४६

१.२.५.४ नागेश ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए श्रुति-वचन को उद्धृत किया है कि वाक्तत्व (शब्दतस्व) सूक्ष्म और एक है। तात्त्विक रूप से यह अर्थ से पृथक् नहीं है। वही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, उसी के नाना रूप हैं, वह हृदय में रहता है। उसको सामान्य व्यक्ति पृथक् समझते हैं—

सूक्ष्मार्थेनाप्रविभवतत्वाम एकां वाचमभिष्यन्दमानाम्
तामन्यं विदुध्यामिव च नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥

—मंजूषा ५०५०

१.२.५.५ कैयट और नागेश का चिन्तन फिर भी अन्य वैयाकरणों से भिन्न है। कात्यायन और पतंजलि अर्थ को नित्य मानते हैं, किन्तु कैयट और नागेश अर्थ के स्थान पर उसके प्रवाह को नित्य मानते हैं। क्योंकि उनका तर्क है कि यदि शब्द एक ही अर्थ देता है तो नित्य माना जा सकता है, अन्यथा नहीं।[3]

---

१. एकस्त्वैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथकस्थितौ। वाक्य० २/३१

२. भेदेनाव गृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोदृतौ।
भेदकार्येषु हेतुत्वं अविरोघेन गच्छतः॥ वाक्य० १/१५८

३. यद्वदेक: शब्द: एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्,
तत् एतद्वयुत्यते वक्तुम, यतस्त्वनियमः
ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्था: स्युः।—प्रदीपमहाभाष्य १/३/४०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१ ३. ०. शब्दार्थ-संबंध : दार्शनिक दृष्टि

शब्दार्थ संबंध की नित्यता और अनित्यता का सभी भारतीय दर्शनों में विवेचन हुआ है। यहाँ समस्त दार्शनिकों के मतों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. ३. १ शब्दार्थ-संबंध : मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के अनुसार 'पद' या शब्द नित्य हैं, उनके वर्ण नित्य हैं, उन पदों में अर्थ रखने तथा प्रदान करने की शक्ति भी नित्य है।[1] जैमिनि के औत्पत्तिक सूत्र में शब्द एवं अर्थ के संबंध को औत्पतिक माना गया है—

'औत्पतिकस्तु शब्दस्यार्थेन समबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यातिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षिस्वात् ।'—शाबर भाष्य, पृ० २

(वेदवाक्य में अवस्थित प्रत्येक पद अपने अर्थ से स्वाभाविक संबंध रखता है। धर्म के यथार्थ के ज्ञान के साधन ईश्वरोपदिष्ट होने से तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपलब्ध व्यभिचारी और विरोधी न होने पर भी वादरायण व्यास के मत में यह वचन अपने अर्थ की सत्यता के कारण धर्म में स्वतः प्रमाण है।)

१. ३. १. २ शब्द और अर्थ के संबंध को मीमांसक शक्ति कहता है। यह शक्ति उसीप्रकार शब्दों में स्वाभाविक होती है, जिसप्रकार अग्नि में दाहक शक्ति होती है। गदाधर भट्ट ने मीमांसा के इस दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

यत्तुज्ञाने पदानां शक्तिर्नत्वर्थे तथा च तज्ज्ञानशस्त्वत्वं तद्वाचकत्वं त... तद्विषयकशाब्दधी जनकतावच्छेदकधर्मवत्वाम्। स च धर्मों वह्न्यादिनिष्ठ दाहकवदनुकूल शक्तित्वात् पदार्थान्तरम् ।—शक्तिवाद पृ० १२

१. ३. १. ३ जहाँ एक और मीमांसक शब्द और अर्थ के नित्य संबंध को स्वीकार करते हैं, वहीं दूसरी ओर मीमांसासूत्र के मान्यकार शबर स्वामी की मान्यता है कि शब्द से अर्थ का संबंध नहीं है। शब्द और अर्थ स्वभाव से ही असंबद्ध हैं।[2] इस संदर्भ में उनका तर्क है कि शब्द और अर्थ का संबंध मानें भी कैसे ? क्योंकि शब्द का उच्चारण तो मुख से होता है। शब्दोच्चारण के साथ वस्तु तो मुख में आ नहीं जाती। वह तो भूमि पर अथवा अन्यत्र पायी जाती है।

१. ३ १. ४ : इस प्रकार स्पष्ट है कि मीमासकों ने शब्दार्थ संबंध औत्पतिक अर्थात नित्यमाना है। योगसूत्र के व्यासमान्य (जै० सू० १/१/१५) में लिखा है—

किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकस्वं अथप्रदीपप्रकाशवदस्थितम्। स्थितोऽस्य वाचकेन सहसम्बन्धः संकेतस्त्वीश्वरस्यमेवार्थममिनयति । यथावस्थितः पितापूत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्वयोत्यते अयमम्य पितापुत्र इति ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मीमांसक प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों की भाँति ही इनका सम्बन्ध नित्य मानते हैं।

---

१. कारिका—सुचरित मिश्र श्लोक, भाग ३, पृ० १६४

२. नैव शब्दस्यार्थेन संबंधः स्वभावतो यथा संबंधावतौ शब्दार्थौ—मीमांसदर्शनम् वात्यम् १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. ३. २. ० शब्दार्थ-सम्बन्ध : नैयायिक दृष्टि

नैयायिक शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। इसकी पुष्टि में उनके तर्क अधोलिखित हैं—

१. ३. २. १ प्राप्ति लक्षण-अभाव में शब्दार्थ-संबंध निषेध[1]।

१. ३. २. २ वास्तविक वस्तु की स्थिति के अभाव में शब्दार्थ-संबंध निषेध[2]।

१. ३. २. ३ एक ही शब्द का एक ही निश्चित अर्थ के अभाव में शब्दार्थ-संबंध निषेध[3]।

१. ३. २. ४ समान योग्यता के अभाव में सम्बन्ध का प्रतिषेध।[4] इस निषेधात्मक दृष्टि के बाद भी वात्सायन ने (न्यायसूत्र, २/१/५६) के भाष्य में सांकेतिक संबंध स्वीकार करते हुए कहा है कि —"शब्द और अर्थ में एक प्रकार की व्यवस्था देखी जाती है, अतः दोनों के संबंध का निषेध नहीं किया जा सकता। तो संबंध किस प्रकार का है, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह संबंध सांकेतिक है।[5]

१. ३. ३. ० शब्दार्थ-सम्बन्ध : वैशेषिक दृष्टि :—

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया है। इसके लिए उनके तर्क इसप्रकार हैं—

१. ३. ३. १ न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है।[6] शब्द से केवल द्रव्य का बोध कराया जाता है। इसप्रकार युतसिद्धिता (पृथक् स्थिति होने वाला) के कारण द्रव्य और गुण में संयोग संबंध नहीं है।[7]

१. ४. ० शब्दार्थ-सम्बन्ध : भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार :—

शब्दार्थ, रस और अलंकार—काव्यशास्त्र के ये तीन प्रमुख घटक हैं। ये तीनों घटक शास्त्रत. विवेच्य होते हुए भी व्यवहारतः अविभाज्य हैं। सभी काव्यशास्त्रियों ने श्रद्धापूर्वक[8] वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता को स्वीकार किया

---

१. आप्तोपदेश सामर्थ्याच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययः। न्याय २/१/५३
२. पूरणप्रदाह पातनानुलब्धेश्च सम्बन्धाभावः। वही २/१/५४
३. जाति विशेषचानियमात—२/१/५७
४. शब्द ससंर्गयोग्यार्थ प्रतीति : कित्म कल्पना। न्यायमंजरी, पृ० ८६
५. शब्दार्थ व्यवस्थानाप्रतिषेधः न्यायसूत्र २/१/५५
न, सामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य। वही २/१/५६
६. शब्देअम्बर गुणः—वैशेषिकदर्शन-शब्दप्रकरणम्, पृ० ३२६
७. युतसिद्धयभावात कार्यकारणयोः
संयोगविभागौ न विद्यते—वैशेषिकसूत्र ७/५/१४, पृ० ५६
८. सू कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दाः सांकेतिकानर्थान मन्यते पारमार्थिकान ॥
विनश्वरोस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सत्ता।
नमोऽस्तु तेभ्यो विद्भदभ्यो प्रमाणं येस्य निश्चितौ—काव्यलंकार ६/१४-१५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं।[१]

शब्दार्थ को काव्य कहना ही शब्द और अर्थ के नित्य अर्थ-सम्बन्ध को स्वीकार करना है। भामह[२], वामन[३], रुद्रट[४], आनन्दवर्धन[५], मम्मट[६], वाग्भट[७], विद्यानाथ[८], विद्याधर[९] प्रभृति आचार्यों ने काव्यलक्षण करते समय शब्द और अर्थ को काव्य माना है'

१.४.२ वैयाकरणों की शब्द ब्रह्म की परिकल्पना और महाकाव्यकार के प्रसिद्ध कथन—'सिद्धेशब्दार्थ सम्बन्धे' के अनुरूप भारतीय काव्यशास्त्र का सर्वमान्य कथन 'शब्दार्थौकाव्यम्' प्रकारान्तर से शब्दार्थ-सम्बन्ध-नित्यता की ओर संकेत करता है।

१.४.३ शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध पर भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र कलेवर अवस्थित है। कुन्तक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—काव्य में शब्द और अर्थ दो मित्रों के समान एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हुए परस्पर संलग्न हैं।[१०]

१.५.० शब्दार्थ-सम्बन्ध : आधुनिक भारतीय दृष्टि

प्राचीन भारतीय शब्दार्थ-चिन्तन-परम्परा को अद्यावधि अक्षुण्ण बनाये रखने में आधुनिक विद्वानों का प्रयास स्तुत्य है। इस परम्परा के सातत्य के लिए प्रयासरत आचार्यों में आचार्य रामचन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० कपिल द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इनके अनुचिन्तन को यथाक्रम यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. आचार्य पण्डिराज जगन्नाथ यद्यपि 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्' (रसगंगधर, प्रथम आनन) इसप्रकार काव्यलक्षण करते हुए शब्दमात्र को काव्य मानने के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यहाँ विचारणीय है कि रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द ही जब काव्य है तब अर्थ को उससे असम्पृक्त कैसे कहा जा सकता है।

२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तदविधा—भामह, काव्यालंकार २/१६

३. काव्यशब्दो यं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते। वामन-काव्य० १/१

४. शब्दार्थौ काव्यम्—रुद्रट—काव्यालंकार २/१

५. शब्दार्थशरीरं तावकाव्यम्—आनन्दवर्धन-धवन्यालोक।

६. तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। मम्मट—काव्यप्रकाश सूत्र।

७. शब्दार्थौ निर्दोषौ स गुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्—वाग्भट वाग्भटालंकार, पृ० १४

८. गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। विद्यानाथ—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४२।

९. शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधै रात्माभ्यधायि ध्वनिः। एकावली, पृ० १, १३

१०. समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा॥
—कुन्तक—वक्रोक्ति जीवित १/७, पृ० २६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. ५. १ भाषाविज्ञान का एक सामान्य सिद्धान्त ही यह है कि भिन्न-भिन्न शों और समाजों में शब्दों के साथ कुछ विशिष्ट अर्थ सम्बद्ध हो जात हैं और जिन देशों समाजों में जो शब्द जिन विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, वे उन्हीं देशों और दूसरे माजों में नहीं। परन्तु जब हम देखते हैं कि मनुष्य के कंठ से उच्चरित होने वाले युक्त शब्दों का कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है, तब तात्त्विक तथा दार्शनिक दृष्टियों से ह कहने में भी कोई हर्ज नहीं है कि अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध नित्य होता है।

——आचार्य रामचन्द्र वर्मा——शब्दार्थदर्शन, पृ० २५।

१. ५. २ (क) शब्द और अर्थ अश्विनी कुमारों की तरह जुड़े हुए हैं।

डॉ० बाबूराम सक्सेना——अर्थविज्ञान, पृ० ६।

(ख) शब्द और अर्थ की नित्यता का केवल यह मतलब है कि प्रत्येक शब्द का र्थ है, यह नित्य सिद्ध बात है। पर किसी विशेष शब्द का कौन विशेष अर्थ है यह बात मयिक है, समय-समय पर शब्द का विशेष अर्थ होता है।

वही पृ० १३।

१. ५. ३ 'ज्ञान में प्रकाशशीलता अर्थात् बोधन-शक्ति तभी है जब तक उसमें क्शक्ति (शब्द-चकित प्रतिभा) विद्यमान है। यदि ज्ञान में नित्यरूप से रहने वाली क्शक्ति निकल जाये तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता।'

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० ६८।

६. ० शब्दार्थ-सम्बन्ध : कवि-दृष्टि :——

शब्दार्थ-सम्बन्ध स्वरूप कवि-दृष्टि में किस प्रकार समादृत रहा है, इस पर चार करना आवश्यक है। यहाँ पर समस्त कवि-दृष्टि का उल्लेख संभव नहीं है, अतः युग-प्रतिनिधि कवियों के विचारों की मीमांसा की जा रही है।

६. १ व्यास-दृष्टि

'अर्थविज्ञान' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग महाभारत में मिलता है।[1] वहाँ इसका अर्थतत्त्व का विवेचन है। महाभारत में सुवर्चला और श्वेतकेतु के छह प्रश्नोत्तरों शब्द और अर्थ का लक्षण, स्वरूप, सम्बन्ध, नित्यानित्य, व्यापकता आदि का चन किया गया है। यहाँ विवेच्य विषय से सम्बन्धित अंश का विवेचन किया जा है——

सुर्चला के शब्दार्थ-सम्बन्ध के प्रसंग में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्वेत- ने कहा——

'अर्थ के साथ शब्द का वाचकत्व-रूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रम से उच्चारण करने पर भी का कुछ न कुछ अर्थ होता ही है। जैसे——नदी, दीन इत्यादि।[2]

---

१. शुश्रा श्रुवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
उहापोहऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

२. स संसर्गोऽतिमा त्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते।
अस्तिचेद वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वै। ——वही २२०/७५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. ६. २ महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर (शंकर) को वाणी और अर्थ के समान सम्पृक्त बताकर उनकी वन्दना की है।[१]

१. ६. ३ महाकवि तुलसीदास

तुलसीदास की मान्यता है कि शब्द और अर्थ तत्वतः जल और लहर के समान अभिन्न हैं।[२] उन्होने काव्य सम्बन्धी सभी प्रसंगों में शब्द और अर्थ दोनों का साथ-साथ उल्लेख करते हुए सामरस्य पर बल दिया है।[३]

१. ७. ० शब्दार्थ-सम्बन्ध : पाश्चात्य चितन्न

भारतीय चिन्तकों की भाँति पाश्चात्य भाषा–मनीषियों ने भी शब्दार्थ पर गहन चिन्तन किये हैं। शब्दार्थ सम्बन्ध स्वरूप पर विचार करने वाले पाश्चात्य मनीषियों की लम्बी परम्परा है। यहाँ कतिपय प्रमुख भाषाविदों की दृष्टि का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

आरडेन और रिचर्ड्स की दृष्टि में

आरडेन और रिचर्ड्स ने सांकेतिक और स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करते हुए लिखा है—जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि शब्दों का स्वयं कोई अर्थ नहीं है यद्यपि पहले यह सार्वभौम विश्वास था कि शब्दों का कोई अर्थ होता है। इनका अर्थ होता है जबकि विचारक उनका प्रयोग करता है कि वे किस अर्थ के बोधक हैं। अर्थ में यह माना जा सकता है कि उनमें अर्थ है, यह कि शब्द अर्थबोध के साधन हैं। विचारों और वस्तु में सम्बन्ध है, कभी साक्षात् कभी असाक्षात्। शब्द और वस्तु का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध असाक्षात् है, क्योंकि कोई किसी अर्थ के लिए इनका प्रयोग करता है। भाव यह है कि शब्द और वस्तु का वास्तविक साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध सांकेतिक है।[४]

इसी के साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जब यह कहा जाता है कि इस शब्द का यह अर्थ है तब इसी भाव से यह प्रयोग किया जाता है कि शब्द और अर्थ में साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध है।[५]

डॉ० शिलर की दृष्टि में :—

'अर्थ और कुछ नहीं, वह अनिवार्यतः वैयक्तिक होता है क्योंकि किसी वस्तु का

---

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ। —रघु० १/१

२. गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। १/१८

३. (क) वर्णानामर्थ संघानां——। बालकांड श्लोक।
(ख) आखर अरथ अलंकृत नाना १/७/९
(ग) कविहि अरथ आखर बलु साँचा।

४. मीनिंग आॅफ मीनिंग, पृ० ९ से १२।

५. वही, पृ० १२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र्थ उस व्यक्ति पर निर्भर करता है जिससे वह वस्तु अभिप्रेत होती है।'

"Meaning is essentialy personal..... ......What any thing means depends on who means it."—(Meaning of Meaning)

डॉ० जे० एस० मूर की दृष्टि में :—

शब्द का अर्थ साधारणतः जो प्रचलित होता है, वही सर्वमान्य नहीं होता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अर्थ वस्तुतः संदर्भ या प्रकरण होता है, अर्थात् प्रत्येक अनुभव में अथवा कल्पना के समूह में, सम्बद्ध प्रतिरूप, एक संदर्भ या प्रकरण का साररूप धारण कर लेता है। काल, प्रसंग, मनोवृत्ति, प्रकरण आदि के अनुसार एक ही शब्द से भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होता है। इस दृष्टि से शब्द नित्य है और अर्थ अनित्य।

डॉ० हडसन की दृष्टि में :—

प्राचीन मत का समर्थन करते हुए आप कहते हैं—वाक् के दो ही पार्श्व हैं : शब्द लक्ष्य है और अर्थ लक्ष्य है। व्यवहार में ये एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

डॉ० ब्रोसिस्लाव यालिनोस्की की दृष्टि में :—

'भाषातत्त्व-सम्बन्धी विवेचन और संस्कृति जिससे कि भाषा का सम्बन्ध है, के विश्लेषण में दोनों में जो अभिन्न सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है, यह विश्वसनीय रूप से इस बात को प्रकट करता है कि शब्द और अर्थ दोनों में से एक भी दूसरे से पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते।" (पृ० ३०९)

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित उपयोगी निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समवाय एवं तार्किक नहीं, अपितु यादृच्छिक है।

(२) संसार की भाषाओं में न तो शब्द-साम्य दिखाई पड़ता है और न तो अर्थ-साम्य। उपर्युक्त कथन के अनुसार सभी भाषाओं में अलग-अलग वस्तुओं के अलग-अलग नाम हैं। जैसे हिन्दी का 'भाषा', अंग्रेजी का 'लैंग्वेज', फारसी में 'जवान' रूसी में 'यांत्रिक' मात्र 'भाषा' अर्थ को प्रकट करने के लिए अनेक शब्द हैं। एक उदाहरण और है : 'वाड़ी' शब्द का बंगला में 'घर' और हिन्दी में 'काँटे की वाड़ी' अर्थ होता है। अतः स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यादृच्छिक न होता तो संसार की सभी भाषाएँ, लगभग, समान अर्थ वाली होतीं।

(३) शब्द के सहारे ही बुद्धि-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ऐसा कोई विचार नहीं जिसमें शब्द का अनुवेध न हो। इस दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य एवं अभिन्न है।

(४) शब्दार्थ-सम्बन्ध और स्वरूप-विचार भाषा अथवा अभिव्यक्ति एवं विचार-प्रणाली के बीच के गहरे सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

(५) भाषा के भौतिक पक्ष अथवा ध्वन्यात्मक पक्ष और भाषा के मानसिक पक्ष अथवा अर्थ पक्ष में जितना अंतर एवं जितनी निकटता है, उतना ही अंतर और उतनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही निकटता श्रूयमाण शब्द और बोधक अर्थ में है। शब्द के द्वारा ही अर्थ अभिव्यक्त होता है, किन्तु शब्द ही अर्थ नहीं, वह अर्थ का वाचक है।

पर्याय

पर्याय भाषा की समृद्धि के सूचक हैं। जो भाषा जितनी ही सम्पन्न होगी, उसके पर्यायों की संख्या उतनी ही अधिक होगी। एक से प्रतीत होने वाले किन्तु सूक्ष्म अर्थ-भेद से गर्भित शब्दों की भावाभिव्यक्ति कवि या लेखक पर्याय के माध्यम से करता है। इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि पर्यायाधिक्य मात्र भाषा की ही समृद्धि के सूचक नहीं है, अपितु कवि की बौद्धिक समृद्धि के परिचायक हैं। पर्याय से तात्पर्य एक ही वस्तु, व्यक्ति और क्रिया आदि के विभिन्न वाचकों से है। एक ही अर्थ के बोधक विभिन्न शब्दों को पर्याय के अतिरिक्त एकार्थक और समानार्थक शब्दों के नाम से भी अभिहित किया जाता है। पर्याय के स्वरूपगत अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए यहाँ कुछ विद्वानों द्वारा दी गयी पर्याय की परिभाषा को प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ० बाबूराम सक्सेना

प्राय: एक संकेत वाले शब्द पर्यायवाची कहलाते हैं— — — — — —इनको एकार्थी या समानार्थी भी कह सकते हैं।[१]

डॉ० सक्सेना की इस परिभाषा में अर्थ की एकता या समानता पर बल दिया गया है।

डॉ० हरदेव बाहरी

"Synonyms, we agree, are words of almost identical meaning or common 'core-sense' but with a certain shade or meanse of difference."[२]

(हमारे मत से, पर्याय लगभग एक से अर्थ या आन्तरिक भाव वाले शब्द होते हैं, परन्तु इनमें अर्थ की छाया का अन्तर भी रहता है।)

यह परिभाषा बहुत कुछ स्पष्ट होते हुए भी अनेक आवश्यक लक्षणों से रहित है।

डॉ० भोलानाथ तिवारी

पर्याय या पर्यायवाची शब्दों को प्राय: लोग बिल्कुल एक अर्थवाले शब्द समझते हैं, पर यथार्थत: पर्याय मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों को कहते हैं।[३]

इस परिभाषा में वही गुण-दोष है जो डॉ० बाहरी की परिभाषा में।

---

१. अर्थविज्ञान, पृ० १४१।

२. हिन्दी सीमेन्टिक्स, पृ० १२१।

३. वृहत् पर्यायवाची कोश—भूमिका, पृ० १०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बाबू रामचन्द्र वर्मा

पर्याय के क्षेत्र में ऐसे शब्द-वर्ग लिए जाते हैं जिनका आधारिक या मूल अर्थ तो बहुत कुछ एक-सा हो, परन्तु जिनमें कुछ अलग-अलग और नई-नई विवक्षाएँ भी लगी हों।[1]

यह परिभाषा भी उक्त तीनों परिभाषाओं के समान गुण-दोष से युक्त है।

डॉ० बदरीनाथ कपूर

एक ही शब्द से भेद वाले ऐसे दो या अधिक शब्द पर्याय हैं जो एक ही पदार्थ के बोधक हों अथवा जिनका सामान्य अर्थ निश्चितरूप से उनकी कम से कम एक प्रमुख विवक्षा से युक्त हो।[2]

यह परिभाषा भी डॉ० बाहरी की परिभाषा के समान ही गुण-दोषयुक्त है।

डॉ० नगेन्द्र

पर्याय से अभिप्राय है समानार्थक संज्ञा शब्द।[3] यह परिभाषा अधूरी एवं भ्रामक है। इस परिभाषा के अनुसार पर्याय केवल संज्ञा शब्द ही होते हैं, जबकि सर्वनाम पर्याय (जैसे—वह सो, मैं आदि), विशेषण पर्याय (कराल, घोर, प्रचंड, दारुण, विकट, विकराल, भयंकर, भयानक आदि), क्रिया पर्याय (देखना, निहारना, अवलोकना, निरखना, जोहना आदि), इसीप्रकार से अन्य वाग्भागों, वाक्यों, मुहावरों और कहावतों में भी पर्याय-वाचिकता होती है। अतः यह परिभाषा अधूरी एवं भ्रामक है।

पर्याय-विवेचन की प्रक्रिया

पर्याय शब्दों को परिभाषित करने के बाद उनकी विवेचन-प्रक्रिया का अनुक्रम आता है। इस संदर्भ में लियांसन और डब्लू० आई० कालिनसन की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। लियांसन के अनुसार पर्याय के चार संभाव्य वर्ग बन सकते हैं—

(१) पूर्ण तथा सर्वांगपूर्ण पर्याय

जहाँ पर सभी शब्द समान रूप से वही अर्थबोध कराते हों; जैसे—सुत तनय, आत्मज, तनुज।

(२) पूर्ण किन्तु एकांगी

जहाँ पर सभी शब्द पूर्ण हों, किन्तु एकांगी हों; जैसे पत्नी, जाया, भार्या—ये तीनों शब्द उस स्त्री के लिए आते हैं जो किसी एक पुरुष की अर्धांगिनी हो। किन्तु वंध्या को जाया और स्वयं उपार्जन करने वाली आधुनिका को भार्या कहा जा सकता। अतः ये पूर्ण किन्तु एकांगी पर्याय हैं।

---

१. शब्दार्थ दर्शन, पृ० ७८।
२. हिन्दी पर्यायों का भाषागत अध्ययन, पृ० १२।
३. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—भूमिका, पृ० ६०।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) अपूर्ण किन्तु सर्वांग-सम्पन्न

जहाँ पर शब्द का अर्थ पूरा-पूरा न बैठता हो, फिर भी प्रयोगगत अर्थ एक हो; जैसे—जननी और माता पूर्णतया एकार्थक न होते हुए भी पर्याय के रूप में मान्य हैं।

(४) अपूर्ण तथा एकांगी

जैसे—प्रसंगवश 'जनक' और 'पिता' पर्याय हो जाते हैं परन्तु 'जनक' शब्द पिता का या 'पिता' शब्द जनक का पूरा अर्थ नहीं देते। सुखजनक, लाभजनक आदि में जनक शब्द पिता का पर्याय नहीं है। दूसरी ओर गोद में लिए हुए दत्तक पुत्र का पालक पिता होता है परन्तु वह उसका जनक नहीं है अतः वह पिता नहीं रहा।

इसीप्रकार से डब्लू० ई० कालिसन[1] ने पर्यायों को नौ वर्गों में वर्गीकृत किया है—

१. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक सामान्य है—इन्कार, अस्वीकार।

२. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक तीखा है—खंडन, इन्कार।

३. एक शब्द में दूसरे की अपेक्षा भावबोध कराने की क्षमता अधिक है—अस्वीकार करना, ना करना।

४. एक शब्द में नैतिक गुण-दोष की व्यंजना रहती है, दूसरा सामान्य होता है—मितव्ययी, किफायती।

५. एक शब्द दूसरे की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है—प्राणान्त, मृत्यु।

६. एक शब्द में दूसरे शब्द की अपेक्षा बोलचाल का रंग अधिक रहता है—ठुकराना, अस्वीकार करना।

७. एक शब्द में दूसरे शब्द की अपेक्षा स्थानीय रंग का आधिक्य रहता है—बूचड़, कसाई।

८. दो में एक शब्द बच्चों की भाषा का रहता है—तात, पिता; किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों वर्गीकरण भ्रामक एवं अपूर्ण हैं क्योंकि इस तरह वर्ग तो और बनते जाते हैं या हो सकते हैं।

पर्यायों के अध्ययन को अग्रांकित साँचे[2] के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. इन्ट्रोडक्शन टू थ्योरेटिकल सेमेन्टिक्स, १९६८, पृ० ४४८।
करेंट ट्रेंडस इन लिंग्विरिक्त, खंड ९, पृ० ३५७।

२. रामचरितमानस के शब्दों का अर्थतात्त्विक अध्ययन—लेखक का अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, पृ० २४।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रमांक	पर्यायमाला	पर्याय	मानस के संदर्भ में अर्थगत विवक्षाएँ (अर्थ का विशिष्ट मापन)	विशेष व्याख्या
१.	गणेश	१. गजवदन १/२३५/६ (१) २. गजाननु १/३३६/८ (१) ३. करिवरवदनु १/०/१ (१)	आकृतिसूचक	गज के समान वदन और आनन होने के कारण गणेश के इन पर्यायों को व्यवहृत किया गया है।
		४. गनपति १/३२३/६१ १(५) ५. गनराज १/३४७/८ (१) ६. गनेश १/२५४/८ (४) ७. गननायक १/०/१ (२) ८. गनप २/२७३/४ (४)	प्रभुत्वसूचक	शिवजी के गन (=गण) कतिपय योगपरांगमुख तथा योगी हैं एवं कुछ क्रूर उपद्रवी और विध्वंसकारी है। इन-इन सदसत्प्रवृत्ति वाले गणों के विनायक होने से गणेश अवश्मेव विघ्नविनाशक हैं। इस आशय की अभिव्यंजना के लिए इन पर्यायो का प्रयोग हुआ है।
		९. विनायक १/श्लोक/१	वैशिष्ट्यसूचक	विनायक का शाब्दिक अर्थ है—विशिष्ट नायक। बुद्धि की अधिष्ठात्री सरस्वती के साथ गणेश को शिव-गणों का नहीं, अपितु देवों का भी विशिष्ट नायक मानने के कारण उनको प्रथमतः नमन करना कवि ने आवश्यक समझा। इस-लिए माना कि प्रथम मंगल पद में 'वंदेवाणी विनायकौ' लिखा।

इसीप्रकार से किसी भी काव्य, महाकाव्य अथवा कृति के पर्याय शब्दों का विश्लेषण किया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहुअर्थकता

बहुअर्थकता से तात्पर्य उन शब्दों से है जो भिन्न सन्दर्भों में प्रयुक्त होकर एकाधिक अर्थ एवं अर्थछायाओं को द्योतित करते हैं। इसे बहुअर्थक और नानार्थक संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। अर्थतत्त्व-विवेचन के संदर्भ में ऐसे शब्दों के अर्थ-निर्धारण की उपयुक्त एवं वैज्ञानिक विधि के अनुसंधान की समस्या अभी तक वनी हुई है। उदाहरणार्थ, जैसे सारंग शब्द का अर्थ है- -कृष्ण, मृग, कमल आदि। इसमें से किस अर्थ को स्वीकार किया जाये और किस अर्थ को नहीं अथवा किस शब्द को केन्द्रीय महत्त्व दिया जाये और किसको गौण, इसका आधार क्या हो ? यह समस्या अर्थतत्त्व-चिन्तकों के सामने सदैव बनी रही। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने ऐसे शब्दोंके के अर्थ-निर्णय के लिए चौदह सूत्रों[1] का उल्लेख किया है—

संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द का सानिध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर।

उपर्युक्त सूत्र बहुअर्थक शब्दों के अर्थनिर्णय का सामर्थ्य रखते हुए भी मात्र दिशा-निर्देशक ही प्रतीत होते हैं। कारण कि, इतने व्यापक स्तर पर किसी शब्द संदर्भ में सोचना वास्तविक होते ही हुए भी वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता। आज आवश्यकता है पाणिनि की तरह सूत्रात्मक शैली में सिद्धान्तों के प्रतिपादन की। ऐसे शब्दों के अर्थ का निर्धारण इसप्रकार के साँचे[2] के अन्तर्गत किया जा सकता है—

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ —वाक्यपदीय २/३१७-१८।

२. त्रिभुवननाथ शुक्ल रामचरितमानस के शब्दों का अर्थतात्विक अध्ययन, अप्रकाशित शोधप्रबंध, पृ० २५५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	केन्द्रीय अर्थ		अन्य अर्थ	
	आवृत्ति की दृष्टि से	शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से	शाब्दिक अर्थ	सान्दर्भिक अर्थ
कर	का १/३५/६ १/३८,१/४३ १/४६/२ १/४९/१ इत्यादि (२९१)	का	हाथ १/३४/२, १/५९/७, १/८४/३, १/९२/५, १/९३/७, इत्यादि (१७५)	१. करना १/१८०/५ १/९७/७ १/१९९ इत्यादि (४४) २. किरण १/३२/१०, १/४३/८, इत्यादि (१३) ३. सूँड़ १/१४७/८, १/२१३/७, इत्यादि (४) ४. हथेली १/१८२/१ (१) ५. में ४/२९/६ ५/४६/७ इत्यादि (७) ६. से ७/१०६/७ (१)

इसीप्रकार किसी भी काव्य, महाकाव्य अथवा गद्यकृति के वहुअर्थक शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

ऊपर 'कर' शब्द का अर्थ-निर्धारण दो दृष्टियों से किया गया है—

(१) केन्द्रीय अर्थ, (२) अन्य अर्थ। केन्द्रीय अर्थ का निर्धारण दो दृष्टियों से किया गया है—

(१) आवृत्ति की दृष्टि, (२) शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से।

आवृत्ति की दृष्टि से

आवृत्ति की दृष्टि से केन्द्रीय अर्थ का निर्धारण वाचक शब्द के समस्त प्रकार के अर्थों के आधार पर हुआ है। इसमें वाचक शब्द (कर) के शाब्दिक अर्थों एवं सांदर्भिक अर्थों—दोनों प्रकार के अर्थों के योग को ध्यान में रखकर किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से :—

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से केन्द्रीय अर्थ का निर्धारण वाचक शब्द के केवल शाब्दिक-अर्थों की संख्या के आधार पर हुआ है।

अन्य अर्थों का निर्धारण दो दृष्टियों से किया गया है—

१. शाब्दिक दृष्टि
२. सांदर्भिक दृष्टि

केन्दीय अर्थ के अतिरिक्त अन्य शाब्दिक अर्थों को 'अन्य अर्थ' के प्रथम उपवर्ग 'शाब्कि अर्थ' में रखा गया है। अन्य उपवर्ग में शब्द के सांदर्भिक अर्थों को रखा गया है। जिन स्थितियों में शब्द के अर्थ रूपों की आवृत्तियाँ समान हैं, उन शब्दों के केन्द्रीय अर्थ का निर्धारण आवृत्ति की दृष्टि से नहीं किया गया है। जब शब्द के शाब्दिक अथ की आवृत्तियाँ सर्वाधिक रही हैं तो वहाँ आवृत्ति और शाब्दिक अर्थ दोनों दृष्टियों से केन्द्रीय अर्थ समान हैं। जिन अर्थों में जितनी बार आवृत्तियाँ हुई हैं, उनको कोष्ठक में दर्शाया गया है। शब्द के जिन अर्थों की आवृत्तियाँ पाँच से अधिक हैं, उनके पाँच और जिनकी आवृत्तियाँ पाँच से कम हैं, उनके दो या तीन सन्दर्भ दिये गये हैं।

कोशविज्ञान

२.० भूमिका (कोष का अर्थ, महत्त्व, कार्य एवं सीमा)

'कोश' और 'कोष'—दोनों का तात्पर्य संग्रह से है। एक में शब्दों का संग्रह किया जाता है और दूसरे में द्रव्य का। यहाँ विवेच्य विषय कोश है। इसके लिए कोशविज्ञान (Lexicography) और कोशकला (Lexicology) दो शब्द प्रचलित हैं। इसके संदर्भ में डॉ० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि कोशविज्ञान (Lexicography), कोश बनाने का विज्ञान है। इसमें उन सिद्धान्तों का विवेचन करते हैं जिनके आधार पर कोश बनाते हैं।[1] इसप्रकार इसका सम्बन्ध सिद्धान्त से है। दूसरी ओर 'कोशकला' (Lexicology) सिद्धान्तपरक न होकर 'कला' या प्रयोग है। शब्दों का संग्रह करके उनको अकारादि-क्रम से सजाने (रखने) की व्यवस्था, उनके धातुगत अथवा व्युत्पत्ति-परक अर्थ, लिंग-निर्धारण, उच्चारण, व्याकरणिक निर्देश, पर्याय (Synonym) बहुअर्थक (Polysemy) शब्दों का संकेत तथा निर्देश, लोकोक्ति एवं मुहावरे आदि का संकलन करके—इन सबकी आर्थी व्याख्या एवं अर्थच्छायाओं का उल्लेख जिस शास्त्र या विज्ञान के द्वारा (या अन्तर्गत) किया जाता है, उसे कोश कहा जाता है। इसको दूसरे शब्दों में इसप्रकार से कहा जा सकता है कि प्रत्येक सम्भावनाओं को दृष्टि में रखकर शब्दों का आर्थी विश्लेषण जिस शास्त्र के अन्तर्गत, होता है, उसे सम्प्रति कोश की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

डॉ० एस० एम० कत्रे के अनुसार—'सिद्धान्तः कोशविज्ञान भाषा के सांकेतिक शब्दरूपों या पदिमों के संग्रह के साथ भाषिक समुदाय (निकाय) की वह संयोजना है जो अर्थपूर्ण स्थितियों के संदर्भ में प्रकट होती है। सामान्य बोलचाल में हम कहते हैं कि

१. भाषाविज्ञान कोश, पृ० १७१-७२।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोश का शरीर, शब्दों या पदों से निर्मित होता है जो वर्णादि क्रम से शब्दसूची के साथ अर्थगत सांकेतिक स्थितियों में संयोजित किए जाते हैं।[1]

विलियम जे० एन्टविस्त्वे ने कोशविज्ञान की कार्यसीमा एवं उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'सभी शाखाओं में समन्वय सम्बन्ध बनाने वाला तथा प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति और अर्थ निश्चित करने वाला, शब्द की प्राचीनता और उनका सम्बन्ध निरूपित करने वाला एवं विशिष्ट वाक्य-विन्यास में शब्द-प्रयोग को निर्दिष्ट करने वाला शास्त्र है।[2]

२. १. ० कोष की अध्ययन पद्धतियाँ

भाषाविज्ञान के अन्य रूपों के अध्ययन की भाँति कोशविज्ञान का भी अध्ययन प्रमुखतः तीन रूप में किया जाता है—वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक।

२. १. १ वर्णनात्मक

इस पद्धति में भाषिक संरचना की दृष्टि से मुक्त शब्दरूप का अध्ययन किया जाता है। यह एक व्यावहारिक पद्धति है। इसके आधार पर प्रत्येक शब्दकोश का सम्पादन किया जाता है।

२. १. २ ऐतिहासिक

इस पद्धति के अन्तर्गत कालक्रमानुसार शब्द और अर्थ का निर्धारण किया जाता है। विशेषकर व्याख्यात्मक कोशों में इस पद्धति का उपयोग किया जाता है।

२. १. ३ तुलनात्मक

इस पद्धति में अलग-अलग भाषाओं में प्राप्त होने वाले समान कोशीय शब्द-रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। टर्नर की नेपाली डिक्शनरी इसी पद्धति पर तैयार की गयी है। भारतीय आर्यभाषाओं का कोश भी इसीप्रकार का है।

२. २. ० कोश-प्रकार

कोश-निर्माण का कार्य कई स्तरों पर कई ढंग से किया जा सकता है। सामान्यतः कोश तीन प्रकार के कहे गये हैं—भाषाकोश, विषयकोश और लेखक कोश। इन्हीं तीनों वर्गीकृत रूपों को विभिन्न भारतीय कोषविदों ने स्वमत्यानुसार भिन्न-भिन्न

---

१. "Lexicography principally deals with the collection of the significant forms or morphemes of the language and their ordering in the linguistic corpus with reference to the meaningful situation in which each occurs. In common parlance we say that a lexicon consist of the body of words or vocables (whence vocabulary) alphabetically arranged, with a list of meanings which they bear in significant situation" — S. M. Katre, Lexicography 1965, p. 10-11.

२. "Lexicography: It is a co-ordination of all branches of Linguistic Scince to determine the origin and meaning of each word, their dates and relations, and the use of the word in typical sentences."—Aspects of Language, London, 1951, p. 257.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपों में प्रस्तुत किया हैं। यहाँ श्री रामचन्द्र वर्मा, डॉ० भोलानाथ तिवारी और डॉ० अचलानंद जखमोला कृत वर्गीकरण का विवेचन किया जा रहा है।

२. २. १ कोश प्रकर : रामचन्द्र वर्मा की दृष्टि में :—

श्री रामचन्द्र वर्मा ने अपने कोशकला नामक ग्रंथ में कोशों को मुख्यत: दो वर्गों में बाँटते हुए लिखा है—'यों तो शब्दकोश अनेक प्रकार के होते हैं, पर अर्थ के विचार से वे मुख्यत: दो विभागों में बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे, जिनमें किसी भाषा के शब्दों के अर्थ उसी भाषा में दिये जाते हैं और दूसरे वे जिनमें एक भाषा के शब्दों के अर्थ दूसरी भाषा या भाषाओं में दिये जाते हैं। पहले विभाग वाले कोशों का नाम प्राय: उसी भाषा के नाम पर होता है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों होते है। जैसे—हिन्दी शब्द-सागर, प्रामाणिक हिन्दीकोश, बृहत् हिन्दीकोश आदि। दूसरे विभाग के कोशों के संबंध में कुछ निश्चित नियम-सा है कि शब्द जिस भाषा के होते हैं, उनका नाम पहले और अर्थ या व्याख्या जिस भाषा में होती है, उसका नाम बाद में रखते हैं। जैसे—अँग्रेजी हिन्दी कोश, उर्दू-हिन्दी कोश, मराठी-हिन्दी कोश, हिन्दी-बंगला कोश, हिन्दी-मलयालम कोश आदि।[1]

२. २. २ कोश-प्रकार : डॉ० भोलानाथ तिवारी की दृष्टि में :—

डॉ० तिवारी के अनुसार कोश मुख्यत: ग्यारह प्रकार के होते हैं : (१) पुस्तक कोश, (२) व्यक्ति कोश, (३) भाषाकोश, (४) पारिभाषिक कोश, (५) पर्याय कोश, (६) मुहावरा और लोकोक्ति कोश, (७) बहुभाषाकोश, (८) कथाकोश, (९) जीवनी कोश, (१०) विश्वकोश, (११) उद्धरण कोश आदि।[2]

२. २. ३ कोश प्रकार डॉ० अचलानंद खमोला की दृष्टि में :—

डॉ० जखमोला ने अपने शोध-प्रबन्ध में कोशों के प्रकार या भेदो का वर्णन करते हुए उसे विस्तृत अर्थ में सदर्भग्रंथ माना है और इसी आधार पर वैद्यक कोश, नामकोश, पर्यायिकी (सिनानिमी), शब्दावली (वोकेबुलरी), शब्दार्थी (ग्लास्सेरी), अनुसूची, जीवनी कोश, भौगोलिकी (गजेटियर), पारिभाषिकी, धातुकोश, मुहावरा-कहावत कोश, पदावली फ्रेजियालोजी आदि कोश-प्रकार बतलाये हैं।[3]

डॉ० तिवारी और डॉ० जखमोला—दोनो का वर्गीकरण विषय-वस्तु पर आधारित न होकर, सिद्धान्तरहित एवं अवैज्ञानिक है। डॉ० तिवारी ने कोश के प्रकारों को गिनाते हुए कोश की अध्ययन-पद्धतियों को भी प्रकारों में गिनाकर मात्र वृद्धि की है जो कि कदाचित् असंगतियुक्त है। संक्षिप्ततः कोश-प्रकार को मोटे रूप में इसप्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

---

१. कोशकला, प्रथम संस्करण, पृ० ६।

२. भाषाविज्ञान कोश, प्रथम संस्करण, पृ० १७२-७३।

३. हिन्दी कोश साहित्य, पृ० २।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

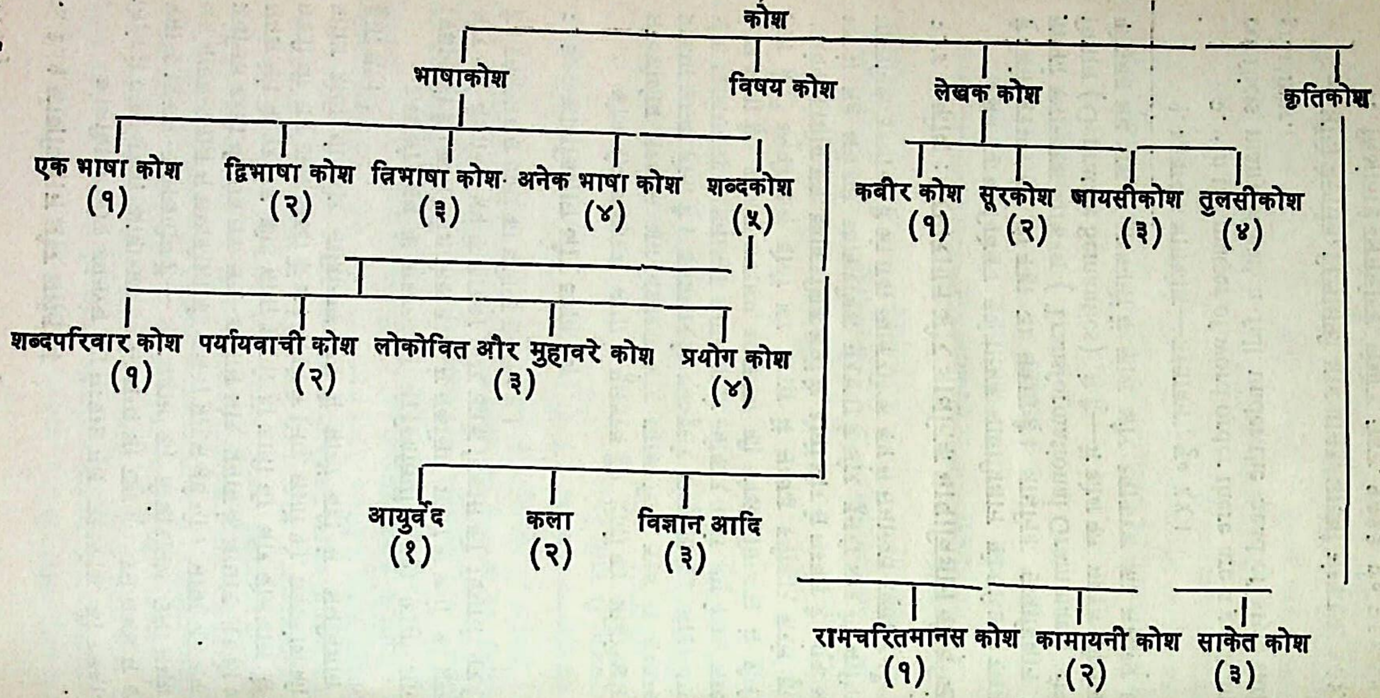

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. ३. १ कोशविज्ञान और अर्थतत्त्व

कोशविज्ञान और अर्थतत्त्व का सम्बन्ध मूल शब्दकोश की रचना-प्रक्रिया की तिथि से सतत अथवा अविच्छिन्नरूप से चला आ रहा है। इस संबंध में बाबू रामचन्द्र वर्मा के विचार उल्लेखनीय हैं—'अर्थविज्ञान का बीजारोपण उसी समय हो चुका था जब मानव-समाज में शब्दकोशों की रचना प्रारंभ हुई थी। भाषा जब तक बोलचाल में प्रचलित रहती थी, तब तक लोक-अभ्यास और प्रयोग के आधार पर ही शब्दों के अर्थ समझ लेते थे, पर जब कोई भाषा पुरानी हो जाती थी और बोलचाल से बहुत दूर जा पड़ती थी तब उसके शब्दों के अर्थ जानने के लिए, लोगों को, शब्दकोश की आवश्यकता प्रतीत होती थी और साहित्यिक क्षेत्र में मानों वहीं से अर्थविज्ञान का आरंभ हुआ था।'[1]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की जो स्थितियाँ हैं वहीं कोशविज्ञान और अर्थविज्ञान की है। कोश, वैज्ञानिक कोश में संकलित शब्दों के अर्थों को प्रस्तुत करता है और अर्थ वैज्ञानिक अर्थ के कारणों और उनके विकास की दिशाओं पर विचार करता है। इसप्रकार से दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

२. ३. २ कोशविज्ञान और व्याकरण

कोश और व्याकरण भाषा के मूलतत्त्व हैं। दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। शब्दकोशीय तत्त्व से अर्थ-निर्धारण और व्याकरणिक तत्त्व से सम्बन्ध-निरूपण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसप्रकार ये एक-दूसरे के पूरक हैं। आटो जेस्पर्सन ने कोश और व्याकरण में संरचनात्मक समानता को स्वीकार करते हुए केवल शब्द-व्यवस्था में भिन्न माना है। कोशीय शब्दरूप, व्याकरण की अपेक्षा, विन्यास में, शैली के सन्निकट होते हैं।[2] ब्लूफील्ड ने दोनों को आपस में सम्बद्ध स्वीकार करते हुए लिखा है—"प्रत्येक कोशीय रूप, व्याकरणिक रूपों से, दोनों ओर से सम्बद्ध है। एक ओर से सारांश रूप में वह अर्थवान् व्याकरणिक संरचना है और दूसरी ओर से भाषिक रूप में वह वास्तविक उच्चारण है जो सदा व्याकरणिक रूप से समन्वित रहता है।[3]

२. ४. ० कोश : परम्परागत और आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि में :—

अब तक का विवेचन वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को दृष्टि में रखकर किया गया है जिसे परम्परागत भी कहा जा सकता है। आधुनिक भाषाविज्ञान जिससे हमारा तात्पर्य रूपान्तरक व्याकरण (Transformational Grammar) और प्रजनक अर्थविज्ञान (Genrative Semantics) से है—में कोश का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। कोशगत अब तक के अध्ययनों में कोश और व्याकरण का सम्बन्ध अत्यल्प रहा

---

१. शब्दार्थक ज्ञानकोश—प्रस्तावना, पृ० ५५।

२. "In the matter of word order there are a great many simil[ar] conflicts, many of which fall under the head of style rather than [of] grammar.

—ऑटो जेस्पर्सन, फिलासफी ऑव ग्रामर, आठवाँ संस्करण, १९५८, पृ० ३४

३. लिओनार्ड ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज, लंदन, १९५३, पृ० २६४-६५।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्णनात्मक भाषाविज्ञान में कोश व्याकरण से अलग हटकर रचा (लिखा) जाता था जिसमें, सामान्यत: अर्थपरक और व्याकरणिक सूचनायें दी जाती थीं। इनके अतिरिक्त शब्दों को ध्वन्यात्मक लिपि (Phonetic Script) में रखा जाता था। अर्थपरक सूचनाएँ (Semantic Information) भिन्न-भिन्न अर्थ (Defrential Meaning) तक ही सीमित रहती थी। आधुनिक भाशा वैज्ञानिक कोश में उपर्युक्त सूचनाएँ अलग ढंग से दी जाती है। आधुनिक भाषाविज्ञान में कोश व्याकरण से हटकर नहीं अपितु व्याकरण का ही आन्तरिक भाग है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रूपान्तरण व्याकरण (T. G. Grammar) का उद्देश्य यह है कि वह मातृभाषा के बोलने वालों के व्याकरणिक रूप के अधिक निकट हो। चूँकि रूपान्तरण व्याकरण (T. G, Grammer) नियमों के रूप में लिखा जाता है अत: यह संभव नहीं है कि भाषा के सारे तथ्य नियम के माध्यम से स्पष्ट किया जा सके। उदाहरणार्थ शब्दों की सूची को नियम के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसी तरह वे भाषिक तत्व जो किसी नियम (वाक्य विन्यासात्मक (Syntactical) या ध्वन्यात्मक (Phonological) के अपवाद हैं उनकी सूचना भी अलग से देनी पड़ती है। इन सबका स्थान रचनान्तरण व्याकरण (T. G.) में कोश (Lexicon) के अन्तर्गत है।

रचनान्तरण व्याकरण (T. G.) के कोश (Lexicon) में मुख्यतया निम्नलिखित सूचनाएँ दी जाती हैं—

२.४.१ : ध्वनितत्व

ध्वन्यात्मक (Phonetic) सूचना को अभिलक्षण (Feature) रूप में दिया जाता है—उदाहरणार्थ 'काल' के लिए ध्वन्यात्मक सूचनाएँ मोटेरूप में इस तरह हो जाती है—

क	आ	ल
— Slabic	+ Slabic	+ Slabic
+ Consonental	— Consonental	+ Consonental
-- Anterior	— Aneterior	+ Aneterior
-- Coronal	— Coronal	+ Coronal
— Continuant	— Continuant	+ Continuant
— Sonorant	+ Sonorant	+ Sonorant
— High	— High	+ High
— Low	+ Low	इत्यादि
इत्यादि	इत्यादि	

यहाँ ध्यातव्य है कि वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की इसमें ध्वनियों के लिए लेबुल न देकर ध्वन्यात्मक अभिलक्षण (Phonetical Feature) का प्रयोग होता है। ये ध्वन्यात्मक अभिलक्षण सार्वभौमिक है।

२.४.२ : वाक्यात्मक कोटियाँ (Syntactic Categories)

शब्द के साथ उसकी वाक्यात्मक कोटियों को दर्शाया जाता है तथा साथ ही साथ आवश्यकतानुसार उसका अर्थ एवं शब्दों के साथ उनका सम्बन्ध भी दर्शाया जाता है जैसे—'काल' के लिए वाक्यात्मक कोटियों के रूप में 'संज्ञा' दर्शाया जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२.४.३ : अर्थ तत्व (Semantic Feature)

ध्वन्यात्मक सूचना की तरह अर्थपरक सूचना भी अभिलक्षण के रूप में ही दी जाती है। उदाहरणार्थ—आदमी शब्द की अर्थपरक सूचना निम्नलिखित अभिलक्षणों (Features) के द्वारा दी जा सकती है—

आदमी
-- Concarete
+ Animate
+ Human
+ Male
इत्यादि

२.४.४ : अपवाद

यदि कोई शब्द किसी नियम का अपवाद है तो उसे 'कोश' में सूचित करना होगा। जैसे हिन्दी में एक सामान्य नियम है कि कर्ता-करणं में बहुवचन के लिए 'एँ' अथवा 'यां' का प्रयोग होता है जैसे 'कन्याएँ', 'लड़कियाँ' 'पुस्तकें' इत्यादि। लेकिन कुछ शब्दों के साथ कर्ताकरण में किसी 'भी बहुवचन—प्रत्यय का योग नहीं होता, जैसे 'बालक' इस शब्द के साथ कोश में बहुवचन की निश्चित सूचना दी जायेगी। इसीप्रकार जिन शब्दों के साथ कोई ध्वनि प्रक्रियात्मक नियम (Phonological Rule) लागू नहीं होता उनके साथ उस ध्वनि प्रक्रियात्मक नियम के अपवाद होने की बात स्पष्ट करनी होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon